

ज्ञानोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—२

सिद्धसेन दिवाकरकृत

सन्मार्गे प्रकरण

गुजरातीमें

प्रस्तावना, अनुवाद और विवेचनके

लेखक

पण्डित सुखलालजी संधवी, डी. लिट्.

पण्डित बचरदास जीवराज दोशी

अनुवादक

अध्यापक शान्तिलाल म. जैन

एम० ए०, शास्त्राचार्य



ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद

मुख्य वितरक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली • वाराणसी • पटना

प्रकाशक

रतिलाल दीपचन्द देसाई

मन्त्री, ज्ञानोदय ट्रस्ट

अनेकान्त विहार (श्रेयस् कॉलोनीके पास)

अहमदाबाद—१

(गुजरात राज्य)



मुख्य वितरक

मोतीलाल बनारसीदास

नेपालीखपरा

वाराणसी (उत्तर प्रदेश)



अन्य प्राप्तिसूची

(१) गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय

गावीमार्ग, अहमदाबाद १

(२) सरस्वती पुस्तक भंडार

हाथीखाना, रतनपोल

अहमदाबाद १



भई १९६३

वैशाख : वि० सं० २०१९



मूल्य : छ. रुपये

मुद्रक

नरेन्द्र भागवत

भागवत भूषण प्रेम,

भायपाट, वाराणसी

प्रकाशकीय निवेदन

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके 'सन्मतितर्क प्रकरण' नामक प्राकृत ग्रन्थकी आचार्य अभयदेवकृत 'वादमहार्णव' नामक संस्कृत टीकाका विस्तृत तुलनात्मक टिप्पणोंके साथ सम्पादन पू० प० श्री सुखलालजी सधवी और पू० पं० श्री बेचरदास दोशीने किया था, जो गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद-द्वारा पाँच भागोंमें प्रकाशित हुआ है।

इन्हीं पंडितद्वयने मिलकर उक्त सम्पादनके लिए गुजरातीमें विस्तृत प्रस्तावना लिखी थी, तथा मूल सन्मति प्रकरणका गुजरातीमें अनुवाद और विवेचन लिखा था, जो 'सन्मति प्रकरण'के नामसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रूपमें गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित हुआ है।

इस गुजराती ग्रन्थकी अद्यावधि दो आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। गुजराती 'सन्मति प्रकरण' की दूसरी आवृत्तिके आधार पर इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद कराकर ज्ञानोदय-ग्रन्थमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमें यह 'सन्मति प्रकरण' ग्रन्थ प्रकाशित करते हमें हर्ष होता है।

इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवादके प्रकाशितके समय श्री प० सुखलालजीने विशेष परिश्रमपूर्वक प्रस्तावनामें उल्लेखनीय सशोधन किये हैं। इस दृष्टिसे प्रस्तुत हिन्दी संस्करणका महत्त्व और बढ़ गया है।

इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान करनेके लिए हम गुजरात विद्यापीठ-अहमदाबादके आभारी हैं।

इस ग्रन्थको वाराणसीमें मुद्रित करनेका सारा प्रबन्ध हमारे मित्र पंडित श्री महेन्द्रकुमारजी जैनने किया है, और इस ग्रन्थका

आकर्षक, स्वच्छ व सुन्दर मुद्रणकार्य भार्गव भूषण प्रेसने किया है, हम उन दोनोंके बहुत कृतज्ञ हैं।

आशा है, जैन दर्शन व तर्कशास्त्रके जिज्ञासुओं और अभ्यासियोंको यह प्रकाशन लाभकारक सिद्ध होगा।

अहमदाबाद }
ता २४-४-१९६३ }

र० दी० देसाई
मंत्री
ज्ञानोदय ट्रस्ट

ज्ञानोदय ट्रस्ट और उसके रथापक

(१)

ज्ञानोदय ट्रस्ट का परिचय

१९५५ ईसवीके दिसम्बरकी ८वीं तारीखको पूज्य पण्डित श्री सुखलालजीको ७५वाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। पण्डितजीकी उत्कट विद्यासाधना, जागरूक जीवन-चर्या और वात्सल्यपूर्ण प्रकृतिके कारण सारे देशमें कई विद्वान्, श्रीमान्, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्ता तथा सामान्य भाई-बहन उनके प्रति श्रद्धा व आदरका भाव रखते हैं। अतः उनके मित्रों, प्रशंसकों और शिष्योंने सोचा कि इस शुभ अवसर पर सारे देशकी ओरसे उनका गौरव एवं सम्मान करना चाहिए, और इसके लिए देशके विभिन्न प्रदेशोंसे कम-से-कम ७५ हजार रुपयोकी निधि एकत्रित करके उन्हें समर्पित करनी चाहिए।

इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिए १९५५के जून महीनेमें “पण्डित सुखलालजी सम्मान समिति”की स्थापना की गई। इस समितिके अध्यक्ष हमारी लोकसभा (Parliament) के तत्कालीन अध्यक्ष माननीय गणेश वासुदेव मावलकर थे, किन्तु उनका स्वर्गवास होने पर तत्कालीन बम्बई राज्यके मुख्य मंत्री माननीय श्री मोरारजीभाई देसाई समितिके अध्यक्ष चुने गये। समितिका मुख्य कार्यालय अहमदावादमें रखा गया और उसकी शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, बनारस, मद्रास, जयपुर, राजकोट आदि शहरोंमें स्थापित की गईं।

समितिने देशभरमेंसे रु० १,०१,१४१-७५ की निधि एकत्रित की और पण्डितजीके गुजराती एवं हिन्दी लेखों तथा निवन्धोंका संग्रह करके गुजरातीमें “दर्शन अने चिन्तन” नामक दो ग्रन्थ और हिन्दीमें “दर्शन और चिन्तन” नामक एक ग्रन्थ इस तरह कुल ढाई हजारसे भी अधिक पृष्ठोंके तीन ग्रन्थ प्रकाशित किये।

१५ जून १९५७को सायकाल ५ बजे बम्बई यूनिवर्सिटीके कॉन्वोकेशन हॉल में भारतके तत्कालीन उपराष्ट्रपति तथा विश्वविश्रुत तत्त्वचिन्तक माननीय डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्की अध्यक्षतामें पण्डितजीके सम्मानका एक भव्य समारोह किया गया। समारोहमें डॉ० राधाकृष्णन्के करकमलोंसे पण्डितजीको पचपन हजार रुपयोकी निधि और “दर्शन-चिन्तन”के तीन ग्रन्थ समर्पित किये गये।

समारोहके पश्चात् एकत्रित हुए पन्द्रह हजार रुपये भी उक्त निधिमें समर्पित करनेके लिए पण्डितजीको अर्पण किये गये ।

इस प्रकार सत्तर हजार रुपये नगद और सम्मान समितिके दाताओंको उपहार-स्वरूप देनेके उपरान्त “दर्शन-चिन्तन”की अवशिष्ट प्रतियोंका मूल्य ग्यारह हजार रुपये गिनकर कुल इक्कासी हजार रुपयेका एक ट्रस्ट पण्डितजीने २१ नवम्बर, १९५७के दिन स्थापित किया । इस ट्रस्टका नाम ‘ज्ञानोदय ट्रस्ट’ रखा गया ।

उद्देश्य

- (१) विद्वानोंको योग्य पारिश्रमिक देकर भारतीय सस्कृति, दर्शन और धर्म विषयक ग्रंथ तैयार करवाना और उन्हें प्रकाशित करना ।
- (२) भारतीय सस्कृति, दर्शन और धर्मके विषयको लेकर आगे अध्ययन करने-वाले छात्रों एवं विद्वानोंको छात्रवृत्ति या प्रवासव्यय (Travelling Fellowship) देना ।
- (३) पण्डित मुखलालजीके ग्रन्थ, लेख और निबन्धोंको एकत्रित करके उनका सम्पादन एवं प्रकाशन करना तथा भिन्न-भिन्न भाषाओंमें उनका अनुवाद करवाना ।
- (४) विद्वानोंको योग्य पारिश्रमिक देकर भारतीय सस्कृति, दर्शन और धर्मसे सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यानोकी आयोजना करना और उन्हें प्रकाशित करना ।
- (५) विश्वका विभिन्न देशोंका सांस्कृतिक समन्वय एवं मानवताके उत्थानमें सहायक होनेवाला मूल या अनूदित साहित्य प्रकाशित करना ।

ट्रस्टीमण्डल

- (१) पण्डित श्री मुखलालजी सक्की, अहमदाबाद
- (२) मुनि श्री जिनविजयजी, ”
- (३) श्री परमानन्दमाई कूँवरजी कापडिया, वस्वई
- (४) श्री चिमनलाल चकूमाई गाह, ”
- (५) श्री प० दलमुखमाई मालवणिया, अहमदाबाद
- (६) श्री भैरमलजी सिन्धी, कलकत्ता

[प्रारम्भमें दो सालसे अविक समयके लिए श्री काकासाहेब कालेलकर भी ट्रस्टी रहे।]

ट्रस्टका पता अनेकान्तविहार (थेयम् कॉलोनीके पास), नवरगपुरा, अहमदाबाद-९ (गुजरात राज्य) ।

(२)

प्रज्ञाचक्षु श्री पण्डित सुखलालजीका परिचय

भारतीय दर्शनोके समर्थ पण्डित और दार्शनिक समन्वयके मौलिक चिन्तक पण्डित श्री सुखलालजीका जन्म ता० ८-१२-१८८० के दिन एक व्यापारी वणिज कुटुम्बमे हुआ था। सौराष्ट्रके झालावाड जिलेका छोटासा लीमली गाँव पण्डितजीका जन्मस्थान है। आपके पिताका नाम सधजीभाई था।

बचपनसे ही बुद्धिशाली पण्डितजी जैसे विद्याभ्यासमे सदैव आगे रहते थे, वैसे ही तैरने, धुडसवारी और धोडेकी पीठपर खडे रहकर सरकसके खिलाडीकी भाँति उसे दौड़ाने आदि साहसिक कार्योंमे भी आगे रहते थे। इतनी विद्वानिष्ठा और साहसप्रियताके साथ-साथ स्वाश्रयप्रियता, आशाकारिता तथा किसीका भी कार्य आनन्दपूर्वक करनेकी तत्परताका विरल सुयोग उनमे था। इसके कारण वे शिक्षकोमे, कुटुम्बीजनोमे एव गाँवमें सबके प्रियपात्र थे।

गुजरातीकी सात कक्षा तक पढाई करनेके बाद उनका मन अग्रेजीका अध्ययन करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होने पर भी पिताजीने ऐसे बुद्धिशाली और गुणवान पुत्रको विद्याके बदले व्यापारमे जोडना योग्य समझा और पण्डितजी दुकान पर बैठने लगे।

परन्तु भाग्य-निर्माण कुछ और ही था। पण्डितजीकी माताका तो चार वर्षकी अवस्थामें ही स्वर्गवास हो चुका था। सगी माताके प्रेमको भी भुलानेवाली नयी माता आई और वह भी चौदह वर्षकी आयु तक पहुँचते-पहुँचते चल बसी। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें उनके विवाहकी तैयारियाँ चल रही थी, परन्तु कन्यापक्षमे कुछ घटना घटित हुई, जिससे विवाह स्थगित रखना पडा। सोलह वर्षकी आयुमे पण्डितजी चेचकके भयकर रोगसे ग्रस्त हुए। इस व्याधिमेंसे वे बड़ी कठिनाईसे बचे, पर उनकी आँखोका तेज सदाके लिए नष्ट हो गया और कुटुम्बकी सारी आशाएँ निराशामे परिणत हो गईं। यह वर्ष था वि० स० १९५३ का।

पण्डितजीके अन्तरमे मानो अन्वकार छा गया, परन्तु धीरे-धीरे उनके मनको विकलता दूर होने लगी। गाँवमे आनेवाले जैन साधु-साध्वी एव दूसरे सन्तोके पाससे जो कुछ जाना-समझा जा सकता था उसे प्राप्त करनेके लिए पण्डितजीने अपना मन उस ओर मोडा। जिसको विद्याताने दगा दिया उसको शास्त्राभ्यासने

जीवनके अमर पायेयका दान किया। 'न दैन्यं न पलायनं' यह पण्डितजीका सार्वनामत्र बन गया।

लगभग सात वर्ष इस प्रकार बीत गये। अब पण्डितजीका मन उच्च विद्या-व्ययनके लिए लालायित रहने लगा। अब उन्हें प्रतिफल ऐसा ही विचार आता कि जहाँ कहीं गम्भीर शास्त्राभ्यास हो सके वहाँ चाहे जितना कष्ट झेलकर भी पहुँचना चाहिए। कष्ट तो प्रगतिका प्रथम सोपान है। इसीलिए 'विपद सन्तु न शक्नुवत्'—अभ्यास का श्रीकृष्णके सामने कुत्ती द्वारा कहलाया गया यह वाक्य पण्डितजी को अत्यन्त प्रिय है।

इस बीच पण्डितजीको कहींसे ज्ञात हुआ कि काशीमें आचार्य श्री विजयधर्म-सूरीस्वरजीने जैन विद्वानोंको तैयार करनेके लिए 'श्री यशोविजयजी जैन सस्कृत पाठशाला' की स्थापना की है। यह जानकर उन्होंने किसी भी तरह काशी पहुँचनेकी मनमें ठान ली और कुटुम्ब द्वारा हजार मना करनेपर भी एक दिन वे काशीके लिए प्रस्थित हुए। वे महारथी कर्णकी भाँति ऐसा ही मानते हैं कि जीवन-विकासके मार्गमें भाग्यने भले ही अवरोध खड़े किये हों, परन्तु पुरुषार्थ द्वारा उन अवरोधोंको पार करना अपने वसकी बात है। 'मदायत तु पौरुषम्' पण्डितजीका जीवनमंत्र है।

काशीमें तीन वर्षमें पण्डितजीने अठारह हजार श्लोक-परिमाण सिद्धहेम-व्याकरण कण्ठस्थ कर लिया, साय-ही-साय न्याय एवं साहित्यका अभ्यास भी गुरु कर दिया। परन्तु वादमें उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि अधिक गहरे अभ्यासके लिए पाठशालाका वातावरण अनुकूल नहीं है, फलतः वे गंगाके किनारे भदैनौ घाट पर एक जैन धर्मशालामें अपने ब्राह्मण मित्र ब्रजलालजीके साथ रहने चले गये। यहाँ आर्थिक कठिनाइयाँ तो बहुत थी और अपनी उत्कट जिज्ञासाको सन्तुष्ट करनेवाले गुरुओंका सुयोग भी सरल नहीं था। कड़े जाड़ेमें या चिलचिलाती धूपमें रोज छ-आठ मील चलकर वे गुरुओंके पास पहुँचते। एक बार तो अमेरिका जानेका भी मनोरथ किया था। ऐसे कठोर और गम्भीर विद्याध्ययनके समय भी गंगाके गहरे और तेज प्रवाहमें स्नान करनेका उन्हें मन हो आता। हाथमें रस्ती वाँचकर और किनारेपर किसीको उसका एक छोर पकड़वाकर वे स्वयं तैरनेका आनन्द लेते। एक बार तो तेज प्रवाहमें वह जानेसे उन्हें उनके मित्र ब्रजलालजीने बड़ी कठिनाईसे बचाया था।

व्याकरण-साहित्यके अध्ययनके बाद लगभग तीन वर्षमें दर्शनशास्त्रका जो अभ्यास काशीमें शक्य था उसे पूर्ण करने पर पण्डितजीका मन नव्यन्यायके अध्ययनार्थ मियिलामें जानेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठा। मियिला है नव्य-न्यायके प्रकाण्ड पण्डितोंका प्रदेश, किन्तु दूसरी ओर वहाँ दरिद्रता भी उतनी ही है।

अपना मुख्य केंद्र काशीमें रखकर पण्डितजी समय-समय पर उस प्रदेशमें जाकर नव्यन्यायका अभ्यास करने लगे। वहाँका जाड़ा और बरसात तो ऐसी है कि उनके सामने मनुष्य को हार खानी पड़ती है। पण्डितजीके पास इस सर्दीसे बचनेके लिए एक था गेरम स्वेटर और एक था जर्जरित कम्बल। स्वेटर उनके गुरुजीको पसन्द आया, इसलिए पण्डितजीने वह उन्हें दे दिया। सर्दीसे बचनेका अब दूसरा कोई साधन न होनेसे नीचे पुआल बिछाकर और ऊपर फटे-पुराने कम्बल पर पुआल डालकर उन्होंने उस कडे जाड़ेका सामना किया।

लगभग तीन वर्षतक पण्डितजी मियिला प्रदेशके तीन गाँवोंमें धूमे। अन्तमें दरभंगामें उनका समागम म०म० पंडित श्री बालकृष्ण मिश्रके साथ हुआ। उनकी पारगामी विद्वत्ता और सहृदयताने पण्डितजीको जिज्ञासाको सन्तुष्ट किया। फिर तो ये गुरु और शिष्य जीवनभरके मित्र बन गये।

इस तरह स्वजन और प्रिय प्रदेशसे दूर रहनेमें नौ वर्ष जितना लम्बा समय बिताकर पण्डितजीने अपना विद्याव्ययन पूरा किया और वे व्याकरण, काव्य, अलंकार, दर्शन एवं धर्मशास्त्रके एक समर्थ विद्वान् तथा दर्शन एवं तत्त्वज्ञानके एक पारगामी पण्डित बन गये। मानो जन्मसे वैश्य पण्डितजी कर्मसे ब्राह्मण बन गये। पर द्विजत्वका यह संस्कार कितना कष्टसाध्य था! उस समय उनकी आयु वत्तीस वर्षकी थी।

इस सारे समयमें पण्डितजीने केवल संस्कृत अध्ययन ही किया हो ऐसा नहीं है, बगमगसे शुरू हुए राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वातंत्र्ययुद्धकी सभी अवस्थाओंसे तथा देशकी सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओंसे वे पूर्ण परिचित रहते थे। इस तरह उनके मानसका सर्वांगीण विकास होता रहा।

उसके पश्चात् कई वर्ष आगरामें रहकर साहित्य-निर्माण और आवश्यकता होनेपर अन्यत्र जाकर जैन साधुओंको पढ़ानेका कार्य भी उन्होंने किया। इसके बाद तो उनके बहुमुखी पाण्डित्य और खास करके दार्शनिक विद्वत्तासे प्रेरित होकर १९२१ ईसवीमें महात्मा गांधीने उन्हें गुजरात विद्यापीठके पुरातत्त्व मन्दिरमें भारतीय दर्शनोके अध्यापकके पदपर नियुक्त किया। वहाँ नौ-दस वर्षके कार्य-कालमें गांधीजीके सम्पर्कने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। इस अवधिमें पण्डितवर्य श्री वेचरदासजीके सहयोगसे उन्होंने जैन-न्यायके एक प्राचीन और आकर ग्रन्थ 'सन्मतितर्क'का ऐसा संपादन किया कि जिससे उनकी विद्वत्ता देश-विदेशमें फैल गई।

ई० १९३० में राष्ट्रीय स्वातंत्र्यका अहिंसक युद्ध शुरू हुआ। उसके परिणाम-

स्वरूप विद्यापीठ बन्द हो गया। पण्डितजी डेढ़-दो साल के लिए शान्तिनिकेतन चले गये और वहाँ रहकर उन्होंने अंग्रेजी भाषाका ज्ञान प्राप्त किया।

ई० १९३३ से १९४३ के अन्ततक पण्डितजीने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके अध्यापकके रूपमें कार्य किया। इस कालमें उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन-लेखन किया तथा अनेक चेतन-ग्रन्थ (विद्वान्) भी तैयार किये।

ई० १९४४से पण्डितजी निवृत्त हुए। उसके पश्चात् वे यद्यपि किसी भी सस्यामें बँधकर नहीं रहे, फिर भी उनकी यह निवृत्ति अखण्ड विद्यासाधनाकी प्रवृत्तिसे परिपूर्ण रही है। १९४७की सालसे पण्डितजी अहमदाबादमें ही रहते हैं।

पण्डितजीके सामाजिक और धार्मिक विचार सर्वदा प्रगतिशील और क्रान्ति-वारी रहे हैं। अज्ञान, अन्धश्रद्धा और साम्प्रदायिक सकुचितताकी वे हमेशा कड़ी आलोचना करते हैं। मानव-मात्रकी तथा स्त्री-पुरुषकी समानता ही पण्डितजीका सामाजिक आदर्श रहा है। दार्शनिक क्षेत्रमें तुलनात्मक समन्वयकारी विवेचना उनके दार्शनिक विचारोंकी विशेषता है। विचार कोई भी हो, ऐतिहासिकदृष्टिसे उसे परखना और सारासारका विवेक करना यह उनकी अपनी विचारवाराकी चावी है।

राष्ट्रीय प्रश्नोंमें पण्डितजी सदा सजीव रस लेते रहते हैं। गांधीजीकी अहिंसा और रचनात्मक दृष्टिसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। आश्रम-जीवनका अनुभव लेनेके लिए उन्होंने गांधीजीके साथ चक्की पीसनेका भी सुअवसर प्राप्त किया है।

सत्यशोधन पण्डितजीकी अखण्ड विद्योपासनाकी नींव है। कुछ भी लिखते समय 'नामूल लिख्यते किञ्चित्' के आदर्शका वे दृढतापूर्वक पालन करते हैं। सतत जाग्रत जिज्ञासा और पुरुषार्थपरायणता पण्डितजीके उल्लासपूर्ण जीवनकी कुजी है। भारतके भिन्न-भिन्न दर्शनोके बीच विरोधका परिहार करके समन्वयकी स्थापना करना पण्डितजीकी विद्वत्ताका अद्वितीय अर्पण है।

सादा, स्वाधीन और मितव्ययी जीवन पण्डितजीका जीवन-आदर्श है। अपना भार दूसरे किसी पर न पड़े इसके लिए पण्डितजी सदा जागरूक रहते हैं और चाहे जैसी कठिनाईमें भी अपने चित्तकी प्रसन्नता कायम रखते हैं। खान-पान, वाचन-लेखन और धूमने-फिरनेमें वे सदा नियमित रहते हैं। पण्डितजी सही अर्थमें जीवनदृष्टिके कलाकार हैं।

जीवनको असार कहकर उसे तुच्छ मानना पण्डितजीको कभी पसन्द नहीं आता। उनकी जीवन-दृष्टि सर्वदा मागत्यपूर्ण रही है और इस मागत्यमय दृष्टिने ही उनके जीवनको भगलमय, आनन्दमय और तेजस्वी बनाया है।

पण्डित सुखलालजीकी साहित्यसाधना

आगमिक

(१) आत्मानुशास्तिकुलक मूल प्राकृत, गुजराती अनुवाद ।

(२-५) कर्मग्रन्थ १ से ४ देवेन्द्रसूरि कृत, मूल प्राकृत, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना, परिशिष्टयुक्त ।

(६) दंडक पूर्वाचार्यकृत प्राकृत जैन प्रकरण ग्रंथका हिन्दी सार ।

(७) पंच प्रतिक्रमण जैन आचार-विषयक ग्रन्थ, मूल प्राकृत, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना युक्त ।

(८) जैन दृष्टिऽ ब्रह्मचर्य विचार गुजरातीमे, पण्डित बेचरदासजीके सहयोगसे ।

(९) तत्त्वार्थसूत्र उमास्वाति वाचककृत सस्कृत, सार, विवेचन, विस्तृत प्रस्तावना युक्त, गुजराती और हिन्दीमे ।

(१०) निर्ग्रय संप्रदाय महत्त्वपूर्ण प्राचीन तथ्योका ऐतिहासिक निरूपण, हिन्दीमें ।

(११) चार तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर सबकी लेखोका संग्रह, हिन्दी तथा गुजरातीमे ।

दार्शनिक

(१२) सन्मतितर्क मूल प्राकृत सिद्धसेन दिवाकरकृत, टीका (सस्कृत) श्री अभयदेवसूरिकृत, पाँच भाग । छठा भाग मूल और गुजराती सार, विवेचन तथा प्रस्तावना सहित, ५० बेचरदासजीके सहयोगसे । (इसका अंग्रेजी तथा प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है ।)

(१३) न्यायावतार सिद्धसेन दिवाकरकृत, मूल सस्कृत, गुजराती अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावनायुक्त ।

(१४) प्रमाणमीमांसा हेमचन्द्राचार्यकृत, मूल सस्कृत, विस्तृत-तुलनात्मक हिन्दी प्रस्तावना तथा टिप्पणयुक्त ।

(१५) जैनतर्कभाषा उपाध्याय यशोविजयजीकृत, मूल सस्कृत, सस्कृत टिप्पणयुक्त, हिन्दी प्रस्तावना ।

(१६) हेतुबिन्दु धर्मकीर्ति कृत बौद्ध न्यायका सस्कृत ग्रन्थ, टीकाकार अर्चट, अनुटीकाकार दुर्वेक मिश्र, अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त ।

(१७) ज्ञानिवन्दु उपाध्याय यशोविजयजी कृत, मूल संस्कृत, हिन्दी प्रस्तावना तथा संस्कृत टिप्पणयुक्त ।

(१८) तत्त्वोपल्लवसिंह जयरामि कृत, चार्वाक परम्पराका संस्कृत ग्रन्थ, अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त ।

(१९) वेदवादद्वार्त्रिणिका सिद्धसेन दिवाकरकृत, संस्कृत, उपनिषदोंके साथ तुलना, सार, विवेचन, प्रस्तावना, गुजराती एवं हिन्दीमें ।

(२०) अध्यात्मविचारणा गुजरात विद्यासभाकी 'श्री पोपटलाल हेमचन्द्र' अध्यात्म व्याख्यानमालाके अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा और सार्वनाके संवधमें दिये गये तीन व्याख्यान, गुजराती तथा हिन्दीमें ।

(२१) भारतीय तत्त्वविद्या महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदाके तत्त्वावधानमें महाराजा सयाजीराव ऑनरेरियम लेक्चर्सके अन्तर्गत जगत्, जीव और ईश्वरके संवधमें दिये गये पाँच व्याख्यान, गुजराती तथा हिन्दीमें । (इनका अंग्रेजी अनुवाद भी तैयार हो रहा है ।)

योग

(२२) योगदर्शन मूल पातजल योगसूत्र, वृत्ति उपाध्याय यशोविजयजी कृत, तथा श्री हरिमद्रसूरि कृत प्राकृत योगविशिका मूल, टीका (संस्कृत) उपाध्याय यशोविजयजी कृत, हिन्दी सार, विवेचन तथा प्रस्तावनायुक्त ।

(२३) आध्यात्मिक विकासक्रम गुणस्थानके तुलनात्मक अध्ययन संवधी तीन लेख ।

(२४) समदर्शी आचार्य हरिमद्र वम्बई यूनिवर्सिटीमें ठंकार वसनजी माधवजी व्याख्यानमालामें दिये गये पाँच व्याख्यान, गुजराती तथा हिन्दी में ।

(२५) जैनधर्मनो प्राण जैनदर्शन, धर्म, संस्कृति विषयक लेखोंका संग्रह गुजराती तथा हिन्दीमें ।

प्रकीर्ण

(२६) धर्म और समाज लेखोंका संग्रह ।

(२७) दर्शन अने चिन्तन भाग १-२ दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विषयोंके गुजराती लेखों व निबन्धोंका संग्रह ।

(२८) दर्शन और चिन्तन दार्शनिक, धार्मिक आदि विषयोंके हिन्दी लेखों एवं निबन्धोंका संग्रह ।

निवेदन

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरकृत प्राकृत सन्मतिर्तक प्रकरण तथा उसकी आचार्य अभयदेवकृत संस्कृत टीकाका संपादन-प्रकाशन समाप्त करनेके बाद सन्मति-तर्ककी गाथाओंका विवेचन सहित गुजराती अनुवाद विस्तृत प्रस्तावनाके साथ गुजरात विद्यापीठ द्वारा ई० १९३२ में प्रकाशित हुआ। इसीके आधार पर उसका अंग्रेजी संस्करण भी ई० १९४० में इवेताम्बर जैन कान्फ्रेंस द्वारा प्रकाशित हुआ। जबत अंग्रेजी संस्करणमें एकाध स्थानों पर प्रस्तावनामें वृद्धि की गई थी। शेषांश वैसा ही था। 'सन्मति प्रकरण'की गुजराती द्वितीय आवृत्ति ई० १९५२ में हुई। उस समय प्रस्तावनामें कुछ संशोधन किया गया और अनुवाद-विवरणमें भी कुछ संशोधन हुआ। उसी दूसरी आवृत्तिके आधारसे प्रस्तुत 'सन्मति प्रकरण' हिन्दीमें अनूदित होकर प्रकाशित किया जा रहा है।

इस हिन्दी अनुवादके समय जहाँ कहीं अशुद्धि या अस्पष्टता मालूम हुई उसे दूर किया गया है तथा मूल प्राकृत गाथाओंके अनुवाद या विवेचनमें जहाँ कहीं परिवर्तन या परिवर्धनकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ वैसा किया गया है। इसके लिए जिज्ञासुओंको सन्मति १.३०; २.२२; २.२३; २.२४; २.२६; २.२७; २.२८; ३.१; ३.२; ३.३ इत्यादि गाथाओंका अनुवाद और विवेचन देखना चाहिए।

गुजराती प्रस्तावनाका वह अंश (पृ० १ से ५५) जिसमें 'प्रति परिचय' दिया गया है, हिन्दीमें छोड़ दिया गया है। उसमें प्राकृत-संस्कृत मूल-टीका ग्रंथके संपादनमें उपयुक्त अनेक हस्तप्रतियोंका विवेचन किया गया है। उस अंशको छोड़ देनेपर भी प्रस्तुत ग्रन्थमें अपूर्णता मालूम नहीं होगी।

इस हिन्दी संस्करणकी प्रस्तावनामें पर्याप्त मात्रामें संशोधन किया गया है और नई सामग्री दी गई है। प्रस्तावनामें संशोधन इसलिए आवश्यक था कि एक तो वह ई० १९३२ में लिखी गई, उसके बाद उसका समग्र रूप से संशोधन करनेका योग्य अवसर मिला नहीं था और इस बीच जो नये-नये संशोधन हुए, उसके प्रकाशमें प्रस्तावनाको संशोधित करना आवश्यक था। विशेषतः इसलिए भी आवश्यक था कि बाबू जुगलकिशोरजी मुस्तारने ई० १९४९ में 'अनेकान्त' मासिकका जो 'सिद्धसेनाक' नामक विशेषांक प्रकाशित किया था। उसमें बहुतसे ऐसे मन्तव्य

य जो प्रस्तावनागत मेरे' मन्तव्योसे विपरीत थे । ऐतिहासिक दृष्टिसंपन्न तथा असाम्प्रदायिक वृत्तिवाले श्री पं० नाथूराम प्रेमी पुनः-पुनः यह कह रहे थे कि मुझे उनका उत्तर देना ही चाहिए; किन्तु मैं अपने अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेके कारण उस विशेषांकको पूरा पढ़ भी नहीं सका था । जब हिन्दीमें प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया तब श्री जुगलकिशोरजीने सिद्धसेन, उनका समय, उनके ग्रन्थ, उनका संप्रदाय आदिके विषयमें जो आपत्तियाँ खड़ी की थीं, उनपर विचार करना अनिवार्य हो गया ।

अतएव प्रस्तावनामें मैंने यत्रतत्र-जहाँ कहीं नये प्रकाशमें संशोधन जरूरी था वह कर दिया है, जैसे कि गु० पृ० ५७ और हिन्दी पृ० २ की टिप्पणी १; गु० पृ० ५९ और हिन्दी पृ० ४ की टिप्पणी १; गु० पृ० ६८ और हिन्दी पृ० ११ की टिप्पणी ४; गु० पृ० ७१ और हिन्दी पृ० १४ की टिप्पणी १; गु० पृ० ७३ और हिन्दी पृ० १५ की दूसरी कड़िका; गु० पृ० १०३ का 'कुंदकुंद अने उमास्वाति' वाला प्रकरण हिन्दी पृ० ३९ में संशोधित है; गु० ११३ में जहाँ समन्तभद्रका विचार पूरा हुआ है वहाँ हिन्दी पृ० ४७ में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनके पौर्वापर्यके विषयमें नये विचार जोड़े गये हैं; गु० पृ० ११५ की प्रथम कड़िका हिन्दी पृ० ४९ में संशोधित है; गु० पृ० १२४ हिन्दी पृ० ५७ की टिप्पणी १; गु० पृ० १२६ और हिन्दी पृ० ५९ की टिप्पणी १; गु० पृ० १६२ और हिन्दी पृ० ८७; गु० पृ० १८० पंक्ति ३ के बाद हिन्दी पृ० १०१ में नया जोड़ा गया है; हिन्दी पृ० १०९ की टिप्पणी २; हिन्दी पृ० १११ कड़िका १ के अन्तमें नया जोड़ा है । इत्यादि ।

इसके अलावा प्रस्तावनाके अन्तमें (पृ० ११४-१२४) 'संपूर्ति' के रूपमें बाबू जुगलकिशोरजीकी आपत्तियोंके विषयमें विचार किया है । तथा ग्रन्थके अन्तमें (पृ० १०५) सप्तभंगीके विषयमें एक नया परिशिष्ट जोड़ा है ।

सम्मतितर्कके गुजराती विवेचनका अंग्रेजी अनुवाद, गुजराती विवेचनकी दूसरी आवृत्ति तथा इस हिन्दी अनुवादके प्रकाशनमें मैंने यथाशक्ति जो संशोधन किया है उसमें बहुश्रुत पं० दलमुख मालवणियाका मुख्य रूपसे सहकार मिला है । प्रस्तुत हिन्दी आवृत्तिके समय अधिक मात्रामें संशोधन करना पड़ा है और उसमें भी विशेषतः पद्योद्ध पं० मुस्तारजीके अति विस्तृत लेखका यथासंभव संक्षिप्त किन्तु प्रमाणवद्ध उत्तर देना जरूरी था जो सम्पूर्ति रूपमें दिया गया है । इस कार्यमें पं० मालवणियाने लगनसे मुझे सहकार दिया है, उसको मैं भूल नहीं सकता ।

गुजरातीसे हिन्दी अनुवाद करनेमें श्री प्रो० शान्तिलाल जैनने जो परिश्रम उठाया वह प्रशंसनीय है। मूल गुजराती ई० १९३२ में प्रकाशित हुआ और उसके तीस वर्ष बाद जो यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है उसमें मैं स्वयं संशोधन कर सका यह मेरे लिए आनन्दका विषय है। जिज्ञासुओंको इससे कुछ लाभ होगा तो मेरा श्रम सफल होगा।

अनेकांत विहार

अहमदाबाद

सुखलाल संधवी

ता० २९-१२-६२

✓

1

2

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

१, मूलकारका परिचय

१-६९

- | | | | |
|------------------|-----|-----|----|
| (१) समय | ... | ... | १ |
| (२) जीवन-सामग्री | ... | ... | १६ |

१ प्रभावकचरित्रगत प्रबन्धका सार १७, २ प्रबन्धोमे वर्णित घटनाओमें कभी-बेशी २५, ३ विचारणीय मुद्दे और उनकी चर्चा २७।

- | | | | |
|----------------------------|-----|-----|----|
| (३) सिद्धसेन और इतर आचार्य | ... | ... | ३९ |
|----------------------------|-----|-----|----|

१ उमास्वाति और कुन्दकुन्द ३९, २ पूज्यपाद और समतभद्र ४२, ३ वट्टकेर मूलाचार ४८, ४ मल्लवादी और जिनमद्र ४८, ५ सिंहगणी क्षमाश्रमण, हरिमद्र और गन्धहस्ती ५७, ६ अकलक, वीरसेन और विद्यानन्दी ५८, ७ शोलाक, वादिवेताल शान्तिसूरि और वादिदेव ६१, ८ हेमचन्द्र और यशोविजय ६१।

- | | | | |
|-------------------------------|-----|-----|----|
| (४) सिद्धसेन और जैनेतर आचार्य | ... | ... | ६३ |
|-------------------------------|-----|-----|----|

१ नागार्जुन, मैत्रेय, असग और वसुवन्धु ६३, २ अश्वघोष और कालिदास ६५, ३ दिङ्नाग और शंकरस्वामी ६६, ४. धर्मकीर्ति और भामह ६७।

२, टीकाकारका परिचय

६६

- | | | | |
|---------------------------------------|-----|-----|----|
| (१) प्रशस्तियोंके अनुसार शिष्य परिवार | ... | ... | ७३ |
|---------------------------------------|-----|-----|----|

३, मूल और टीकाग्रन्थका परिचय

७३

- | | | | |
|--------------------|-----|-----|----|
| (१) शाब्दिक स्वरूप | ... | ... | ७६ |
|--------------------|-----|-----|----|

१ नाम ७६, २ भाषा ७८, ३ रचनाशैली ८०, ४ परिमाण ८०, ५ विभाग ८१

- | | | | |
|-------------------|-----|-----|----|
| (२) आर्थिक स्वरूप | ... | ... | ७६ |
|-------------------|-----|-----|----|

१ अनेकान्त ८४, स्वरूप-व्याख्या ८४, -ऐतिहासिक

विकास ८४, २ तुलना ८६; ३ सवधी विषय ८८,—फलित
वाद ८८, —दर्शन-ज्ञानमीमासा ९१,—अनेकान्तकी खूबी और
एकान्तकी खामी ९३

४, बत्तीसियोंका परिचय

९५

(१) स्तुत्यात्मक	...	...	१००
(२) समीक्षात्मक	...	...	१०६
(३) दार्शनिक और वर्णनात्मक	...	...	१०८

५, सम्पूर्ति

११४

(१) सिद्धसेनका समय और उनका सम्मतितर्क	...	...	११४
(२) सम्मतितर्क रचनाका आधार	...	...	११६
(३) निर्युक्तिकार और क्रमवाद	...	...	११८
(४) सिद्धसेन और उनकी परिस्थिति	...	...	१२०
(५) समन्तभद्र	...	...	१२३

सम्पत्ति-प्रकरण

१. प्रथम काण्ड

१-३२

१ असाधारण गुणोंके कथन द्वारा शासनका स्तुतिमगल	१
२ उद्देश्य बतानेके साथ-साथ प्रकरण रचनेकी प्रतिज्ञा	१
३ प्रकरणके प्रतिपाद्य मुख्य विषयका निर्देश	२
४ द्रव्याधिक नयके भेद	३
५ ऋजुसूत्रके भेद	३
६ निक्षेपोमें नययोजना	४
७ दोनो नयोंका विषय एक-दूसरेसे भिन्न नहीं है ऐसी चर्चाका उपक्रम । वचन-प्रकारोंमें नययोजना	६
८ एक नयके विषयमें दूसरे नयके प्रवेशका स्वरूप	७
९ दोनो नयोंके विषयोंकी मिश्रितताकी चर्चाका उपसंहार	७
१० दोनो नय एक-दूसरेके विषयको कैसे देखते हैं इसका कथन	८
११. दोनो नय एक ही वस्तुके किन-किन भिन्न रूपोंका स्पर्श करते हैं इसका कथन	८
१२ सत् अर्थात् सम्पूर्ण सत्का लक्षण	९

१३	दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि कैसे बनते हैं इसका स्पष्टीकरण	९
१४	दोनों नयोमे यथार्थता कैसे आती है इसका स्पष्टीकरण	१०
१५	मूल नयोके साथ उत्तर नयोकी समानताका कथन	११
१६	उत्तर नयोमे सम्पूर्ण सद्ग्राही कोई एक नय नहीं है ऐसा पुन कथन	११
१७	किसी भी एक नयोके पक्षमे ससार, मुख-दुःखसम्बन्ध एव मोक्ष नहीं घट सकते ऐसा कथन	१२
१८	ये ही नय कभी सम्यग्दृष्टि नहीं होते और कभी होते हैं, इसके कारणका दृष्टान्तके द्वारा समर्थन	१३
१९	दृष्टान्त देनेकी सार्यकता सिद्ध करनेके लिए उसके गुणोंका कथन	१४
२०	सापेक्षता न हो तो मिथ्यादृष्टि ही है इस बातका कतिपय प्रसिद्ध वादों द्वारा स्पष्टीकरण	१५
२१	अनेकान्तज्ञ मर्यादा और उसकी व्यवस्था कैसे करे इसका कथन	१६
२२	दोनों मूल नयोकी विषयमर्यादा	१६
२३	भेदका विशेष वर्णन	१७
२४	एक ही द्रव्य अनेक कैसे बनता है इसका स्पष्टीकरण	१८
२५	व्यजनपर्यायिका उदाहरण	१८
२६	व्यजनपर्यायिमें एकान्त अमिश्रता मानने पर क्या दोष आता है इसका कथन	१९
२७	प्रस्तुत उदाहरणमें व्यजनपर्यायि और अर्थपर्यायिका स्पष्ट रूपसे पृथक्करण	१९
२८	एकान्त मान्यतावालेमें अशास्त्रज्ञत्वके दोषका कथन	२०
२९	सात भगोंका स्वरूप	२०
३०	अर्थपर्यायि और व्यजनपर्यायिमे सात भगोंका विभाजन	२३
३१	केवल पर्यायार्थिक नयकी देशना पूर्ण नहीं है ऐसा कथन	२४
३२	केवल द्रव्यार्थिक नयकी देशनाका जो वक्तव्य है उसका युक्ति द्वारा कथन	२४
३३	वस्तुतः पुरुष कैसे स्वरूपवाला है इसका कथन और उसके द्वारा जीवके स्वरूपका निश्चय	२६
३४	जीव एव पुद्गलके कथंचित् भेदाभेदका समर्थन	२७

३५ जीव और पुद्गल द्रव्यकी ओतप्रोतताके कारण कैसे-कैसे शास्त्रीय व्यवहार होते हैं इसका कथन .	२९
३६ अमुक तत्त्व बाह्य है और अमुक आन्तरिक है ऐसे विभागके वारेमें स्पष्टीकरण .	२९
३७ प्रत्येक नयकी देशनाके अनुसार क्या-क्या फलित होता है उसका कथन	३०
३८ जैन दृष्टिसे देशना कैसी है इसका कथन .	३१
३९ जैन दृष्टिकी देशनामें अपवादको भी स्थान है इसका कथन . .	३२

२. द्वितीय काण्ड ... ३३-५७

१ दर्शन और ज्ञानका पृथक्करण . .	३३
२ एक ही विषयके वारेमें दर्शनकालमें तथा ज्ञानकालमें क्या- क्या अन्तर होता है इसका कथन	३३
३ दर्शन और ज्ञानके समयभेदकी मर्यादाका कथन .	३४
४ समालोचनाके लिए आगमिक क्रमवादी-पक्षका उल्लेख	३५
५ समालोचनाके लिए सहवादी-पक्षका उल्लेख	३७
६ विरोधी पक्षको प्रग्न पूछकर सिद्धान्तका उपन्यास	३८
७ विरोधी पक्षके ऊपर सिद्धान्ती द्वारा दिये गये दोष . .	३९
८ क्रमवादी पक्षद्वारा किया गया बचाव और उसका सिद्धान्ती द्वारा दिया गया उत्तर . .	४१
९ पूर्वोक्त दृष्टान्तका विशदीकरण और उपसंहार .	४२
१० आगम विरोधका परिहार	४३
११ अपने पक्षमें आनेवाली शकाका सिद्धान्ती द्वारा समाधान	४३
१२ एक होने पर भी भिन्न कहनेका दूसरा कारण	४४
१३ एकदेशीय मतका वर्णन	४४
१४ एकदेशीके द्वारा दिये गये दृष्टान्तकी समालोचना .	४६
१५ सिद्धान्तीका स्पष्टीकरण	४७
१६ अतिप्रसङ्गका निवारण	४८
१७ की गई व्यवस्थाका विशेष स्पष्टीकरण .	४९
१८ श्रुतज्ञान दर्शन क्यों नहीं कहा जा सकता ? इस शकाका उत्तर	४९
१९ अवधिदर्शनकी मर्यादा	५०
२० एक ही केवलोपयोगमें ज्ञान-दर्शन शब्दकी उपपत्ति .	५०

२१. शास्त्रमे आनेवाले विरोधका परिहार	५०
२२. श्रद्धाके अर्थमे प्रयुक्त दर्शन शब्दका स्पष्टीकरण	५१
२३. सादि-अपर्यवसित शब्दमे हुई किसीकी आन्तिका उल्लेख और उसका निवारण	५२
२४. जीव और केवलके भेदकी आशका और उसका दृष्टान्त-पूर्वक निरसन	५४
२५. अभिन्न पर्यायीकी भिन्नताका उपपादन	५७

३. तृतीय काण्ड

... ५८-१०३

१. सामान्य और विशेष इन दोनोंके परस्पर अभेदका समर्थन	५८
२. प्रतीत्यवचन किसे कहते हैं और किसलिए ?	५९
३. एक वस्तुमे अस्तित्व और नास्तित्वकी उपपत्ति	६०
४. एक ही पुरुषमे भेदाभेदकी व्यवस्था	६२
५. द्रव्य और गुणके भेदका पूर्वपक्षके रूपमे निर्देश	६३
६. द्रव्य और गुणके भेदके निरासके प्रसंगमे गुण और पर्यायिके अभेदकी चर्चा	६३
७. द्रव्य और गुणके एकान्त अभेदवादीका ही विशेष कथन	६७
८. सिद्धान्तिकी कथन	६७
९. एकान्त अभेदवादीका वचाव	६८
१०. सिद्धान्तिकी कथन	६८
११. एकान्त अभेदवादीका प्रश्न और उसका सिद्धान्तिकी द्वारा दिया गया उत्तर	६८
१२. किसी भेदवादी द्वारा किये गये द्रव्य और गुणके लक्षणकी तथा उसके भेदवादकी समालोचना	७१
१३. प्रस्तुत चर्चाका प्रयोजन	७२
१४. अनेकान्तकी व्यापकता	७३
१५. प्रमेयको लेकर अनेकान्त दृष्टि लागू करनेके कतिपय दृष्टान्त	७५
१६. द्रव्यगत उत्पाद एवं नाशके प्रकार	७७
१७. उत्पाद और विनाशका विशेष स्वरूप	७८
१८. उत्पत्ति, नाश और स्थितिके कालभेद आदिकी चर्चा	८०
१९. वैशेषिक आदि सम्मत द्रव्योत्पादकी प्रक्रियाकी चर्चा	८३
२०. श्रद्धा और बुद्धिप्रधान आगमका पृथक्करण	८६

२१ नयवादकी चर्चा	...	८९
२२ कार्यके स्वरूपके बारेमे एकान्त और अनेकान्त दृष्टिका अन्तर		९२
२३ कारण-विषयक वादोका एकान्तके कारण मिथ्यात्व और अनेकान्तके कारण सम्यक्त्व	.	९४
२४ आत्माके बारेमे नास्तित्व आदि छ पक्षोका मिथ्यात्व और अस्तित्व आदि छ पक्षोका सम्यक्त्व	.	९५
२५ वादमे अनेकान्तदृष्टिके अभावसे आनेवाले दोष		९६
२६ तत्त्वप्ररूपणाकी योग्य रीतिका कथन		९८
२७ केवल एक-एक नयाश्रित सूत्रमें सम्पूर्ण सूत्रत्वकी मान्यतासे आनेवाले दोष	.	९९
२८ शास्त्र प्ररूपणाके अधिकारी होनेके लिए आवश्यक गुण	.	९९
२९ तत्त्वोके पूर्ण और निश्चित ज्ञानके लिए क्या करना चाहिए इसका कथन		१००
३० गम्भीर चिन्तन-विहीन वाह्य आडम्बरमे आनेवाले दोषोका कथन	.	१००
३१ अकेले ज्ञान और अकेली क्रियाकी अनुपयोगिताका कथन		१०१
३२ उपसंहारमे जिनवचनकी कुशलकामना		१०२
४. परिशिष्ट		१०५-११४
१ भगोका इतिहास १०५, २ अवक्तव्यका स्थान; ३ स्याद्वादके भगोकी विशेषता १११।		
५. प्रस्तावनाकी शब्दसूची	...	१
६. सन्मति प्रकरणकी शब्दसूची	...	१५

सन्मति प्रकरण
की
प्रस्तावना।

प्रस्तावना

१

मूलकारका परिचय

सन्मतितर्क मूलके कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। सिद्धसेन नामके अनेक आचार्य नन्परम्परामें हुए हैं। उन सबमें जो 'दिवाकर'के उपनामसे प्रख्यात हैं, वही सिद्धसेन सन्मतितर्क मूलके कर्ता हैं। दिवाकरसे पहले सिद्धसेन नामके कोई आचार्य श्वेताम्बर या दिगम्बर-सम्प्रदायमें हुए हैं, ऐसा अभीतक निश्चित रूपसे ज्ञात नहीं हुआ है।

१. समय

सिद्धसेन दिवाकर कव हुए, इसके सुनिश्चित एव निर्विवाद कहा जा सके, इतने साधन अबतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। उनका समय निश्चित करनेके लिए हमारे पास इस समय इतने साधन हैं (१) उनकी कृतियाँ, (२) जैन-परम्परा, जिसमें अनेक कथानकोका समावेश होता है, तथा (३) निश्चित समयवाले लेखको द्वारा किये गये उल्लेख।

अन्तिम साधनको हम सर्वप्रथम उपयोग करे। विक्रमकी आठवीं शताब्दी-के उत्तरार्धमें होनेवाले आ० हरिमद्रने पञ्चवस्तु मूल एव टीकामें 'सम्मई' अथवा 'सन्मति'का उल्लेख किया है और उसके कर्ताके रूपमें सिद्धसेन दिवाकरका नाम लिया है, इतना ही नहीं, वह उनका श्रुतकेवली जैसे असाधारण विशेषण द्वारा निर्देश भी करते हैं। जैसे कि

भण्णइ एगतेण अम्हाण कम्मवाय णो इट्ठो ।

ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणिअ ॥ १०४७ ॥

आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठअजसेण ।

दूसमणिसादिवागरकप्पत्तणओ तदक्खेण ॥ १०४८ ॥

१. जैन-ग्रन्थावली पृष्ठ ५४, ७५, ७९, ९४, १२७, १३८, २७३, (ती) हि २७७, २८१, २८९, २९२ ।
यमपि प्रकारो

२. देखो 'जैन साहित्य संशोधक' भाग १, पृष्ठ ५३ तथा

प्रस्तावना पृष्ठ २ ।

—दशाचूणि पृ० १६.

उल्लेखके ढगसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी प्राचीन प्रतिष्ठा-
आचार्यका उल्लेख कर रहे हैं। इससे सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी आठवीं
शताब्दीके पूर्वार्धसे पहले माननेमें कोई अन्तराय नहीं आता।

जैन-आगमोंके ऊपर चूर्णि नामकी प्रसिद्ध प्राकृत टीकाएँ हैं। इनका सामान्य
रूपसे विक्रमकी चौथी शताब्दीसे आठवीं शताब्दीतकका है। चूर्णियों
में एक निशीथसूत्रपर भी चूर्णि है। वह अनेक चूर्णियोंके रचयिता जिनदासगण
महत्तरकी कृति है। इन्होंने नन्दीसूत्रकी भी चूर्णि लिखी है। उस चूर्णिकी
प्राचीन विश्वसनीय प्रतिके अन्तमें उसका रचना-समय शक सं ५९८ (वि० सं
७३३, ई० ६७६) दिया गया है^१। जिनदासकी उस निशीथचूर्णिमें सन्मति
और उसके कर्ता सिद्धसेनके विषयमें तीन उल्लेख^२ आते हैं। इनमेंसे पहले

१. चूर्णिके अन्तमें आया हुआ जिनदास नामका सूचक उल्लेख इस प्रकार है—
जो गाहासुत्तयो, चेव विधी पागडो फुडपदत्तो।

रइतो परिभासाए साहण य अणुगहड्डाए ॥ १ ॥

ति-चउ-पण-अट्टमवगो ति-पणग-ति-तिग अक्खरा व ते तेसि ।

पढम-ततिएहि ति-डुसरजुएहि णामं कयं जस्स ॥ २ ॥

गुरुदिण्णं च गणितं, महत्तरत्तं च तस्स पुट्ठेहि ।

तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा णिसीहस्स ॥ ३ ॥

नमो सुयदेवयाए भगवतीए । जिनदासगणिमहत्तरेण रइया । नमः तीर्थ
कृद्भ्यः ॥ छ ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ संवत् १५३१ वर्षे फाल्गुन सुदि २ लिखितं
निशीथचूर्णि खण्ड २, लिखित पत्र ४६३-२

अब निशीथचूर्णि मुद्रित हो गयी है। उसमें 'जिनदासगणि' इत्यादि पाए
नहीं हैं। देखो निशीथचूर्णि भा० ४, पृ० ४११। इन गाथाओंके विशेषार्थ ए
जिनदासके विषयमें चूर्णिगत अन्य सामग्रीके लिए देखो 'निशीथ : एक अध्ययन'
निशीथचूर्णि भा० ४ की प्रस्तावना पृ० ४६ से।

२. देखो 'जैन साहित्य संशोधक' भाग १, पृ० ५०-१। नन्दीचूर्णिमें मुद्रित
पाठ इस प्रकार है सकराजतो पंचसु वर्षशतेषु नन्धव्ययनचूर्णी समाप्ता इति
० ५०-१।

दसणगाही दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसंमति
असंथरमाणे ज अकप्पिय पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धं
नीत्यर्थः ।

निशीथचूर्णि भा० १, पृ० १६२

दसगणाणेत्ति । अस्य व्याख्या पुत्तत्थगतदुगाधा । दसगणपभावगाण
सत्याण सम्मदियादिसुतगणां य जो विसारदो णिस्संक्रियसुत्तत्थो त्ति वुत्तं भवति,
सो य उत्तिमद्वपडिवन्नो, सो य जत्थ खेत्ते ठिओ तत्थतरा वा वेरज्जं मा तं सुत्तत्थं
वोच्छिज्जतु त्ति अओ तग्गहणद्वया पकप्पत्ति वेरज्जविण्णद्वसंकमणं काउं ।

निशीथचूर्णि भा० ३, पृ० २०२.

अथवा तिसु आइल्लेसु णिव्वत्तणाधिकरणं, तत्थ ओरालिए एगिदियादि-
पंचविध, जोणीपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिएण अस्सा पकता ।

निशीथचूर्णि भा० २, पृ० २८१.

निशीथचूर्णिके उपर्युक्त तीन उल्लेखोंके अतिरिक्त एक खास महत्त्वका
उल्लेख, जो सिद्धसेनके उपयोगाभेदवाद-विषयक है, दशाचूर्णिमें है । दशा-
सूत्रकी तीसरी दशा (तीसरे अव्ययन) में गुरुकी आशातनाओंमें एक 'अणु-
द्वियाइ कहे' नामकी आशातना आती है । इस आशातनाका अर्थ यह है कि
“गुरु जिस सभाके समक्ष व्याख्यान देते हो, उस सभाके उठनेसे पूर्व ही कोई शिष्य
सभाके आगे ऐसा कहे कि 'गुरुने जो अमुक सूत्रकी अमुक व्याख्या की है, उसकी
यह दूसरी भी व्याख्या होती है, उसका यह दूसरा भी अर्थ होता है ।' और ऐसा
कहकर कोई सवाई स्थाना पडितम्मन्य शिष्य सभाके समक्ष अपनी डेढ़ चावल-
की खिचड़ी पकाने लगे, तो यह एक प्रकारकी गुरुकी अवज्ञा है ।” चूर्णिमें आचार्य
सिद्धसेनके ऊपर इस प्रकारकी अवज्ञा करनेका आक्षेप किया है और उसे भावा-
शातना कहा है । चूर्णिकारने इस आशातनाका स्वरूप समझाते हुए उसके उदा-
हरणके रूपमें आ० सिद्धसेनका नाम लिया है और कहा है कि “सिद्धसेनने एक
ही सूत्रके भिन्न-भिन्न प्रकारके अर्थ किये ।” सन्दर्भको देखते हुए ऐसा स्पष्ट-प्रतीत
होता है कि एक ही सूत्रके भिन्न अर्थ करनेवाले इन आचार्य सिद्धसेनके अति-
रिक्त दूसरा कोई प्रसिद्ध नहीं है । इसीलिए चूर्णिकारका कथन, सिद्धसेनने अपने
उपयोगाभेदवादको लक्ष्य करके जो अर्थान्तर किया है, उसीको बराबर लागू
होता है । इस उल्लेखसे भी ऊपर निर्दिष्ट किये हुए सिद्धसेनके समयका
मजबूत समर्थन होता है । चूर्णिकार प्रायः जिनदास ही होंगे, अथवा दूसरा कोई
भी हो, तो भी वह उनसे (जिनदाससे) तो अर्वाचीन नहीं है । चूर्णिकाक्षरशः
उल्लेख इस प्रकार है :

अणुदुआ निविट्टाए चेव, अभिन्ना ण ताव विसरति, अवोच्छिण्णा जाव
एक्को विअच्छति, तमेव त्ति जो आयरियेण अत्थो कहितो दोहि ते(ती)हि
चउहि वा; जहा सिद्धसेणायरितो तमेवाधिकारं विकल्पयति, अयमपि प्रकारो
तस्यैवैकस्य सूत्रस्यैवंगुणजुत्तो, भावआसादणा भवति ॥

दशाचूर्णि पृ० १६.

उल्लेखका भाव यह है कि 'सिद्धिविनिश्चय', सन्मति आदि दर्शनप्रभावक शास्त्रोंको भीखनेवाला साधु कारणवश यदि सनातन अस्तित्व सम्पूर्ण निरस करे, तो वह उसमें शुद्ध ही है। अर्थात् उसे अस्तित्व सेवनो मित्र प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता।

सन्मति-विषयक दूसरे उल्लेखका भाव यह है कि 'दर्शनप्रभावक शास्त्रोंमें (जैसे कि सन्मति आदि श्रुतज्ञानमें) विशारद एवं आचार्य (ब्रह्मज्ञ) प्राप्त साधु जिस क्षेत्रमें रहता हो, उस क्षेत्रमें विरोधी राज्य होनेपर भी वृद्धा विच्छेद न हो, इन दृष्टिमें सीमाने जाना पड़े, तो जाननेकी अनुमति है।'

तीसरा उल्लेख सिद्धनेतके चरित्रमें है। उसमें कहा गया है कि 'जैसे सिद्धसेन आचार्यने 'योनिप्रामृत' आदि द्वारा घोटें बनाये।'

इन उल्लेखोंमें मुख्य दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। पहली तो यह कि सन्मति-तर्क ग्रन्थ जिनदासगणी महत्तरके समयमें दर्शनप्रभावक शास्त्रोंमें गिना जाता था; और वह यहाँतक कि उसका अन्यायी कारणवश दोषमेवन करे, तो भी वह प्रामा-दिषत्तभागी नहीं समझा जाता था और सन्मतिके अन्यायी साधुके पाप शास्त्र-ग्रहण करनेके लिए विरोधी राज्यतकमें जानेकी छूट थी। दूसरी बात यह है कि किसी सिद्धसेन आचार्यके द्वारा घोटोंके नर्जनको दन्तकया जिनदासगणी महत्तरके समयमें बहुत प्रसिद्ध और मान्य हो चुकी थी।

प्रस्तुत चूर्ण जिस भाष्यपर है, वह निशीयभाष्य जिनमद्रगणी क्षमाश्रमणका अथवा सिद्धसेन आचार्यका, जो प्रस्तुत सिद्धनेतने भिन्न थे, माना जाता है। उक्त उल्लेखवाली चूर्णकी मूल भाष्यगाथामें सन्मतिको नाम नहीं है, परन्तु दर्शनप्रभावक शास्त्रका नामके बिना उल्लेख है। जिनदासके द्वारा निर्दिष्ट अश्वसर्जक^१ सिद्धसेन ही सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन दिवाकर है।

१. यह सिद्धिविनिश्चय अकलंककृत नहीं, परन्तु आचार्य शिवस्वामिकृत समक्षता चाहिए। देखो 'सिद्धिविनिश्चय' प्रस्तावना पृ० ५३।

२. देखो श्री जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना पृ० १० तथा निशीयः एक अध्ययन : निशीयचूर्णकी प्रस्तावना पृ० ४० से।

३. दंसणपभावगाणं सट्ठाणह्माए सेवती ज तु ।

णाणे सुत्तत्याण चरणेसण्हित्यदोसा वा ॥

निशीयभाष्य, गा० ४८६.

४. 'प्रभावकचरित्र' के वृद्धवादी-प्रबन्धके श्लोक १६७-८ में सिद्धसेनके द्वारा किये गये सैन्यसर्जनकी सूचना है।

सिद्धसेनकी अश्वसर्जकके रूपमें प्रसिद्धि और सन्मतिकी दर्शन-प्रभावक शास्त्रके रूपमें ख्याति ये दोनों बातें हमें इतने निश्चित अनुमानकी ओर ले जाती हैं कि वह सिद्धसेन जिनदाससे पहले हुए हैं। परन्तु पहले यानी कितने पहले, यह प्रश्न अब होता है। क्या सिद्धसेन जिनमद्रके समकालीन होंगे या उनसे थोड़े ही समय पहले अथवा काफी लम्बे समय पहले हुए होंगे? सिद्धसेन और जिनमद्र दोनों समय होने पर भी भिन्न-भिन्न विरोधी मतके थे। जिनमद्र आगमिक परम्पराके रक्षकके रूपमें प्रतिष्ठित थे, तो सिद्धसेन नवीन वादके स्थापक तार्किकके रूपमें तथा सस्कृतमें आगमोंका उल्लंघन करनेवालेके रूपमें प्रख्यात थे। जिनदासने चूर्णि आदि साहित्य आगमोंपर लिखा है, अतः यह स्वाभाविक है कि उनका झुकाव आगमिक परम्पराकी ओर विशेष हो। जिनमद्रकी आगमिक परम्पराके उत्तराधिकारी जिनदास जिनमद्रके ही एक प्रतिस्पर्धी दूसरे विद्वान्का तथा उनकी कृतियोंका अतिमानपूर्वक उल्लेख करते हैं, इसपरसे इतना तो सूचित होता ही है कि सिद्धसेन जिनमद्रके समकालीन तो क्या, निकट पूर्ववर्ती भी न होने चाहिए। महत्त्वकी बातमें विरोध रखनेवाले दो आचार्य सिद्धसेन और जिनमद्रके बीच इतना समय अवश्य ही बीता होगा, जिससे कि जिनदास भी सिद्धसेन और उनकी कृतिकी ओर मानपूर्वक देखने लगे होंगे। तत्कालीन साम्प्रदायिक वातावरणको देखते हुए ऐसा होनेमें सौ-दो सौ वर्ष लगे हों, तो ऐसी कल्पना तनिक भी अनुचित प्रतीत नहीं होती। अतएव जिनदासकी निशेयचूर्णिमें आये हुए उक्त उल्लेख हमें ऐसा निश्चय करनेकी ओर प्रेरित करते हैं कि यह बहुत सम्भव है कि सिद्धसेन जिनदाससे डेढ़ सौ-दो सौ वर्ष पहले हुए हों।

अब परम्पराका विचार करें। सभी परम्पराएँ सिद्धसेनको विक्रमके समकालीन तथा उज्जयिनीके निवासी मानती हैं। परन्तु विक्रम कौन और कब हुआ, यह भारतके इतिहासमें एक बहुत बड़ा विवादग्रस्त प्रश्न है। फलतः यह विक्रमकी परम्परा हमें समय-निर्णयमें बहुत उपयोगी नहीं हो सकती।

१. जिनमद्रने अपने विशेषावश्यकसाध्यकी रचना पूर्ण की, उसके पश्चात् ठीक ६७ वर्षपर जिनदासने अपनी नन्दीचूर्णिकी रचना समाप्त की थी। ऐसा इन दोनोंके स्वयं निर्दिष्ट समयके आधारपर निश्चित हो सका है। इस प्रकार देखें तो ये दोनों एक-दूसरेके बहुत निकटकालीन कहे जा सकते हैं। देखो 'भारतीय विद्या निबन्ध संग्रह' (ई० १९४५) में मुनि श्री जिनविजयजीका लेख पृ० १९१।

स्व० डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रमकी सभाके नवरत्नवाले श्लोकमें आनेवाले क्षपणकको सिद्धसेन दिवाकर मानकर और विक्रमको मालवाका यशोधर्मदेव समझकर सिद्धसेनको ई० ५३० के आसपास रखते हैं^१।

इस कालगणनामें दो दोष हैं एक तो, जैसा कि पहले हमने कहा, विक्रम राजा कब हुआ, इस प्रश्नका इस तरह निर्णय नहीं हो सकता। इस विषयमें अनेक मतभेद हैं और हाल ही में श्री कल्याणविजयजीने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित अपने वीरनिर्वाण विषयक लेखमें कितने ही विचारणीय प्रमाण देकर जैनोमें प्रसिद्ध विक्रमादित्य वलमित्र है, ऐसा कहा है, और वलमित्रने गकोको हराकर तथा गर्दभिल्लको मारकर वीर-निर्वाण संवत् ४५३ में उज्जयिनीकी गद्दी ली थी और १७ वर्षके पश्चात् अर्थात् वीर-निर्वाण संवत् ४७० में विक्रम संवत् चलाया था, ऐसा वह लिखते हैं। तात्पर्य यह कि विक्रम-समकालीनता सिद्धसेन दिवाकरका समय निश्चित करनेमें उपयोगी नहीं हो सकती।^२ डॉ० विद्या-

१. 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' पृ० १७४।

२. देखो 'ना० प्र० प०' भाग १०, अंक ४ में 'वीर-निर्वाण संवत् और जैन कालगणना' शीर्षक लेख।

३. इस बारेमें डॉ० कुमारी शार्लोट क्राउजेने 'विक्रम वॉल्युम' (१९४८) में कुछ ऊहापोह किया है। सिद्धसेन दिवाकरने अपनी 'गुणवचन-छात्रिशिका' में जिस पराक्रमी राजाके गुणोंका वर्णन किया है, वह कौन हो सकता है, इसकी सूक्ष्म समीक्षापरसे वह ऐसे निर्णयपर आयी है कि वह राजा समुद्रगुप्त है (ई० ३३०-३७५)। हाल ही में उपलब्ध उसकी मुद्रापर उसके लिए 'विक्रमादित्य' उपाधिका प्रयोग भी मिला है। मतलब कि 'विक्रमादित्य' उपनाम विक्रम संवत् आरम्भ करनेवालेके लिए ही प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नहीं है। गुप्त राजाओंमें भी अनेक राजाओंके लिए उसका प्रयोग मिलता है। यद्यपि वादके समयमें यह भेद विस्मृत हो गया और 'विक्रमादित्य' उपनामके साथ ही विक्रम संवत् शुरू होनेकी बातका भी भिन्न-भिन्न राजाओंके साथ उल्लेख होने लगा। इस प्रकार सिद्धसेन यदि समुद्रगुप्त तथा वादमें उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (जिसकी सभामें कालिदास आदि नवरत्न थे, ऐसा अब माना जाता है) के समकालीन हों, तो उनका समय विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शताब्दी माननेमें विशेष समर्थन मिलता है।

'ज्योतिर्विदाभरण' के २२वें प्रकरणमें जहाँ विक्रम राजाके नवरत्नोंका उल्लेख है, वहाँ भी १०वें श्लोकमें रत्नके रूपमें गिनाया गया क्षपणक ९वें श्लोकमें काल

भूषणकी काल-गणनामें दूसरा दोष यह भी है कि वह नवरत्नवाले श्लोकको ऐतिहासिक प्रमाण मानकर कालिदास आदि नवो व्यक्तियोंको समकालीन मानते हैं। परन्तु इस तरह इन नौ व्यक्तियोंको समकालीन माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त, क्षपणकसे सिद्धसेन दिवाकर ही उद्दिष्ट हैं, ऐसा मानना केवल कल्पना है। इसके लिए अधिक सुनिश्चित प्रमाणोंकी आवश्यकता है। जैनोमें मुख्य आचार्योंकी कालगणनाके लिए पट्टावलियाँ हैं। ये पट्टावलियाँ सर्वदा भ्रष्ट होती हैं ऐसा तो नहीं है, परन्तु उनमें अनेक काल-गणनाएँ हैं, ऐसा क्लोट आदि विद्वानोंका भी मानना है। इस दृष्टिसे सिद्धसेन दिवाकरकी परम्पराका विचार करे।

वि० स० १३३४ के समयके प्रभाचन्द्रके 'प्रभावकचरित्र' में सिद्धसेन दिवाकरकी परम्परा विस्तारसे दी है। "विद्यावर आम्नायमें पादलिप्त कुलमें स्कन्दिलाचार्य हुए। मुकुन्द नामक एक ब्राह्मण उनका शिष्य हुआ। यह मुकुन्द बादमें बृद्धवादीके नामसे प्रसिद्ध हुआ।" समी जैन-परम्पराएँ सिद्धसेन दिवाकरको बृद्धवादीका शिष्य मानती हैं। अतः इस परम्पराकी अब हम जाँच करें।

स्कन्दिलाचार्य जैनोमें प्रसिद्ध मायुरी आगमवाचनाके प्रणेता थे। यह वाचना जैन-परम्पराके अनुसार वीर निर्वाण सवत् ८४० में हुई थी, अतः स्कन्दिलाचार्यका

तत्र कविके रूपमें उल्लिखित श्रुतसेन है, ऐसा डॉ० आञ्जोका मानना है, क्योंकि इन दो श्लोकोंमें अमरसिंह, शकु, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचिको रत्नके रूपमें तथा कालतत्र कविके रूपमें इस तरह दो बार गिनाया ही है। अतः १०वें श्लोकमें क्षपणक (जैन साधु) शब्दसे उद्दिष्ट व्यक्तिकोही ९वें श्लोकमें श्रुतसेनके नामसे कहा गया है। 'ज्योतिर्विदामरण' का टीकाकार भावरत्न सूचित करता है कि काव्य एवं व्याकरण शास्त्रके नियमोंके अनुसार 'सिद्धसेन'के लिए ही श्रुतसेन रूप प्रयुक्त होता है; अतः नवरत्नोंमें उल्लिखित क्षपणक सिद्धसेन ही है। श्रव प्रश्न यह रहता है कि सिद्धसेन कालतत्र कवि है या नहीं, अर्थात् उन्होंने ज्योतिषपर कुछ लिखा है या नहीं? यद्यपि सिद्धसेन-रचित कोई ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ इस समय तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु वराहमिहिरने अपने 'बृहज्जातक' ग्रन्थमें ज्योतिषपर लिखनेवालोंमें सिद्धसेनका उल्लेख किया है। इस तरह श्रजैन-परम्परा भी, जैन-परम्पराकी भाँति, सिद्धसेनका संबंध विक्रमादित्यके साथ जोड़ती है।

१. देखो आगे 'जीवन सामग्री' शीर्षकके नीचे 'प्रबन्धका सार'।

समय वि० स० ३७० के आसपासका है। सिद्धसेन दिवाकर स्कन्दिलाचार्यकी दूसरी पीढ़ीमें आते हैं, अतएव सिद्धसेनका समय विक्रमकी चौथी और पाँचवीं शताब्दीमें आता है। जैन-परम्पराके आधारपर सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें रखनेमें किसी खास ऐतिहासिक हकीकतका बाध आता है या नहीं, यह अब हमें देखना चाहिए।

ऊपर हमने देखा कि निश्चित समयवाले ग्रन्थोंमें आनेवाले उल्लेखोंके आधार-पर सिद्धसेन दिवाकरको हम विक्रमकी आठवीं शताब्दीके प्रारम्भके पूर्वमें रख सकते हैं। विक्रमकी आठवीं शताब्दीमें 'सम्मति' शासनप्रभावक ग्रन्थ माना जाता है। उस कालको देखते हुए किसी भी ग्रन्थको शासनप्रभावकका सम्मान प्राप्त होने-में दोन्तीन शताब्दी व्यतीत हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिए सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी ५वीं शताब्दीमें मानें, तो पीछेके उल्लेख वर-वर ठीक बैठते हैं।

श्री मल्लवादीने सिद्धसेन दिवाकरके ग्रन्थ सम्मतिके ऊपर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आ० हरिभद्रने किया है^१। प्रभावकचरित्रकार श्रीप्रभाचन्द्रसूरि

१. आ० हरिभद्र अपने ग्रन्थमें तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितका उल्लेख करते हैं। शान्तरक्षितका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दी निर्णीत ही है। उन्होंने 'स्याद्वाचपरीक्षा' (कारिका १२६२ आदि) और 'बहिरर्थपरीक्षा' (कारिका १९४० आदि) में सुमति नामक दिगम्बराचार्यके मतको समालोचना की है और उसी सुमतिने इस सम्मतिपर विवृति लिखी है, ऐसे स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इनमेंसे एक उल्लेख वादिराजसूरिके पार्श्वनायचरित्रके प्रारम्भमें और श्रवणवेल्लोलाकी मल्लिवेणप्रशस्तिमें आता है, और दूसरा बृहट्टिप्पनिकामें सम्मतिकी वृत्ति ग्रन्थकर्तृक है, ऐसा है। इस सुमतिकी दूसरा नाम सम्मति भी है। उससे सम्बन्ध रखनेवाले उल्लेख इस प्रकार हैं :

नमः सम्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम् ।

सम्मतिविवृता येन सुखवामप्रवेशिनी ॥

सुमतिदेवममुं स्तुत येन च सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम् ।

परिहृतायदत्तस्वपदार्थिना सुमतिकोटिविवर्ति भवतिहृत् ॥

इसपरसे भी सिद्धसेनके निर्णीत किये हुए पाँचवीं शताब्दीके समयको विशेष संवाद मिलता है।

२. आ० हरिभद्रने इस विषयमें जो उल्लेख किये हैं, वे इस प्रकार हैं :

उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मती । (अनेकान्तजयपताका पृ० ४७) ; सम्मतिवृत्तिर्मल्लवादिकृता (बृहट्टिप्पनिका) । देखो 'जैन साहित्य

विजयसूरिप्रबन्धमे लिखते है कि “श्री वीरनिर्वाणसे ८८४वें वर्षमें (अर्थात् वि० स० ४१४ में) बौद्ध एव बौद्धव्यन्तरदेवोको मल्लवादीने जीता ।” यह लिखते समय प्रभावकचरित्रकार श्रीप्रभाचन्द्रसूरिके समक्ष अवश्य ही कोई ऐसी परम्परा रही होगी, जिसके आधारपर उन्होंने मल्लवादीके द्वारा बौद्ध-विजयका समय वि० स० ४१४ लिखा है । श्रीमल्लवादी द्वारा रचित ग्रन्थोंमेंसे एकमात्र ‘नयचक्र’ ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध है । यद्यपि वह भी मूल रूपमें तो नष्ट हो गया है, ऐसा इस समय माना जाता है, फिर भी उसपर सिंहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमण नामके (विक्रमकी छठी-सातवीं शताब्दीके) आचार्य द्वारा रचित ‘न्यायागममानुसारिणी’ नामकी १८,००० श्लोक-परिमाणकी जो टीका मिलती है, उसमें आये हुए मूलके प्रतीकोको एकत्रित करके तथा दूसरी अनेकविध सामग्रीके आधारपर मूलग्रन्थको बहुत कुछ तैयार किया जा सकता है । उसमें जिन-जिन अन्य ग्रन्थकार तथा उनके वाक्योंका उल्लेख किया गया है, उनकी जाँच करनेपर किसीका भी उपर्युक्त वि० स० ४१४ के साथ विरोध नहीं आता ।

‘संशोधक’ भाग १, परिशिष्ट, पृ० १० । इसी बातको विद्यानन्दकृत ‘श्रष्टसहस्रो’ के अपने श्रष्टसहस्रोविवरणमें उपाध्याय यशोविजयजी इस प्रकार कहते हैं .

इहार्थे कोटिशो भङ्गा निर्दिष्टा मल्लवादिना ।

मूलसम्मतिदीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम् ॥ (पृ० २१०)

१. इस प्रकारका विशिष्ट प्रयत्न मुनि श्री जम्बूविजयजीने किया है ।

२. विरोधकी जो कल्पना होती थी, उसका कारण मल्लवादी द्वारा भर्तृहरिके ‘वाक्यपदीय’ ग्रन्थमेंसे उद्धृत अनेक कारिकाएँ थीं । भर्तृहरिका समय, अब तक, चीनी यात्री इत्सिंगके द्वारा ई० ६९१ में लिखे भारत-यात्रा विषयक ग्रन्थमें शून्यतावादी तथा सात-सात बार बौद्ध भिक्षु बनकर पुनः गृहस्थ बननेवाले महान् बौद्ध गण्डित भर्तृहरिकी मृत्युको आज ४० वर्ष हुए हैं, ऐसे उल्लेखपरसे मान लिया गया था । परन्तु मुनि श्री जम्बूविजयजीने ‘जैनाचार्य श्री मल्लवादी और भर्तृहरिका समय’ लेखमें (देखो ‘बुद्धिप्रकाश’ नवम्बर १९५१, पृ० ३३२) जो लिखा है, उसके आधारपर या तो इत्सिंगका वचन निराधार है अथवा वह भर्तृहरि दूसरा ही होना चाहिए, क्योंकि वसुबन्धुके शिष्य दिङ्नागने (विक्रमकी ४थी शताब्दीके आसपास) भर्तृहरिके ‘वाक्यपदीय’ मेंसे दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, निश्चित होनेसे तथा भर्तृहरिका गुरु वसुरात दिङ्नागके साक्षात् गुरु वसुबन्धु-

इस प्रकार यदि मल्लवादी विक्रमकी पूर्वी शताब्दीमें विद्यमान हो, तो फिर उन्होंने जिनके ग्रन्थपर टीका लिखी हो, उन सिद्धसेन दिवाकरको चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें माननेमें कोई बाध नहीं आता।

इसी विषयमें दूसरा भी एक पोषक प्रमाण उपलब्ध होता है। पूज्यपाद देव-नन्दीने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें 'वेत्ते सिद्धसेनस्य' (५१७) सूत्रमें सिद्धसेनके मतविशेषका निर्देश किया है। वह यह है कि सिद्धसेनके मतानुसार 'विद्' धातुमें 'र्' का आगम होता है, फिर भले ही वह सकर्मक भी हो। देवनन्दीका यह उल्लेख विलकुल सच है, क्योंकि दिवाकरकी जो योडी-बहुत संस्कृत कृतियाँ बची हैं, उनमेंसे उनकी नवी वत्तीसीके २२वें पद्यमें 'विद्वते' ऐसा 'र्' आगमवाला प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्गपूर्वक और अकर्मक 'विद्' में 'र्' का आगम मानते हैं, जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक 'विद्' धातुका 'र्' आगमवाला प्रयोग किया है। इतनी विलक्षणताका निर्देश देवनन्दीने किया, यह उनका बहुश्रुतत्व सूचित करता है। इसके अतिरिक्त देवनन्दी पूज्यपादकी मानी जानेवाली 'सर्वार्यसिद्धि' नामक तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाके सातवें अध्यायके तेरहवें सूत्रमें 'उक्त च' शब्दके साथ सिद्धसेन दिवाकरके एक पद्यका अंश उद्धृत मिलता है

“उक्त च वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते ।”

वह पद्य सिद्धसेन दिवाकरकी तीसरी वत्तीसीका सोलहवाँ श्लोक है। देवनन्दी दिगम्बर-परम्पराके पक्षपाती सुविद्वान् हैं, जब कि सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर-परम्पराके समर्थक आचार्य हैं। उस समयकी सधर्पपूर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्तिका विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि एक सम्प्रदायके चाहे जैसे सुविद्वान्की कृतिको दूसरे विरोधी सम्प्रदायमें आदरपूर्वक प्रवेश पानेके लिए अमुक समय तो लगा ही होगा।

का समकालीन होनेसे, भर्तृहरि और विद्वानाग दोनों समकालीन ठहरते हैं। अतः मल्लवादी द्वारा वि० सं० ४१४ में बीछोपर विजय प्राप्त करनेके उल्लेखमें भर्तृहरिके समयके कारण कोई व्यतिक्रम उपस्थित नहीं होता।

१०. यह सारा पद्य इस प्रकार है :

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते,

शिवं च न परोपमर्दयु(प) ष्वस्मृतेर्विद्यते ।

वधायतनमभ्युपैति च परोक्ष निघ्नन्नपि,

त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रय(श) महेतुश्चोदितः ॥ १६ ॥

पूज्यपाद देवतन्त्रीके समय की पुनर्विचारणा करके प० श्रीनायूरामजी प्रेमीने उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी माना है^१। पूज्यपाद द्वारा दिवाकरके ग्रन्थोंके किये गये सूक्ष्म अवगाहनको और दिगम्बर-परम्परामें इन ग्रन्थोंकी जमी हुई अतिष्ठाको देखते हुए सिद्धसेन दिवाकरके विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें होनेकी बातको विशेष समर्थन मिलता है।

सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका सम्बन्ध भी एक विचारणीय प्रश्न है। जिनभद्रके 'विशेषणवती' तथा 'विशेषावश्यकभाष्य' में और सिद्धसेनके सन्मतिके दूसरे काण्डमें क्रमोपयोगवाद^२ तथा एकोपयोगवादकी चर्चा आती है। यह चर्चा सिद्धसेन और जिनभद्र दोनोंमेंसे किसी एकका पूर्ववर्तित्व और दूसरेका उत्तरवर्तित्व निश्चयपूर्वक सिद्ध करनेमें सीधे तौरपर उपयोगी हो सके ऐसी तो नहीं है, परन्तु दूसरे प्रमाणोंके आधारपर यदि पौवर्षि^३ निश्चित हो सकता हो, तो उसकी पुष्टिमें यह अवश्य उपयोगी हो सकती है। हमने पहले मुख्य रूपसे परम्पराके प्रमाणोंके आधारपर विचार किया है कि सिद्धसेनका समय विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शती अधिक सम्भव है। जिनभद्रगणीके विशेषावश्यक महाभाष्यकी एक अतिप्राचीन लिखित प्रतिमें उसका रचना-काल ग्रन्थकारने स्वयं ही दिया है^४। तदनुसार वह ग्रन्थ वि० स० ६६६ में सौराष्ट्रमें आये हुए वलभीमें समाप्त हुआ है^५। अन्य ग्रन्थोंकी रचनाके साथ विशेषावश्यकभाष्य जैसे सर्वशास्त्रोंके सदोहन रूप विस्तृत, गम्भीर एवं परिपक्व ग्रन्थोंकी रचना तथा साधुजीवनसुलभ आयुष्यका विचार करनेपर ऐसा लगता है कि क्षमाश्रमणजीका जीवनकाल विक्रमकी छठी शतीके अन्तिम भागसे लेकर सातवीं शताब्दीके तीसरे पादतक सम्भवतः फैला हुआ होगा। अतः ऐसा कहना चाहिए कि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणने अपने ग्रन्थोंमें

१. 'देवतन्त्रीका जनेन्द्र व्याकरण' लेख (आवृत्ति दूसरी) जैन-साहित्य और इतिहास पृ० २३ से।

२. सन्मति टीका पृ० ५९७।

३. यह प्रति जेसलमेरके भण्डारमेंसे ई० १९४२ के दिसम्बरमें मुनि श्रीजिनविजयजीको उपलब्ध हुई थी। इसके लिए देखो उनका 'भारतीय विद्या निबन्ध संग्रह' में 'भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणनो सुनिश्चित समय' (गुजराती) लेख पृ० १९१।

४. प्रतिमें उल्लिखित संवत् रचनाका नहीं, किन्तु रचनाके अनन्तर किसी अन्य प्रसंगका सूचक है। यह विचार 'गणवरवाद'की प्रस्तावनामें किया गया है। देखो पृ० ३२।

सिद्धसेन दिवाकरके उपयोगाभेदवादकी समालोचना की है और इसीलिए सिद्धसेन दिवाकर जिनभद्रगणीकी अपेक्षा पूर्वतर है ।

इसके अतिरिक्त मल्लवादीके 'द्वादशानयचक्र' के विनष्ट मूलके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं, उनमें दिवाकरका तो सूचन है^१, किन्तु जिनभद्रगणीका नहीं । इसपरसे यही फलित होता है कि मल्लवादी जिनभद्रकी अपेक्षा पहले हुए हैं; तो फिर मल्लवादी जिनके ग्रन्थपर टीका लिखे, वह तो उनसे भी पूर्वतर होने चाहिए ।

इस प्रकार सिद्धसेनको विक्रमकी चौथी सदीके अन्तमें या पाँचवी सदीके प्रारम्भमें, इस समय उपलब्ध साधनोको देखते हुए, मानना चाहिए ।

परन्तु सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमें माननेके सामने दो मुख्य विरोधी मत हैं . एक है प्रो० जेकोवी^२ और प्रो० वैद्यका और दूसरा है प० जुगोलकिगोरजी का^३ । दोनों विरोधी मतके लिए सामग्री सिद्धसेन दिवाकरके 'न्यायावतार' मेंसे ली गयी है ।

न्यायावतारके ४ से ७ श्लोकोमें प्रमाणोकी चर्चा आती है । इनमेंसे पूर्व श्लोकमें अत्रान्त^४ और दृढे श्लोकमें अत्रान्त^५ पद आता है । प्रो० जेकोवी और उनके मतके उपजीवी प्रो० वैद्य इन श्लोकोमें आनेवाले अत्रान्त और अत्रान्त शब्दपर खास ध्यान खींचते हैं । उनका ऐसा मानना है कि प्रमाणकी व्याख्यामें 'अत्रान्त' शब्दका प्रथम प्रयोग करनेवाला बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति है । धर्मकीर्तिने 'प्रमाण-समुच्चय'के प्रथम परिच्छेदमें आनेवाली दिङ्मतागकी प्रत्यक्षकी व्याख्या 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्'^६ को अत्रान्त पदसे अधिक शुद्ध^७ किया है । इधर सिद्धसेन दिवाकर 'न्यायावतार' में धर्मकीर्तिके अत्रान्त शब्दका उपयोग करके

१. श्रीमद् विजयरज्जेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थमें 'आचार्य मल्लवादीका नयचक्र' नामक लेख, पृ० २१० ।

२. 'समराई-वकहो' प्रस्तावना पृ० ३ ।

३. देखो 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १२६- ३३ ।

४. अनुमान तदत्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥ ५ ॥

५. न प्रत्यक्षमपि अत्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।

अत्रान्तं प्रमाणमित्येतद् विरुद्धं वचनं यतः ॥ ६ ॥

६. डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' पृ० २७७ की टिप्पणी ।

७. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमत्रान्तम् ।—न्यायविन्दु, १.४ ।

‘अनुमान भी प्रत्यक्षकी भाँति अभ्रान्त है’ ऐसा कहकर धर्मकीर्तिका खण्डन करते हैं। इसलिए इन दोनों महाशयोके मतानुसार सिद्धसेन दिवाकर धर्मकीर्तिके बाद यानी ई० ६३५-५० के पश्चात् आते हैं।

इस दलीलकी परीक्षा करे। प्रमाणकी व्याख्यामें अभ्रान्त अथवा उससे मिलता-जुलता शब्द भारतीय दर्शनमें धर्मकीर्तिसे पहले अज्ञात था, ऐसा मानना वस्तुतः बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि गौतमके न्यायसूत्र तथा उसपरके वात्स्यायन-के भाष्यमें ‘अभ्रान्त’ अर्थवाला ‘अव्यभिचारी’ शब्द और उस शब्दसे युक्त प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण (१. १. ४) प्रसिद्ध है। प्रो० पी० एल० वैद्य कहते हैं कि यदि दिङ्नागसे पहलेके बौद्धन्यायमें अभ्रान्तका विचार (Conception of अभ्रान्त), उपलब्ध हो, तो वह अपना विचार बदलनेके लिए तैयार है^१। सद्भाग्यसे अभ्रान्त शब्द और उसका विचार दिङ्नाग-पूर्वके बौद्धन्यायमें भी मिलता है।

प्रो० टूची (Tucci) ने जर्नल ऑफ रोयल एसियाटिक सोसायटीके १९२९ के जुलाईके अंकमें दिङ्नाग पहलेके बौद्धन्यायपर एक विस्तृत निबन्ध प्रकट किया है। उसमें बौद्ध संस्कृत ग्रन्थोंके चीनी और तिब्बती अनुवादोंके आधारपर दिङ्नागके पहले बौद्धोंमें न्यायदर्शन कितना विस्तृत और विकसित था, यह बतानेका समर्थ प्रयत्न किया है। उन्होंने योगाचारभूमिशास्त्र और प्रकरणार्थवाचा नामक ग्रन्थोंके वर्णनमें प्रत्यक्षकी व्याख्या इस प्रकार दी है:

Pratyaksha according to A [1. e. Yogāchāra-Bhūmi shāstra and Prakaranāryavāchā] must be ‘aparoksha, unmixed with imagination, nirvikalpa and devoid of error, abhīrānta or avyabhichāri’

अर्थात् ‘ए’ (योगाचारभूमिशास्त्र और प्रकरणार्थवाचा) के मतानुसार प्रत्यक्ष अपरोक्ष, कल्पनापौढ (निर्विकल्प) और भूल विनाका (अभ्रान्त या अव्यभिचारी) होना चाहिए। अभ्रान्त अथवा अव्यभिचारी शब्दपरकी टिप्पणीमें प्रो० टूची कहते हैं कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और चीनी एवं तिब्बती शब्दोंका इस तरह दोनों रूपमें अनुवाद हो सकता है। वह स्वयं तो सामान्यतः अभ्रान्त शब्द ही स्वीकार करते हैं^२। इससे प्रो० टूची ऐसे अनुमानपर आते हैं कि धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें जो अभ्रान्त पद जोड़ा है वह नया नहीं है, परन्तु

१. डॉ० पी० एल० वैद्यकी ‘न्यायावतार’की प्रस्तावना।

२. ज० रो० ए० सो०, जुलाई १९२९, पृ० ४७० और पादटिप्पणी ४ तथा पृ० ४६४, ४७२ आदि।

सीत्रान्तिकोकी पुरानी व्याख्याको स्वीकारकर उसके अनुसार उसने दिङ्नागकी व्याख्यामें सुधार किया है।

योगाचारभूमिशालासंगके गुरु मैत्रेयकी कृति है। असंगका समय ईसाकी चौथी सदीका मध्यभाग माना जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त शब्दका प्रयोग और अभ्रान्तताका विचार विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पहले भी भली भाँति ज्ञात था, अर्थात् यह शब्द सुप्रसिद्ध था। अतः सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारमें आनेवाले मात्र अभ्रान्त पदपरसे उन्हें धर्मकीर्तिके वाद रखनेकी आवश्यकता नहीं है। सिद्धसेन दिवाकरको मैत्रेयके वाद, किन्तु धर्मकीर्तिसे पहले माननेमें किसी भी प्रकारका अन्तराय नहीं आता।

दूसरी बात प्रो० जेकोबीने कही है, वह यह है कि न्यायावतारके प्रत्यक्ष-लक्षणमें जो स्वार्थ और परार्थका भेद सिद्धसेनने बताया है, वह धर्मकीर्तिके केवल अनुमानके ही स्वार्थ-परार्थ भेदके सामने है। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धसेनका उक्त विचार सिर्फ धर्मकीर्तिके ही सामने है, ऐसा माननेका तनिक भी आधार नहीं है। दूसरी तरहसे यदि सिद्धसेन धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती ठहरते हों, तो यह देखना अवलम्बता वाकी रहता है कि तब सिद्धसेनका यह विचार किसके सामने अथवा किसके अनुसार है? वैशेषिक एव न्यायदर्शनमें अनुमानके ही स्वार्थ-परार्थ भेद होनेकी बात धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती 'न्यायमुख' और 'न्यायप्रवेश' जैसे बौद्ध न्यायग्रन्थोंमें भी स्पष्ट रूपसे उल्लिखित है। अतः सिद्धसेनका कथन धर्मकीर्तिके ही सामने है, ऐसा विधान निराधार ठहरता है।

१. दिङ्नाग योगाचार-विज्ञानवादका अनुगामी होनेसे उसकी व्याख्या विज्ञानवादके अनुसार ही है। विज्ञानवादी विज्ञानसे भिन्न बाह्य वस्तुका अस्तित्व नहीं मानते। उनके मतसे सभी आलम्बन ज्ञान भ्रान्त ही होते हैं, अतः 'अभ्रान्त' विशेषण आवश्यक नहीं है। इसीलिए वे प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त पद नहीं रखते, क्योंकि उनके मतानुसार उस पदका व्यावर्त्य कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि 'न्यायमुख' और 'न्यायप्रवेश' गत प्रत्यक्षका लक्षण अभ्रान्त पदसे रहित ही है। देखो प्रो० दलसुखभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित 'न्यायावतारवातिकवृत्तिटिप्पण' पृ० २८९ तथा 'धर्मोत्तरप्रदीप'।

२. ज० रो० ए० सो०, जुलाई १९२९, पृ० ४७२।

३. ज० रो० ए० सो०, अक्टूबर १९२९, पृ० ८७०। जुलाईके अंकमें असंगकी कृति लिखा है, परन्तु यह भूल है ऐसा कहकर अक्टूबरके अंकमें सुधार किया है।

४ Keith, Indian Logic and Atomism p. 23.

इसके अतिरिक्त, प्रो० जेकोबीके विचारके विरुद्ध एक विचार आता है और वह यह कि सिद्धसेनने अनुमानके अभ्रान्तत्वका तथा प्रत्यक्षके भी स्वार्थ-परार्थ रूप दो भेदोंका विधान धर्मकीर्तिके सामने किया है, ऐसा थोड़ी देरके लिए मान लें, तो भी उन्होंने 'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्त प्रमाणत्वविनिश्चयात्' (न्यायावतार श्लोक ६) इत्यादि द्वारा प्रत्यक्षके अभ्रान्तत्वका विधान किसके सामने किया है, यह एक प्रश्न है। धर्मकीर्तिके सामने तो यह विधान है ही नहीं, क्योंकि धर्मकीर्ति तो प्रत्यक्षको अभ्रान्त मानता ही है। अतः यह विधान दूसरे किसीके सामने है, यह तो निर्विवाद है। दूसरे किसीसे अभिप्रेत है धर्मकीर्तिसे भिन्न जो प्रत्यक्षमें अभ्रान्तत्व न मानते हों ऐसे बौद्ध विद्वान्, उनके उपलब्ध ग्रन्थोंके द्वारा, आज हमारे समक्ष वसुबन्धु, दिङ्नाग और शंकरस्वामी हैं। प्रत्यक्षको अभ्रान्त न माननेवाले विद्वान् अर्थात् विज्ञानवादी बौद्ध और प्रत्यक्षको अभ्रान्त विशेषण लगानेवाले अर्थात् सौत्रान्तिक बौद्ध। इससे सामान्यतः ऐसा फलित होता है कि सिद्धसेनने सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी दोनों प्रकारकी बौद्ध तर्क-परम्पराके सामने प्रमाणके विषयमें अपने विधान रखे हैं। धर्मकीर्तिके पहले भी सौत्रान्तिक तर्क-परम्परा थी, यह बात हम पहले कह चुके हैं। अतएव यदि दूसरे प्रमाणोंसे सिद्धसेनका धर्मकीर्तिकी अपेक्षा पूर्ववर्तित्व सिद्ध हो सकता हो, तो ऐसा ही कहना चाहिए कि सिद्धसेनने अनुमान और प्रत्यक्षमें जो विधान किये हैं, वे धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी बौद्ध तार्किकोंको लक्ष्यमें रखकर किये हैं, धर्मकीर्तिको लक्ष्य करके नहीं।

न्यायावतारका 'आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यम्' इत्यादि नवाँ श्लोक रत्नकरण्डक-श्रावकाचारमें आता है। इसपरसे प० जुगलकिशोरजीका ऐसा अनुमान है कि यह श्लोक सिद्धसेन दिवाकरने समन्तभद्रके ग्रन्थमेंसे लिया है। उनकी मुख्य दलील इस श्लोकका चालू सन्दर्भमें औचित्य है या नहीं, इसपर आश्रित है। न्यायावतारमें यह श्लोक उपयुक्त स्थानपर है, ऐसा हमें विषयका बारीकीसे अव्ययन करनेपर लगता है। समन्तभद्र रत्नकरण्डक श्रावकाचारके कर्ता है ही नहीं, ऐसा डॉ० हीरालालजीने सिद्ध किया है। इससे इसका उत्तर देनेकी अव आवश्यकता ही नहीं रहती। ऐसा एक दूसरा भी श्लोक दोनोंके नामपर चढा हुआ मिलता है।

इस प्रकार इन दोनों विरोधी मतोंका निराकरण हो जाता है। फलतः

१. न्यास्तव स्यात्पदलोच्छ्रिता इमे रसोपविद्धा इव लोहवातवः ।

भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तभार्याः प्रणता हितैषिणः ॥

सिद्धसेन विवाकरको विक्रमकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमें रखनेमें हमें कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती।

सिद्धसेनका वह काल भारतके इतिहासमें गुप्तयुगके नामसे प्रसिद्ध है। यह युग सस्कृत-साहित्य और भाषाके पुनरुत्थानका युग है। सिद्धसेनसे पहलेके जैन ग्रन्थ अधिकांशतः प्राकृतमें थे। दिवाकरकी उपलब्ध कृतियोंका बड़ा हिस्सा सस्कृतमें है। उनके बारेमें जो कथाएँ प्रचलित हैं, उनमें जैन आगमोंका सस्कृतमें अनुवाद करनेके उनके प्रयत्नोंका उल्लेख आता है। यह हकीकत इस समयके साथ बराबर ठीक बैठती है। समग्र देशमें सस्कृतका पुनरुत्थान हो और जैन ग्रन्थ प्राकृतमें रहे, यह बात इस ब्राह्मणजातीय जैनभिक्षुको ठीक न लगे, यह स्वाभाविक है, परन्तु रुढ़िके आगे दिवाकरका कुछ अधिक चला नहीं होगा, ऐसा उनके कथानकोपरसे प्रतीत होता है।

२. जीवन-सामग्री

अपने जीवन-वृत्तान्तके बारेमें दिवाकर सिद्धसेनने स्वयं कुछ लिखा हो अथवा इस विषयमें उनके समसमयवर्ती या उनके पीछे पुरान्त ही होनेवाले किसी विद्वान्ने कुछ लिखा हो, तो ऐसा कोई साधन आजतक हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। उनके जीवनके विषयमें जो कुछ थोड़ी या बहुत, अधूरी या पूरी, सन्दिग्ध या निश्चित जानकारी हमें प्राप्त होती है या प्राप्त की जा सकती है, इसके लिए मुख्य तीन साधन हैं : १. प्रबन्ध, २. उल्लेख और ३. उनकी अपनी रचनाएँ।

१. प्रबन्ध दिवाकरके जीवनका निर्देश करनेवाले पाँच प्रबन्ध इस समय हमारे समक्ष हैं। उनमेंसे दो लिखित हैं, जब कि तीन प्रकाशित हो चुके हैं। लिखितमें एक गद्यबद्ध है और दूसरा पद्यबद्ध है। गद्यप्रबन्ध भद्रेश्वरकी 'कथावली' में आया है, जो ग्यारहवी शताब्दीके आसपासका मोहूम होता है। पद्य-प्रबन्धका लेखक एव उसका समय अज्ञात है, फिर भी यह तो निश्चित ही है कि वह वि० सं० १२९१ से पहले कभी रचा गया होगा, क्योंकि १२९१ की लिखी हुई ताडान्नकी प्रतिमें उसका एक खण्डित उद्धरण मिला है। इन दोनोंमें गद्य-

इस श्लोकको सन्मतिटीकाकार अभयदेवने (पृ० ७६१) सिद्धसेनका कहा है, तो 'स्याद्वादमंजरी' के कर्ता मल्लिषेणने (पृ० २२८) समन्तभद्रका कहा है।

१. देखो आगे आनेवाला 'प्रभावकचरित्रगत प्रबन्धका सार'।

२. ताडपत्रीय प्रतिके अन्तका उल्लेख इस प्रकार है :-

इति तत्कालकविवादिगजधटापञ्चवक्त्रस्य ब्रह्मचारीतिव्यातविरुदस्य

प्रबन्ध परिमाणमे छोटा है। पद्य-प्रबन्धमे गद्यमे आयी हुई वाते विस्तारपूर्वक कही गयी है और कुछ नयी हकीकते अधिक भी है। इन दोनों प्रबन्धोंमे गद्यप्रबन्ध पुराना प्रतीत होता है और ऐसा लगता है कि पद्यप्रबन्धकी रचना सम्भवत इसीके आधार-पर हुई हो। प्रकाशित तीनों प्रबन्ध लगभग ७५ वर्ष^१ जितने समयमें थोड़े-थोड़े अन्तरसे रचित 'प्रभावकचरित्र', 'प्रबन्धचिन्तामणि' और 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' में आते हैं। समयकी दृष्टिसे 'प्रभावकचरित्र' में आया हुआ प्रबन्ध लिखित उक्त दोनों प्रबन्धोंकी अपेक्षा अर्वाचीन है, फिर भी उसका महत्त्व विशेष होनेके तीन कारण हैं। पहला यह कि उस प्रबन्धमे आयी हुई कई हकीकते, प्रबन्धके अन्तमें दी गयी सूचनाके अनुसार^२, एक जीर्ण और प्राचीन मठकी प्रशस्तिमेसे ली गयी है। दूसरा कारण यह है कि उस प्रबन्धको प्राचीन कवियों द्वारा रचित ग्रन्थोंका भी आधार है^३। तीसरा कारण यह है कि जिस तरह 'प्रभावकचरित्र'गत उस प्रबन्धमें लिखित उक्त दोनों प्रबन्धोंका सार आ जाता है, उसी तरह वही प्रबन्ध 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' में आये हुए प्रस्तुत प्रबन्धका आधार भी है। इस महत्त्वके कारण 'प्रभावकचरित्र' में आये हुए प्रस्तुत प्रबन्धमेसे दिवाकरसे सम्बद्ध भागका सार यहाँपर प्रथम दे देना हमने उचित समझा है। यह सार देनेके पश्चात् अन्य प्रबन्धोंमे जो कमी-वशी या फेरफार होगा, वह भी सूचित किया जायगा। इससे दिवाकरके जीवनसे सम्बद्ध और परम्परासे उल्लिखित सभी वाते दुहराये बिना एक ही स्थान-पर सुलभ होंगी। बादके प्रबन्धोंमे पूर्वके प्रबन्धोंमेसे कित-कितना आया है और कित-कितना अन्य साधनोंसे दाखिल हुआ है, यह भी सहजभावसे ज्ञात हो सकेगा।

प्रभावकचरित्रगत प्रबन्धका सार^४

विद्याधर नामक आम्नाय शास्त्रामे और पादलिप्तसूरिके कुल सन्तानमे अनुयोगधर श्रीस्कन्दिलाचार्य हुए। उनके अवसानके पश्चात् उनके पटुपर आये हुए श्रीवृद्धवादी नामक शिष्य विहार करते हुए कमी विशाला (उज्जयिनी) में

श्रीबप्पमद्विसूरेः कथानकं समर्थितम् ॥ छ ॥ छ ॥ संवत् १२९१ वैशाख वदि ११ सोमे पुस्तिका लिखिता ॥ छ ॥ शुभ भवतु ॥ छ ॥ छ ॥

१. इन तीनों प्रबन्धोंका रचना-समय अनुक्रमसे वि० सं० १३३४, १३६१ और १४०५ है। इसके लिए उस-उस ग्रन्थका अन्तभाग देखो।

२. प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्ध श्लो० १७७ ८०।

३. प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्ध श्लो० १७७ ८०।

४. प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्ध पृ० ९१ से १०३।

आ पहुँचे, जहाँ विक्रमादित्य नामका राजा था। कात्यायनगोत्रीय ब्राह्मण देवर्षि पिता और देवश्री माताका पुत्र विद्वान् सिद्धसेन वृद्धवादीके पास गया। उसने उनकी ख्याति सुनी थी, अतः विना परिचयके ही पूछा कि “हे मुनि! आजकल वृद्धवादी यहाँ हैं कि नहीं?” मुनिने कहा, “वह मैं स्वयं ही हूँ।” यह सुनकर सिद्धसेनने कहा कि “बहुत समयसे वादगोष्ठी करनेका मेरा सकल्प है। उसे आप पूर्ण करें।” सूरिने उत्तरमें कहा कि “हे विद्वन्! तुम अपने मनको सन्तुष्ट करनेके लिए सभामें क्यों नहीं जाते?” सूरिके ऐसा कहनेपर भी जब उसने वही वाद करनेका आग्रह चालू रखा, तब सूरिने पासमें उपस्थित ग्वालोको ही सम्य वनाया और वादकया चलानेको कहा। सिद्धसेनने पहले ‘सर्वज्ञ नहीं है’ ऐसा पूर्वपक्ष करके उसे युक्तिसे स्थापित किया। वृद्धवादीने उपस्थित सम्य ग्वालोसे पूछा कि “जरा कहो तो सही कि इस विद्वान्का कहा हुआ तुम कुछ समझ भी हो?” ग्वालोने कहा कि “पारसियो (फारसी बोलनेवालो) के जैसा अस्पष्ट कथन कैसे समझमें आ सकता है?” यह सुनकर वृद्धवादीने पहले तो ग्वालोसे कहा कि “इस विद्वान्का कहना मैं समझा हूँ। वह ऐसा कहते हैं कि ‘जिन नहीं है’। क्या इनका ऐसा कहना सच है? तुम कहो।” इसपर ग्वालोने कहा कि “जैन मन्दिरमें जिनमूर्तिके होनेपर भी ‘जिन नहीं है’ ऐसा कहनेवाला यह ब्राह्मण मृषावादी है।”

इतना विनोद करनेके उपरान्त वृद्धवादीने सिद्धसेनके पूर्वपक्षके जवाबमें युक्तिसे सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध किया। सिद्धसेनने हर्षसे गद्गद होकर सूरिसे कहा कि “आप जीत गये। अब मुझे शिष्यके रूपमें स्वीकार करें, क्योंकि जीतनेवालेका शिष्य बननेको मेरी प्रतिज्ञा है।” सूरिने सिद्धसेनको जैनी दीक्षा देकर शिष्य बनाया और कुमुदचन्द्र नाम रखा। कुमुदचन्द्र शीघ्र ही जैन-सिद्धान्तोका पारगामी हो गया। तब गुरुने उसे आचार्यपदपर स्थापित किया और पहलेका ही सिद्धमेन नाम पुनः रखा। इसके पश्चात् गुरु सिद्धसेनको गच्छ सीपकर दूसरे स्थानपर विहार कर गये।

एक बार सिद्धमेन बाहर जा रहे थे। उस समय उन्हें विक्रम राजाने देखा और कोई जान न पाये इस तरह उसने उन्हें मनसे प्रणाम किया। सूरि यह बात समझ गये और उन्होंने उस राजाको ऊँची आवाजसे धर्मलाम दिया। इस चतुराईसे प्रमत्त होकर राजाने सूरिको एक करोड़ सुवर्ण टक दानमें दिये और राजानचीको यह लिख लेनेके लिए कहा कि “दूरमें ही हाथ ऊँचा करके धर्मलाम देनेवाले सिद्धमेनसूरिको विक्रमराजाने करोड़ टक दिये।” वादमें सिद्धसेनको बुलाकर दान ले जानेके लिए राजाने कहा। जवाबमें सूरिने कहा कि “मैं यह

नहीं ले सकता। आप इसका इच्छानुसार उपयोग करें।” विक्रम समझ गया और उसने वह दान साधारण खाते में रखकर उसमेंसे सधिमिकोको भेद दी और चैत्योका उद्धार किया।

एक बार सिद्धसेनने उज्जयिनीसे चित्रकूटकी ओर विहार किया। वहाँ उन्होंने पहाड़की एक ओर एक स्तम्भ देखा। वह स्तम्भ पत्थर, लकड़ी या मिट्टीका नहीं था। सिद्धसेनको विचार करनेपर ज्ञात हुआ कि वह तो औषधियोंके चूर्णोंसे बनाया गया है। उन्होंने बुद्धिबलसे उस स्तम्भके गन्ध, रस एवं स्पर्शकी परीक्षा की और अन्तमें उन औषधियोंकी विरोधी दूसरी औषधियाँ लाकर और उन्हें घिसकर उस स्तम्भमें एक छेद किया। उसमेंसे उन्हें हजारों पुस्तकें दिखाई पड़ी। उनमेंसे एक पुस्तक लेकर और उसका पहला पन्ना खोलकर उन्होंने उसमेंसे पहली पंक्ति पढ़ी। उसमेंसे सुवर्णसिद्धियोग और सर्पपत्र (सैन्यसर्जनकी विद्या) ये दो वेद्याँ उन्हें प्राप्त हुईं। सूरि आगे वह पुस्तक आनन्दके साथ पढ़ ही रहे थे कि अतनेमें शशिनदेवीने, योग्यता मालूम न होनेसे, वह पुस्तक उनके पाससे छीन ली।

इसके अनन्तर सूरिने वहाँसे पूर्वदेशके पर्यन्तमाग अर्थात् अन्तिम छोरतक विहार किया और कर्मार नामके एक गाँवमें आ पहुँचे। वहाँ देवपाल नामका एक राजा था। उसने सूरिका स्वागत किया। सूरिने उस राजाको धर्मकथासे प्रतिबोधित किया और अपना सखा बनाया। कभी विजयवर्मा नामके कामर देशके राजाने उस देवपालपर चढ़ाई की और बड़े भारी जगली सैन्यके द्वारा उसे घेर लिया। इससे घबराकर देवपाल राजा सूरिकी शरणमें आया और कहा कि “आप ही अब मेरे लिए शरणरूप हैं। शत्रुका टिड्डीदल जैसा सैन्य मेरे ओटे-से खजाने और छोटी-सी सेनाका नाश करेगा।” यह सुनकर सूरिने आश्वासन देते हुए कहा कि “हे राजन् ! तुम मत डरो। मैं इलाज करूँगा।” सूरिने सुवर्णसिद्धियोगसे खूब द्रव्यका और सर्पपविद्यासे बड़े सैन्यका सर्जन किया। उसकी सहायतासे देवपालने अपने शत्रुको पराजित किया। देवपालने मिली हुई सहायतासे प्रसन्न होकर सूरिको ‘दिवाकर’ पदसे सम्बोधित किया। यह इस प्रशयसे कि शत्रुभयरूपी अन्धकारको दूर करनेमें सूरिने दिवाकर (सूर्य) का कार्य किया था। तबसे सिद्धसेन ‘दिवाकर’ उपाधिसे प्रसिद्ध हुए और इस प्रकार सिद्धसेन दिवाकर’ नाम विशेष प्रख्यात हुआ।

इसके पश्चात् गुरु वृद्धवादीने सुना कि सिद्धसेन तो राजमान्य हुए हैं और राजभक्तिके मोहमें पड़कर वह डोली तथा हाथी आदि वाहनोपर सवारी करके राजमन्दिरमें आते-जाते हैं। इससे उन्हें समझोकर योग्य मार्गपर लानेके लिए

गुरुवेश बदलकर कमीर नगर में आये। वहाँ उन्होंने देखा कि सिद्धसेन तो डोली में बैठकर जाते हैं और बहुतसे लोग उन्हें घेरे हुए हैं। यह देखकर गुरुने कहा कि "मैं आपकी ख्याति सुनकर यहाँ आया हूँ, अतः मेरा सशय आप दूर करे।" सिद्धसेनने कहा: "भले, खुशीसे पूछो।" बाद में गुरुने विद्वानोंको भी आश्रम में डाल दे ऐसे उच्च स्वरसे कहा कि

अणफुल्लो फुल्ल म तोडहु मन-आरामा म मोडहु ।

मणकुसुमेहि अण्व निरजणु हिडह काइ वणेण वणु ॥ ९२ ॥

नोचनेपर भी सिद्धसेनको जब इस अपभ्रंश पद्यका अर्थ समझ में न आया, तो उन्होंने आडा-टेडा उत्तर दिया-और कहा कि "तुम दूसरा कुछ पूछो।" परन्तु गुरुने कहा कि "इसीपर पुन विचार करो और जवाब दो।" सिद्धसेनने अनादर इम पद्यका असम्बद्ध और जैसा-तैसा खुलासा किया। परन्तु जब वह खुलासा गुरुने मंजूर न किया, तब अन्त में उन्होंने गुरुसे कहा कि आप ही इस पद्यका अर्थ कहें। गुरुने 'सुनो और सावधान हो जाओ' ऐसा कहकर इस प्रकार इसका अर्थ किया: "जीवनरूपी छोटे कोमल फूलवाली मानवदेहके जीवनाशरूपी फूलोंके तू राजसत्कार एवं तज्जन्य गर्वके प्रहारसे मत तोड़। मनके यम-नियमरूप आरामों (उद्यानों) को भोग-विलासके द्वारा भग्न न कर उन्हें नेस्तनाबू न कर। मनके (सद्गुणरूपी) पुष्पोंके द्वारा निरजन देवकी पूजा कर। सत्साररूपी एक वनसे लाभसत्कारजन्य मोहरूपी दूसरे वनमें क्यों भटकता है?

भूले हुए लोगोंको मार्गपर लानेवाले यह और इसके जैसे दूसरे कितने हैं अर्थ गुरुने कह सुनाये।

गुरुके इन अर्थकथनमें सिद्धसेनका मन सचेत हुआ और उन्होंने सोचा कि मेरे धर्मगुरुके अतिरिक्त दूसरेको ऐसी शक्ति नहीं हो सकती। सचमुच ही ये स्वयं मेरे धर्मगुरु ही हैं, ऐसा विचार करते वह गुरुके पैरोंमें झुके और कहा कि "दोषवर्जित आप ही जगत्की हैं, अतः आप जमा करें।" यह सुनकर गुरुने कहा कि "मैंने तुझे जैनमिद्वान्तना न सम्पूर्ण पान कराया है। मन्द अग्निवालेको रंगपूरी मोदन में नानि रीति तुझे ही यह मिद्वान्त नहीं पच सका, तो फिर दूसरे नरक अन्त नरकवाले जीवोंकी तो दान ही क्या? तू नन्तोपमे सुध्व्यानको पुष्ट कर मेरे निम्ने हुए धर्मनोनों पचा। नन्धमनेने प्राप्त पुत्रावली शान्तनदेवीने अपहरण किया, तो योनि ही हुआ है, तबोकि आज उसे पचानेवाले योग्य त्यागी कहीं है? तुम्हारा ऐसा अज्ञान मुनित्त निम्न दिवाकरने पता कि "हे प्रभो! यदि भूल किया है तो उसे क्षमा कर दे, तो प्रायश्चित्तविशेष आनन्द पान करनेमें आयेगे।" गुरुने योनि प्रायश्चित्त दे।

और अन्तमे उन्हे अपने आसनपर विठाकर स्वर्गकी ओर प्रयाण किया । देवाकर भी आचार्यपदपर आनेके बाद जैनशासनकी प्रभावना करते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे ।

वचनसे ही सस्कृतके अम्यासी सिद्धसेनने लोगोके तानो तथा जन्म-स्वभावसे प्राकृत भाषाके अनोदरके कारण एक वीर जैन प्राकृत सिद्धान्तका सस्कृत भाषामें उल्था करनेका विचार किया और यह विचार उन्होंने सधको कह सुनाया । सधके अगुओने आवेशमे आकर दिवाकरसे कहा कि “आपके जैसे युगप्रधान आचार्योंको भी प्राकृत भाषाकी ओर अरुचि पैदा हो, तो फिर हम-जैसोकी तो बात ही क्या ? ” हमने परम्परासे सुना है कि पहले चौदह पूर्व सस्कृतमे थे और इसीलिए वे साधारण बुद्धिवालोंके लिए अगम्य थे । यही कारण है कि समय बीतनेपर वे नष्ट हो गये । इस समय जो ग्यारह अग हैं, उन्हें सुधर्मास्वाभीने वालक, स्त्री, मूढ और मूर्ख लोगोपर अनुग्रह करनेके लिए प्राकृत भाषामे गूँथा है । ऐसी प्राकृत भाषापर आपका अनोदर कैसे योग्य कहा जा सकता है ? ” अगुओने आगे चलकर दिवाकरसे यह भी कहा कि “आप प्राकृत आगमका सस्कृतमें उल्था करनेके विचार एव वचनसे बहुत दूषित हुए हैं । स्थविर (शास्त्रज्ञ वृद्ध विद्वान्) इस दोषका शास्त्र द्वारा प्रायश्चित्त जानते हैं । ” स्थविरोने कहा कि “इस दोषकी शुद्धिके लिए पाराचिक प्रायश्चित्त करना चाहिए । इसमे जैन वेश छुपाकर और गच्छका परित्याग करके बारह वर्षपर्यन्त दुष्कर तप करना पडता है । ऐसे पाराचिक प्रायश्चित्तके बिना ऐसे महान् दोषकी शुद्धि कभी भी नहीं हो सकती । अलवत्ता, यदि बारह वर्षके भीतर भी शासनकी कोई महान् प्रभावना की जाय, तो अववि पूर्ण होनेसे पूर्व भी अपने असली पदपर आप लिये जा सकते हैं । ” स्थविरोका यह प्रायश्चित्तविधान सुनकर सरल-स्वभावी दिवाकरने सधसे पूछकर और अपना साधुपद गुप्त रखकर गच्छका परित्याग किया । इस स्थितिमे धूमते हुए उनके सात वर्ष बीत गये । कभी वह उज्जयिनी नगरीमे आये । उन्होंने राजमन्दिरके द्वारपर पहुँचकर दरवानसे कहा कि “जा, तू राजाको मेरी ओरसे इस तरह कह कि

‘दिदृक्षुमिक्षुरायातो वारितो द्वारि तिष्ठति ।

हस्तन्यस्तचतु श्लोक किमागच्छतु गच्छतु’ ॥ १२४ ॥

अर्थात् हाथमें चार श्लोक लेकर एक भिक्षु आपके दर्शनकी इच्छासे आया है और द्वारपालो द्वारा रोके जानेसे दरवाजेपर खड़ा है । कहो कि वह आये अथवा जाय ?

यह सुनकर गुणपक्षपाती राजाने दिवाकरको बुलाया और दिवाकरने राज-सम्मत आसनपर बैठकर ये चार श्लोक^१ कहे

“यह अपूर्व धनुर्विद्या तुम कहाँसे सीखे, जिसमे मार्गण^२ समूह तो सामने आता है, पर गुण^३ दूसरी दिशाओमे जाता है ?” [१२६]

“तुम्हारे यशस्वी राजहसको पीनेके लिए ये सातो समुद्र प्याले जैसे हैं और उसके रहनेका पिण्डा तीन जगत् है ।” [१२७]

“विद्वान् ‘तुम सर्वदाता हो’ ऐसी तुम्हारी जो सदा स्तुति करते हैं, वह मिथ्या है, क्योंकि तुमने शत्रुओको पीठका दान और परस्त्रियोको हृदयका दान नहीं किया ।” [१२८]

“हे राजन्, जो भय तुम्हारे पास नहीं है, वह भय ही तुम सर्वदा अनेक शत्रुओको विधिपूर्वक देते हो, यह एक बड़ा आश्चर्य है ।” [१२९]

इस मतलबके श्लोको द्वारा दिवाकरने राजाकी स्तुति की । इसपर उस राजाने दिवाकरकी स्तुति करके कहा कि “जिस सभामे आप हो वह सभा धन्य है; अतः आप यही रहे ।” इस प्रकार राजाके कहनेपर दिवाकर उसके पास रहने लगे । एक बार वह राजाके साथ कुडगेश्वरके मन्दिरमे गये । मन्दिरके दरवाजेसे दिवाकर वापस लौटने लगे, जिसपर राजाने उनसे पूछा कि “आप देवकी अवज्ञा क्यों करते हैं, और नमस्कार क्यों नहीं करते ?” दिवाकरने कहा कि “हे राजन् ! मैं तुम्हें

१. अपूर्वैः धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः ।

मार्गणैः समन्वेति गुणो याति दिगन्तरम् ॥ १२६ ॥

अमी पानकुरंकोभाः सप्ताऽपि जलराशयः ।

यद्यशोराजहंसस्य पंजरं भुवनत्रयम् ॥ १२७ ॥

सर्वदा सर्वदोऽस्तीति मिथ्या संस्तूयते बुधैः ।

नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥ १२८ ॥

भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा ।

ददासि तच्च ते नास्ति राजन् ! चित्रमिदं महत् ॥ १२९ ॥

२. मार्गण अर्थात् बाण और याचक । विरोधपक्षमें मार्गणका अर्थ बाण समक्षता और उसके परिहारमें याचक समक्षता ।

३. गुण अर्थात् धनुष्यकी डोरी तथा लोकप्रियता आदि गुण । विरोधपक्षमें धनुष्यकी डोरी अर्थ लेना और उसके परिहारमें लोकप्रियता आदि गुण समक्षता ।

सच ही कहता हूँ कि यह देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकेगा। इसीलिए मैं नमस्कार नहीं करता। जो देव मेरे नमस्कारको सह सकते हैं, उन्हें मैं अवश्य नमन करता हूँ।” यह सुनकर कुतूहलवश राजाने कहा कि “चले, आप नमन करे, क्या होता है वह मैं देखता हूँ।” किसी भी उत्पातका उत्तरदायित्व राजाके ऊपर डालकर दिवाकरने शिवलिंगके सम्मुख बैठ उसकी स्तुति^१ उच्च स्वरसे इस प्रकार शुरू की

“हे प्रभो! अकेले तुमने जिस तरह तीनो जगत्को यथार्थरूपसे दिखलाया है, उस तरह दूसरे सभी धर्मप्रवर्तकोने नहीं दिखलाया। एक होनेपर भी चन्द्रमा जिस प्रकार जगत्को प्रकाशित करता है, उस प्रकार क्या सब उगे हुए तारे मिलकर प्रकाशित कर सकते हैं? तेरे वचनसे भी किसी-किसीको बोध नहीं होता, यही मुझे आश्चर्य लगता है। सूर्यकी किरणें किसे प्रकाशका कारण नहीं होती? अथवा इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि सूर्यकी प्रकाशमान किरणें स्वभावसे ही कठोर हृदयवाले उल्लूको अन्धकाररूप भासित होती हैं।” [१३९-४२]

इसके पश्चात् ‘न्यायावतार’, ‘वीरस्तुति’ और बत्तीस श्लोककी एक ऐसी तीस बत्तीसियाँ तथा ‘कल्याणमन्दिर’ नामकी ४४ श्लोककी प्रसिद्ध स्तुति उन्होंने रची। उनमेंसे ‘कल्याणमन्दिर’ का ११वाँ श्लोक बोलते ही धरणेन्द्र नामका देव उपस्थित हुआ और उसके प्रभावसे शिवलिंगमेंसे धुआँ निकलने लगी, जिससे दोपहरके समय भी रात जैसा अन्धेरा छा गया। इससे लोग घबरा गये और भागते-भागते जहाँ-तहाँ टकराने लगे। इसके पश्चात् उस शिवलिंगमेंसे अग्निकी ज्वाला निकली और अन्तमें पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रकट हुई। इस घटनासे राजा प्रतिबोधित हुआ और बड़े भारी उत्सवके साथ विशाला (उज्जयिनी) में दिवाकरका प्रवेश कराकर जैन शासनकी प्रभावना की। इस

१. प्रकाशित त्वयैकेन यथा सम्यग् जगत्त्रयम् ।

समस्तैरपि नो नाथ परतीर्थाधिपैस्तथा ॥ १३९ ॥

विद्योतयति वा लोकं ययैकोऽपि निशाकरः ।

समुद्गतः समग्रोऽपि तथा किं तारकागणः ? ॥ १४० ॥

त्वद्वाक्यतोऽपि केषाचिदबोध इति मेऽद्भुतम् ।

भानोर्मरीचयः कस्य नाम नाऽऽलोकहेतवः ॥ १४१ ॥

नो वाऽद्भुतमुलूकस्य प्रकृत्या विलम्बचेतसः ।

स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वत कराः ॥ १४२ ॥

घटनासे सधने दिवाकरके बाकीके पाँच वर्ष क्षमा करके उन्हें गुप्तवासमेंसे सिद्धसेन दिवाकरके रूपमें जाहिर किया। वहाँ शिवलिंगमेंसे कुछ समयतक साँपके फन प्रकट होते रहे, जिन्हे बादमें मिथ्या-दृष्टि लोग पूजते थे।

दिवाकरने एक बार राजासे पूछकर गीतार्थ शिष्योंके साथ दक्षिणकी ओर विहार किया और भडोच नगरके बाहरके एक ऊँचे भागपर आ पहुँचे। वहाँ नगर एवं गाँवकी गौओकी सँभाल रखनेवाले ग्वाले धर्म सुननेकी इच्छासे दिवाकरके पास इकट्ठे हुए। उनके आग्रहपर दिवाकरने तुरन्त ही प्राकृत भाषामें उस सभाके योग्य एक रासा बनाकर तालके साथ तालियाँ बजाते-बजाते और गोल धूमते हुए गाकर सुनाया। वह रासा इस प्रकार है :

न वि मारिअइ न वि चोरिअइ,
परदारह सगु निवारिअइ ।
थोवाह वि थोव दाअइ,
वसणि दुगु दुगु जाइयइ ॥ १६१ ॥

अर्थात् किसीको मत मारो, चोरी न करो, परस्त्रीका सग छोड़ो और थोडेमेंसे भी थोड़ा दान करो, जिससे दुख जल्दी दूर हो। दिवाकरके वचनसे ज्ञानप्राप्त उन ग्वालोंने वहाँ उनकी स्मृतिके लिए 'तालरासक' नामका एक सम्पन्न गाँव बसाया। दिवाकरने उस गाँवमें मन्दिर बनाकर ऋषभदेवकी मूर्तिकी स्थापना एवं प्रतिष्ठा की, जिसकी पूजा इस समय भी लोग करते हैं।

इस प्रकार प्रभावना करके दिवाकर भडोच गये। वहाँ बलमित्रका पुत्र वनजय राजा था। उसने दिवाकरका बहुमान किया। एक बार उस राजाके ऊपर बहुत-से राजाओंने चढाई की और उसे घेर लिया। राजा घनजय डरकर दिवाकरकी शरणमें आया। उन्होंने सरसोंके दाने मंत्रित करके तेलके कुप्पेमें डाले। वे सब मनुष्यरूप धारण करके बाहर निकले। उनका सैन्य बनाकर राजाने शत्रुओंका नाश किया। इस तरह सेना बनानेसे दिवाकरका सिद्धसेन नाम सार्थक हुआ। राजा भी अन्तमें दिवाकरके पास दीक्षित हुआ।

इस प्रकार प्रभावना करते-करते दिवाकर दक्षिणापथमें आये हुए प्रतिष्ठान-पुर (पेठन) में जा पहुँचे। यहाँ योग्य शिष्यको अपने पदपर स्थापित करके प्रायोपवेशन (अर्चन) पूर्वक मरकर वह स्वर्गवासी हुए।

इसके पञ्चात् उस नगरमेंसे कोई वैतालिक (चारण, भाट) विशालामें गया और वहाँ सिद्धश्री नामकी दिवाकरकी साव्वी बहनसे मिला। वहाँ उसने दो पाद

उस साध्वीके समक्ष कहे, जिनका भाव समझकर उस साध्वीने उत्तरार्ध पूरा किया। वह समग्र श्लोक इस प्रकार है

“स्फुरन्ति वादिखद्योता साम्प्रतं दक्षिणापथे ।

नूनमस्तगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकर” ॥ १७५ ॥

अर्थात् इस समय दक्षिणापथमे जुगनू-जैसे वादी चमक रहे हैं। निश्चय ही वादी सिद्धसेन (रूपी) दिवाकर (सूर्य) अस्त हुआ होगा।

इसके बाद वह साध्वी भी आराधनापूर्वक स्वर्गवासिनी हुई।

पादलिप्तसूरि और वृद्धवादीके विद्याधर वशका नियामक-प्रमाण यहाँ कहा जाता है विक्रमादित्यके बाद १५० वर्षपर जाकुटि श्रावकने रेवताचलके शिखरपर स्थित नेमिनाथके मन्दिरका उद्धार किया, तब वर्षाके कारण जीर्णशीर्ण मठकी प्रशस्तिमेसे यह वृत्त उद्धृत किया गया है। इस तरह प्राचीन कवियों द्वारा रचित शास्त्रमेसे सुनकर वृद्धवादी और सिद्धसेन दोनोंका चरित यहाँ कहा गया है। वह हर्ष एव बुद्धिकी वृद्धि करे।

श्रीचन्द्रप्रभसूरिके शिष्य प्रभाचन्द्र है। राम पिता और लक्ष्मी माताके पुत्र प्रभाचन्द्र द्वारा रचित पूर्वर्षिके चरित्रमे वृद्धवादी एव दिवाकर विषयक आठवाँ यह व्याख्यान, जिसे प्रद्युम्नसूरिने जाँचा है, पूरा हुआ।

प्रबन्धोंमें वर्णित घटनाओंमें कभी-बेशी

कथावलीमे आये हुए सिद्धसेन विषयक गद्यप्रबन्धमे मात्र जिन चार बातोंका निर्देश है, वे इस प्रकार हैं १ प्रणामके बदलेमे राजाको धर्मलाभ और राजा द्वारा दिवाकरको कोटि द्रव्यका अर्पण, २ प्राकृत आगमका संस्कृतमे उल्था करनेका विचार और उसके दण्डस्वरूप सघ द्वारा उनके लिए पाराचिक प्रायश्चित्तका विधान, ३ अज्ञातवेशमें दिवाकर द्वारा कुडगेश्वरकी स्तुति और बत्तीसियों द्वारा उसमेसे पार्श्वनायकी प्रतिमाका प्रकट होना, ४ दिवाकरका दक्षिणमें विचरना और वही स्वर्गवासी होना।

पूर्वसूचित खण्डित पद्यप्रबन्धमे गद्यप्रबन्धमे आयी हुई उक्त चार बातोंमेसे तीन बातें तो हैं ही, किन्तु उसमे इनके अतिरिक्त और भी दूसरी तीन बातें हैं। १ सिद्धसेनका वृद्धवादीके साथ शास्त्रार्थ और उसमे हारकर अन्तमें वृद्धवादीका शिष्य होना, २ किसी आपत्तिग्रस्त राजाको धन एव सैन्य द्वारा सहायता करना और इसके परिणामस्वरूप विजयी उस राजा द्वारा सम्मानित होना, ३ राज-सत्कारके लोभमें पडना और अन्तमे गुरु वृद्धवादीके उपदेशसे सावधान होना।

इन छोटी वातोंका प्रभावकचरित्रमें उल्लिखित उन-उन वातोंके साथ थोड़ा-सा फेरफार तो है ही, परन्तु उक्त पद्यप्रवन्धकी प्रतिके कुछ पत्रे न होनेसे सिद्धसेनने किस राजाको धन एवं सैन्यकी मदद दी थी, यह ज्ञात नहीं होता। इनके अतिरिक्त सिद्धसेनके स्वर्गवासके स्थानके विषयमें भी उसमें कोई उल्लेख नहीं देखा जाता।

चतुर्विंशतिप्रवन्धकी रचना प्रभावकचरित्रके आधारपर हुई है, अतः प्रभावकचरित्रमें आयी हुई सिद्धसेन-विषयक सभी वातें चतुर्विंशतिप्रवन्धमें लगभग थोड़ा-थोड़ा हैं, फिर भी उसमें प्रभावकचरित्रमें अनुपलब्ध दो वातें और मिलती हैं। पहली वात है महाकालप्रासादकी उत्पत्तिको दिवाकर द्वारा विक्रम राजाके समक्ष वर्णन और दूसरी वात है ओंकारनगरमें शैवमन्दिरकी स्पर्वाके कारण दिवाकर द्वारा विक्रम राजाके पाससे जैन प्रासादको बनवाना।

अब अन्तिम पाँचवाँ प्रवन्ध ले। यह प्रवन्ध 'प्रवन्धचिन्तामणि' में आये हुए विक्रमार्कप्रवन्धके अन्तर्गत सिद्धसेनका प्रसंग उपस्थित होनेपर प्रसंगोपात्त आया है। उसमें आयी हुई वृद्धवादी और सिद्धसेनकी घटना उपर्युक्त चारों प्रवन्धोंमें उल्लिखित घटनाओंसे सर्वथा जुड़ी पड़ जाती है। जैसे कि १ प्रभावकचरित्र वृद्धवादीको स्कन्दिलाचार्यका शिष्य कहता है, जब कि प्रवन्धचिन्तामणिका टिप्पण उन्हें आर्य सुहस्तीका शिष्य बतलाता है, २ प्रभावकचरित्र आदिके ऊपरसे सिद्धसेन उज्जयिनीकी तरफके रहनेवाले मालूम होते हैं, जब कि प्रवन्धचिन्तामणि उन्हें दक्षिण कर्णाटकका निवासी कहता है, ३. प्रभावकचरित्र आदि चारों प्रवन्ध स्तुति द्वारा पार्श्वनाथकी प्रतिमाके प्रकट होनेकी बात कहते हैं, जब कि प्रवन्धचिन्तामणि दिवाकरकी स्तुतिके प्रभावसे शिवलिंगमेंसे ऋषभदेवकी प्रतिमा प्रकट हुई, ऐसा कहना है, ४ प्रभावकचरित्र आदि चारों प्रवन्धोंमें धर्मलभके बदलेमें विक्रम द्वारा दिये गये दानका उपयोग चैत्योद्धार आदि कार्योंमें किये जानेका उल्लेख है, जब कि प्रवन्धचिन्तामणिका कहना है कि वह दान लोगोंका ऋण चुकानेमें प्रयुक्त हुआ था और इसके बाद ही विक्रम राजाने विक्रम सवत् प्रचलित किया था, ५ प्रभावकचरित्र आदिमें सिद्धसेन द्वारा देवपाल राजाको मदद करनेका वर्णन है, जब कि प्रवन्धचिन्तामणिमें वह मदद विक्रमको दी गयी थी ऐसा कथन है, ६ प्रभावकचरित्रमें सब अथवा स्यविरोने सिद्धसेनको प्रायश्चित्त दिया था ऐसा कहा गया है, जब कि प्रवन्धचिन्तामणिमें वह प्रायश्चित्त गुरु देते हैं।

इन पाँचों प्रवन्धोंमें सिद्धसेनकी कृतियोंके बारेमें जो भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं, उनके विषयमें हम आगे उर्वे प्रश्नके उत्तरमें लिखनेवाले हैं।

उक्त पाँच प्रबन्धोंकी कुछ न्यूनाधिकतावाली, कुछ फेरफारवाली और कुछ सर्वथा भिन्न हकीकतोंपरसे सिद्धसेनके जीवनके बारेमें सक्षिप्त और अविरোধी सार इस प्रकार निकाला जा सकता है

१ विद्वत्तामें उत्कृष्टता न होनेपर भी समयसूचकता, गम्भीरता और त्यागके बलपर वृद्धवादीने एकवचनी और महाविद्वान् सिद्धसेनको आकर्षित किया और शिष्य बनाया, २ दक्षिण भारतमें पैठनसे लेकर उत्तर भारतमें उज्जयिनीतकका विहारक्षेत्र, जिसमें भड़ोचका एक प्रमुख स्थान है, ३ विक्रमादित्य उपाधि धारण करनेवाले उज्जयिनीके अथवा दूसरे किसी राजाके साथ सिद्धसेनका गाढ सम्बन्ध, जिसमें धर्मप्रचार एवं धर्मरक्षाके लिए सिद्धसेन राजाश्रय लेते हैं, तो शत्रुके भयका निवारण करनेके लिए राजा दिवाकरका आश्रय लेता है, ४ प्राकृत आगमका सस्कृतमें उल्था करनेका सबसे पहले दिवाकरको विचार आना और उसके परिणामस्वरूप रुढिवादी सधकी ओरसे कठोर दुःखका सहना, ५ दिवाकरका सस्कृत विषयक पाण्डित्य और उनके द्वारा सस्कृत ग्रन्थोंका रचा जाना; ६ दिवाकरका राजसत्कारमें लुब्ध हो साधुधर्ममेंसे शिथिल होना और पुन गुरु द्वारा सावधान हो जाना, ७ दक्षिण देशमें दिवाकरका स्वर्गवासी होना।

विचारणीय मुद्दे और उनकी चर्चा

प्रबन्धोंके उक्त सारांशमेंसे विचारणीय एवं परीक्षणीय बातें इस प्रकार हैं :

१ विद्याधर आम्नाय किससे, कब और कहाँसे निकला ?

२ (क) उस गच्छमें होनेवाले आचार्योंमें पादलिप्त और स्कन्दिल आचार्य आते हैं या नहीं ? उनका समय कौनसा है ? उन दोनोंके बीच समयका अन्तर कितना है ? (ख) वृद्धवादी स्कन्दिलके शिष्य थे या सुहृद्की ? (ग) दिवाकर और वृद्धवादीका समय कहाँसे कहाँतक सम्भव है ?

३ दिवाकरका कात्यायन गोत्र और माता-पिताका जो नाम मिलता है, उसका मूल आधार क्या है ? और दिवाकरकी वहन साध्वी थी ?

४ उनके समयमें चित्रकूटकी स्थिति क्या थी ? और वह चित्रकूट कौनसा ? ग्वालोक द्वारा बसाया गया तालरासक गाँव कहाँ आया और इस समय उसकी क्या स्थिति है ? कर्मरिनगर कहाँ आया ? उसका मूल नाम क्या होगा ? वहाँका राजा देवपाल कौन होगा ? और उसपर चढ़ाई करनेवाला विजयवर्मा राजा कौन था ? इन सबका सिद्धसेनके समयके साथ मेल।

५ दिवाकरको पारायिक प्रायश्चित्त देनेवाले उनके गुरु ही थे अथवा सध या स्यविर ? यदि स्यविर हो, तो वे कौन थे ?

६ कुङ्गेश्वर और महाकाल एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, और उन दोनोंका इतिहास क्या है ?

७ (क) दिवाकरकी कृतियाँ कितनी हैं और वे कौन-कौनसी हैं ?
(ख) सन्मतितर्क वृद्धवादीके शिष्य दिवाकर सिद्धसेनकी कृति है या दूसरे किसी सिद्धसेनकी ? सन्मति दिवाकरकी कृति है, ऐसा टीकाकार अभयदेवके अतिरिक्त दूसरे किसीका प्राचीन उल्लेख मिलता है ? (ग) गन्धहस्ती और दिवाकर एक ही हैं या भिन्न-भिन्न ? और गन्धहस्तीका सबसे प्राचीन उल्लेख आचारागटीकाके सिवा कहां है ? (घ) कुमुदचन्द्र दिवाकरका नाम था, इसका क्या आवार ?

८ वृद्धवादी और दिवाकरके समयमें भडोच, उज्जयिनी और प्रतिष्ठानपुरके राज्यकर्ता कौन थे ?

९ भडोचके पास तालरोसक गाँव ग्वालोने बसाया था और उसमें ऋषभदेवकी मूर्तिको इस समय भी प्रणाम किया जाता है, ऐसा प्रभावकचरित्रका उल्लेख है। इसकी ऐतिहासिकता जाँचना।

१० विक्रमादित्यके पश्चात् थोड़े ही समयमें किसी श्रावकके द्वारा गिरनारमें कुछ उद्धारकृत्य किये जानेका, वहाँके प्राचीन मठमेंसे प्रशस्तिके मिलनेका तथा उस प्रशस्तिमेंसे कुछ वृत्तान्त उद्धृत करनेका जो सूचन प्रभावकचरित्रमें है, उसका सच्चा इतिहास क्या है ? प्रभावकचरित्र तथा प्रवन्वचिन्तामणिकी हकीकतोंका प्राचीनतम आधार क्या है तथा जुदी पडनेवाली इन दोनों हकीकतोंमेंसे सच्ची हकीकत कौनसी है ?

पट्टावलियों, चरित्रात्मक प्रवन्वों और दूसरे स्थानोंमें आचार्योंके बारेमें जो तथ्य उपलब्ध होते हैं, वे अपूर्ण और बहुतसे स्थानोंपर परस्पर विरुद्ध जाते हैं, अतः वे सम्पूर्ण रूपसे विश्वस्त तो नहीं हैं। इसीलिए उनके आधारपर उपर्युक्त विचारणीय बातोंका सम्पूर्ण विश्वसनीय स्पष्टीकरण करना इस समय अशक्य है, फिर भी इन हकीकतोंके ऊपरसे तथा दूसरे पूर्वापर विचारपरसे हम इन समय उनके बारेमें जो सम्भावनाएँ कर सके हैं, उन्हींको यहाँ संक्षेपमें उपस्थित करते हैं।

१. वृद्धवादीके गुरु आर्यस्कन्दिल विद्यावरवर आम्नायमें हुए, इतना ही उल्लेख प्रभावकचरित्रमें है। इस उल्लेखमें जिस 'विद्यावरवर आम्नाय' शब्दका प्रयोग किया गया है, वह विद्यावर-गच्छ या विद्यावर-शाखाका बोधक होना चाहिए।

वज्रस्वामीके शिष्य वज्रसेन आदि चार शिष्योंमेंसे विद्यावर नामक शिष्यसे

विद्यावर गच्छके निकलनेका उल्लेख वज्रके प्रबन्धमे प्रभावकचरित्रकारने किया है। आर्यसुहृस्तीके शिष्य सुस्थित-सुप्रतिवद्धके पाँच शिष्योंमेंसे विद्याधर-गोपाल नामक शिष्यसे विद्याधरी शाखाके निकलनेका उल्लेख कल्पसूत्रकी स्थविरावली^१ में है। उक्त विद्याधर गच्छ और विद्याधरी शाखा दोनों, उनके प्रवर्तकोंके नीस तथा समयका अन्तर देखनेपर, भिन्न ही हो ऐसा लगता है। प्रचलित परम्पराके अनुसार विद्याधरी शाखाके विक्रमपूर्व प्रथम शतीमे निकलनेकी सम्भावना है, जब कि विद्यावर गच्छ विक्रमकी तीसरी शतीमें निकला होगा, ऐसा सम्भव है। इस तरह उस शाखा और इस गच्छके बीच लगभग तीन सौ वर्ष जितना अन्तर रहता है। इनकी उत्पत्ति किस-किस स्थानमे और किस-किस कारणसे हुई, इस विषयमें तो तनिक भी विश्वस्त जानकारी उपलब्ध नहीं होती। आर्यस्कन्दिल उक्त शाखा या गच्छ दोनोंमेंसे किसमे हुए, इसके बारेमे भी निश्चयपूर्वक कहनेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है, फिर भी प्रभावकचरित्रकारने स्कन्दिलको विद्याधरवर आम्नायमे और पादलिप्तसूरिके कुलमे होनेका वर्णन किया है। यदि यह वर्णन कुछ विश्वास रखने जैसा हो, तो ऐसा कहना चाहिए कि स्कन्दिल विद्याधरगोपालसे निकली हुई विद्याधर शाखामे होने चाहिए, क्योंकि पादलिप्तका जो सम्बन्ध और जो समय^२ माना जाता है, वह वज्रके साथ और बहुत हुआ तो वज्रके शिष्य वज्रसेनके साथ मेल खाता है। अतः पादलिप्तके कुलमे होनेवाले स्कन्दिल वज्रसेनके शिष्य विद्याधरसे निकले हुए विद्याधर गच्छमें हुए हैं, ऐसा माननेके बदले उसकी अपेक्षा प्राचीन समयसे चली आती विद्याधरशाखामे ही हुए हैं, ऐसा मानना अधिक सगत होगा। इस विचारणामे भ्रान्ति न हो, तो पहले मुद्देके बारेमें यह फलित होता है कि दिवाकर, वृद्धवादी एव स्कन्दिलके विद्याधरवर आम्नायसे अभिप्रेत है विद्याधर गोपालसे निकली हुई शाखा, न कि वज्रसेनके शिष्य विद्याधरसे निकला हुआ विद्याधर गच्छ।

२ दूसरे मुद्देके तीन अंशोंको क्रमसे लें। (क) नन्दीसूत्रकी^३ स्थविरा-

१. प्रभावकचरित्र श्लो० १९६-८।

२. “अरेहितो ण विज्जाहरगोवालेहितो कासवगुत्तेहितो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निगया।”

कल्पसूत्र मूल पृ० ५५.

३. निवर्णिकलिका प्रस्तावना पृ० १६।

४. गाथा ३३, पृ० ५१।

वलीमें अनुयोगवर स्कन्दिलचार्यका नाम आता है, परन्तु उसमें गच्छ या शङ्काके विषयमें तर्निक भी निर्देश नहीं है; जब कि कल्पसूत्रकी स्वविशवलीमें विद्याधरी शाखाका निर्देश तो आता है, किन्तु उसमें स्कन्दिलका कहीं नामनक नहीं है। पादलिप्तका नाम तो उक्त दोनोंमेंसे किसी भी स्वविशवलीमें नहीं आता। अतः पादलिप्त एव स्कन्दिल दोनों विद्याधर आम्नायमें हुए हैं, इस बातके लिए प्रभावकचरित्रसे अधिक प्राचीन आधार दूसरा कोई नहीं है। पादलिप्तका समय विक्रमकी पहली-दूसरी शताब्दी होगा, ऐसा परम्पराको देखनेपर लगता है और वृद्धवादीके गुरु प्रस्तुत स्कन्दिल यदि अनुयोगवरके रूपमें निर्दिष्ट तथा भावुरी वाचनाके सूत्रधारके रूपमें प्रख्यात स्कन्दिल ही हों, तो उनका समय विक्रमकी चौथी सदीके आसपास समझना चाहिए। अतः पादलिप्त एव स्कन्दिलके बीच दो सौ वर्षसे कम अन्तर नहीं होगा।

(ख) प्रभावकचरित्र वृद्धवादीको स्कन्दिलका शिष्य और प्रबन्धचिन्तामणिका टिप्पण उन्हें आर्यसुहस्तीका शिष्य कहता है। इनमेंसे प्रभावकचरित्रका ही कथन सगत प्रतीत होता है। सम्प्रतिके धर्मगुरु सुहस्तीके अतिरिक्त दूसरे आर्यसुहस्ती जैन-साहित्यमें प्रसिद्ध नहीं हैं और यह आर्यसुहस्ती विक्रमसे दो सौ वर्ष पहले होनेसे उनके साथ वृद्धवादीके समयका मेल बैठे ही नहीं सकता। ऐसा लगता है कि प्रबन्धचिन्तामणिका कथन महाकाल तीर्थके साथ दिवाकर और सुहस्तीके सम्बन्धकी आन्त परम्परामेंसे शायद उत्पन्न हुआ हो।

(ग) इस विभागसे सम्बद्ध समयका विचार 'समर्थ' शीर्षकके नीचे प्रारम्भमें ही आ गया है।

३ दिवाकरका कात्यायन गोत्र, उनके माता-पिताके नाम और वहनके साध्वी होनेकी बात इन सबके लिए इस समय प्रभावकचरित्रकी अपेक्षा कोई अधिक पुराना आधार हमारे पास नहीं है।

१. मुनि श्री कल्याणविजयजीका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित लेख, पृ० १०, अंक ४।

२. प्रबन्धचिन्तामणिमें सिद्धसेनका या वृद्धवादीका कोई खास अलग प्रबन्ध नहीं है, परन्तु विक्रमार्कके प्रबन्धमें उसके साथ जितना सम्बन्ध है, उतना ही सिद्धसेनका उल्लेख है। इसीलिए सम्पादकने सिद्धसेन और उनके गुरु वृद्धवादीका कथानक किसी प्रबन्धान्तरसे लेकर उस प्रबन्धके टिप्पणमें रखा है। उस टिप्पणमें वृद्धवादीको आर्यसुहस्तीका शिष्य कहा है। देखो पृ० १६-२३।

४. इन्ही दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तके साथ सकलित चित्रकूट मेवाडका इतिहासप्रसिद्ध चित्तौड़ ही अधिक सम्भव है, न कि उत्तर प्रदेशमें आया हुआ रामायणप्रसिद्ध चित्रकूट । इस चित्रकूटकी उनके समयमें क्या स्थिति थी, इसके बारेमें कोई खास इतिहास नहीं मिलता । ग्वालो द्वारा बसाये गये तालरसिक गाँव और गौड़ देशके कर्मारग्राम^१के विषयमें प्रभावकचरित्रमें जो निर्देश हैं, उनसे अधिक कुछ भी जानकारी उनके विषयमें अबतक नहीं मिली और दिवाकरके समयके साथ जिसका मेल बैठ सके, ऐसा कोई देवपाल अथवा विजयवर्मा अबतक ज्ञात नहीं हुआ ।

५ इस मुद्देमें समाविष्ट प्रश्नोंके विषयमें कुछ भी निश्चित रूपसे कहना इस समय सम्भव नहीं है ।

६. ऐसा जान पड़ता है कि कुडंगेश्वर और महाकाल^२ ये दोनों नाम एक ही मन्दिर या तीर्थको लक्ष्यमें रखकर प्रयुक्त हुए हैं ।^३ आवश्यकचूर्णि जैसे

१. भगवान् महावीरके विहारक्षेत्रमें कर्मारग्रामका उल्लेख आता है । यह कर्मारग्राम कुण्डग्रामके पास ही होना चाहिए, क्योंकि मुहूर्त दिन बाकी रहने पर भगवान् कर्मारग्राममें गये, ऐसा उल्लेख आता है (आचारांग टीका पृ० ३०१ द्वि०) । यह कर्मार और गौड़ देशका कर्मार एक है या भिन्न, यह विचारणीय है ।

२. 'त इयाणि महाकाल जात लोकेण परिगर्हितं ।'

आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पत्र १५७

३. डॉ० काउचे 'विक्रमस्मृति ग्रन्थ' (वि० सं० २००१) में 'जैन-साहित्य और महाकाल-मन्दिर' नामक लेख (पृ० ४०१) में विस्तृत समीक्षाके पश्चात् इस निर्णयपर आयी है कि उज्जयिनीमें कुडंगेश्वर और महाकाल ये दो मन्दिर भिन्न-भिन्न थे । कुडंगेश्वर मन्दिर जैन मुनि अवन्तीसुकुमालके मृत्युस्थानपर उनके पुत्रने बनवाया था ।

स्कन्दपुराणके अवन्तीखण्डमें कुटुम्बेश्वर महादेवके तीन उल्लेख हैं । (१.१०; १.६७; २.१५) यह मन्दिर आज भी गन्धवती घाटके पास उज्जयिनीके सिंहपुरी नामक भागमें विद्यमान है । मूलमें यही मन्दिर अवन्तीसुकुमाल मुनिका स्मारक-मन्दिर होना चाहिए, परन्तु आसपास श्मशानभूमि एवं निर्जन जंगल होनेके कारण जैनोंने उसकी उद्देक्षा की होगी । बादमें जीर्णोद्धार या दूसरे परिवर्तनके समय हिन्दुओंने श्मशानके अधिष्ठाताके रूपमें वहाँ एक लिंगकी स्थापना की होगी । उसका पुनः उद्धार सिद्धसेनने विक्रमादित्य राजा द्वारा

- प्राचीन ग्रन्थोंके आधारपर-आचार्य हेमचन्द्र^१ आदि जिन-जिन विद्वानोंने इस विषयमें लिखा है, उन्होंने यही कहा है कि क्यारिकाकुडग स्थानमें अवन्ती-सुकुमाल नामके मुनिकी मृत्यु हुई। इसके बाद उस स्थानमें पिताकी सस्मृतिके लिए उनके पुत्रने एक मन्दिर बँधवाया, जो महाकालके नामसे स्थात हुआ। इस तरह, जैन ग्रन्थोंके अनुसार महाकाल तीर्थकी उत्पत्ति विक्रमपूर्व दूसरी-शताब्दीमें हुए आर्यसुहस्तीके शिष्य अवन्तीसुकुमालकी मरणसमाधिमेंसे हुई है, और उस स्थानको कुडग अर्थात् झाडीके^२ बीच आनेसे कुडगेश्वर भी कहा है। वह स्थान सिप्रा नदीके समीप है, ऐसा भी उन ग्रन्थोंमें कथन है।

इस समय जो स्थान महाकालके नामसे प्रसिद्ध है, वह सिप्राके पूर्व किनारे-पर आये हुए पिशाचमुक्तेश्वर घाटके ऊपर आया है। एक समय अवन्तीका

पार्श्वनायकी प्रतिमाको लिंगमेंसे (लिंगके स्थानमें) स्थापित करके किया होगा। इसके पश्चात् पुनः वह मन्दिर हिन्दुओंके हाथमें गया और वहाँ पुनः लिंगकी स्थापना हुई तथा कुडगेश्वरके बदले उसका पुराणप्रसिद्ध नाम भी प्रचारमें आया।

बादके जैन लेखकोंने उज्जयिनीके प्रसिद्ध महाकाल-मन्दिरकी उत्पत्ति इस कुडगेश्वरके जैन मन्दिरमेंसे हुई है ऐसा बताया है, परन्तु ये सब उल्लेख बहुत बादके हैं। सिद्धसेन और कालिदास दोनों यदि समुद्रगुप्त एवं उसके पुत्र, चन्द्रगुप्त द्वितीयके राज्यकालमें हुए हों, तो सिद्धसेनने जिसका हाल ही में जैनमन्दिरके रूपमें पुनश्चकार कराया हो, उसमेंसे पुनः थोड़े समयके बाद हिन्दू-मन्दिरके रूपमें परिवर्तित महाकाल मन्दिरका कालिदास (मेघदूत ३५; रघुवंश ६.३२) अतिमान-पूर्वक उल्लेख करे, यह सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त, गुप्तवंशके राजा 'परम भागवत' थे, अतः अपने कुलदेव जैसे महादेवके मन्दिरको परिवर्तित करके जैन मन्दिर बना दें, यह भी असम्भवित है। इसलिए सिद्धसेनने जिस मन्दिरका जैन मन्दिरके रूपमें पुनश्चकार विक्रमादित्य द्वारा कराया, वह मन्दिर महाकालके मन्दिरसे दूर कोई दूसरा ही मन्दिर होना चाहिए। पहले जैन मन्दिर होनेसे सिद्धसेनके कहनेसे राजाने प्रसन्नतापूर्वक उसका पुनश्चकार कराया होगा, और यह सम्भव भी है। इसके सिवा, आज भी ये दोनों मन्दिर भिन्न-भिन्न स्थातोंमें विद्यमान हैं। यह घटना भी ये दोनों मन्दिर पहले ही से भिन्न थे, इस बातकी पुष्टि करती है।

१. परिशिष्ट-पर्व सर्ग ११, श्लोक १५१-७७।

२. कुडगकी वृक्षलताग्रहणम्। अमरकोश काण्ड ३, श्लोक १७।

महाकाल तीर्थ बहुत ही प्रसिद्ध था ।^१ स्कन्द, मत्स्य और नारसिंह पुराणोमें उसका वर्णन आता है । महाकवि कालिदासने अपने मेघदूत^२ और रघुवशमें^३ महाकालप्रासादका अत्यन्त भावपूर्वक निर्देश किया है । मुसलमानकालमें सोमनाथकी भाँति इसका भी विनाश किया गया, किन्तु मराठाकालमें पुनः इसका उद्धार हुआ । इस समय यह ब्राह्मणोंके अधिकारमें है, परन्तु जैन-परम्परा इसे वस्तुतः अपना तीर्थ बताती है । हमारे देशमें पहले ही से ऐसा होता आया है कि किसी विशिष्ट स्थानमें एक धर्मका तीर्थ स्थापित होनेपर दूसरे धर्मके लोग भी वहाँ अपने पैर जमाते हैं और धीरे-धीरे उस एक ही तीर्थपर अथवा उस तीर्थ-स्थानके आसपास जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि पथोंके मन्दिर खड़े हो जाते हैं । कई बार तो इन विरोधी पथोंका एक ही मन्दिरके ऊपर अधिकार बदलता रहता है । ब्राह्मण ग्रन्थोंमें महाकालकी महत्ताका, जैन ग्रन्थोंमें असलमें महाकाल तीर्थ जैन होनेका तथा ह्युएनसंगके^४ कथनके अनुसार उसके समयमें अवन्तीमें बौद्ध-धर्मकी आवादी होनेका वर्णन देखनेपर ऐसा सात होता है कि उज्जयिनीमें महाकाल तीर्थ इतना अधिक प्रतिष्ठित हो गया था कि प्रत्येक सम्प्रदायकी भावना उसके चारों ओर जम गयी थी । जिस तरह अतिप्राचीन कालसे प्रतिष्ठित काशीतीर्थके बारेमें जैन, बौद्ध एवं वैदिक सम्प्रदायवालोंने अपनी-अपनी भावना स्थिर की है, उसी तरह महाकालके प्रति भी उनकी भावना स्थिर हुई थी । देवाकरकी स्तुतिके कारण शिवलिंगमेंसे जैन मूर्तिके प्रकट होनेका कथन ऐसी ही भावनाका द्योतक है ।

७ (क) हमने जिन पाँच प्रबन्धोंके विषयमें ऊपर कहा है, उनमेंसे सबसे प्राचीन और सक्षिप्त गद्यप्रबन्धमें सिद्धसेनकी कृतियोंके बारेमें सिर्फ इतना ही ज्ञान है कि “वत्तीसियों द्वारा स्तुति आरम्भ की और अनुक्रमसे वत्तीसवीं वत्तीसी पूर्ण होते ही पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रकट हुई ।” यही बात उसके बादके

१. देखो, बंगीय विश्वकोशमें ‘महाकाल’, ‘उज्जयिनी’ और ‘अवन्ती’ शब्द ।

(२. मेघदूत, पूर्वसन्देश, श्लो० ३४ ।

३. रघुवश, सर्ग ६, श्लो० ३२ ।

४-५. देखो, बंगीय विश्वकोशमें ‘महाकाल’, ‘उज्जयिनी’ और ‘अवन्ती’ शब्द ।

६. “सिद्धसेणेण पारद्धा वत्तीसियाहिं जिणथुई.....कुडगेसरसीसाओ गीसरती पाससामिपडिमा कमकमेण य वत्तीसइमवत्तीसियासमत्तीए पडिपुण्णं, णि च द्दूण विम्हिओ रायाई लोओ ।” कथावली (लिखित) ।

लिखित पद्यप्रबन्धमे^१ भी है। गद्यप्रबन्धमे वत्तीसियोंकी वत्तीस सख्या अर्थात् समझी जाती है, जब कि इसमे तो 'वत्तीस वत्तीसियाँ' ऐसा स्पष्ट निर्देश है। इस पद्यप्रबन्धके पश्चात् रचित प्रभावकचरित्रमे^२ वत्तीस स्तुतियों द्वारा स्तुति करनेका कथन तो है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त इन वत्तीस वत्तीसियोंका थोड़ा विवरण भी दिया है। वह इस प्रकार है - एक वीरस्तुति, एक न्यायावतार और तीस वत्तीसियाँ। इन वत्तीस वत्तीसियोंके अतिरिक्त ४४ श्लोक-परिमाण 'कल्याणमन्दिर' द्वारा दिवाकरने स्तुति की थी, ऐसा भी उसमे उल्लेख है। इस तरह जिस 'कल्याणमन्दिर' का नाम पहलेके दो लिखित प्रबन्धोमे नहीं है, वह प्रभावकचरित्रमे दाखिल होता है और शायद इसी कारण इन दो प्रबन्धोमे सिद्धसेनका कुमुदचन्द्र नाम नहीं है, परन्तु प्रभावकचरित्रमे 'दीक्षा' देते समय गुरु वृद्धवादीने सिद्धसेनका कुमुदचन्द्र नाम रखा' ऐसा कथन है। यहाँ पाठकोको याद रखना चाहिए कि कल्याणमन्दिरके अन्तिम पद्यमे^३ भगवान्‌के विगेषणके रूपमे जो 'कुमुदचन्द्र' शब्द आता है, उसे श्लेषात्मक मानकर उसपरसे जैन-परम्पराके विद्वान् सिद्धसेनका दूसरा नाम कुमुदचन्द्र सूचित करते हैं। प्रबन्धचिन्तामणिमें वत्तीसियोंकी सख्या अथवा कल्याणमन्दिरका उल्लेख ही नहीं है, परन्तु चतुर्विंशति-प्रबन्धमे वत्तीसियोंकी वत्तीस सख्या तथा कल्याणमन्दिरका पुनः उल्लेख आता है। इस प्रकार पाँचो प्रबन्धोके उल्लेखोको देखनेपर अधिकसे अधिक इतना ही फलित होता है कि वत्तीस वत्तीसियाँ और कल्याणमन्दिर इस तरह कुल तैत्तीस कृतियाँ दिवाकरकी हैं।

'न्यायावतार' वत्तीस श्लोक-परिमाण है। प्रभावकचरित्रके कथनानुसार वह भी वत्तीसमेसे एक वत्तीसी है। सबसे प्राचीन प्रबन्धोमें वत्तीसियोंकी वत्तीस

१. "तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणथुई समत्ताहि ।

वत्तीसाहि वत्तीसियाहि उद्दामसद्देण ॥ यथा"

इस गायकके अनन्तर पृ० २३ के टिप्पण नं० १ में उल्लिखित चार श्लोक आते हैं।

"एवं कमंकेण अंतिमवत्तीसियाय पज्जन्ते ।

पडियुन्नगोवगा पयंसिया पासपटिम ति ॥"

लिखित पद्यप्रबन्ध

२ देखो पृ० २३ ।

३. "जननयनकुमुदचन्द्र" इत्यादि ।

संख्याका जो निर्देश है उसमें न्यायावतारको समावेश होता है या नहीं, यह जाननेका कोई भी साधन इस समय हमारे पास नहीं है, परन्तु यदि उस वत्तीसकी संख्यामें न्यायावतार न आता हो, तो उसे वत्तीसके अलावा गिननेपर कल्याण-मन्दिरके साथ कुल ३४ संस्कृत रचनाएँ, प्रबन्धोपरसे, दिवाकरकी फलित होती हैं। इस समय दिवाकरके नामपर चढ़ी हुई २१ वत्तीसियाँ, न्यायावतार एवं कल्याणमन्दिर इस प्रकार कुल तेईस संस्कृत कृतियाँ उपलब्ध हैं। प्रभावक-चरित्रके कथनानुसार ३३ और न्यायावतारको अलग गिने तो ३४ कृतियोंमेंसे उपलब्ध २३ कम करनेपर शेष १० अथवा ११ कृतियाँ आज लुप्तप्राय हैं। वे लुप्त कृतियाँ किस-किस विषयकी थीं तथा उनका नाम क्या था, यह भी अज्ञात है। कतिपय प्राचीन एवं नवीन ग्रन्थोंमें सिद्धसेनके^१ नामके साथ अथवा स्तुतिकार^२ विशेषणके साथ उद्धृत जो पद्य मिलते हैं, वे यदि इन्हीं दिवाकरके हों, तो ऐसी सम्भावना होती है कि वे पद्य लुप्त वत्तीसियोंके होंगे।

(ख) उक्त पाँचों ही प्रबन्धोंमें उल्लिखित कृतियोंमें सन्मतिप्रकरण नहीं आता। जिन वत्तीसियोंमें किसीकी स्तुति ही नहीं है और जिनमें अन्य दर्शनोंके एवं स्वदर्शनके मन्तव्योंका निरूपण तथा समालोचन है, ऐसी वत्तीसियाँ उक्त प्रबन्धोंमें स्तुतिरूप मानी गयी और उन्हें दिवाकरकी कृतिके रूपमें उनके जीवन-वृत्तान्तमें स्थान भी मिला, तो फिर स्वदर्शनका निरूपण करनेवाले तथा किसी भी रूपमें वत्तीसियोंसे न उतरनेवाले सन्मतिप्रकरणको दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तमें उनकी कृतिके रूपमें स्थान क्यों नहीं मिला, यह एक समस्या ही है। ऐसा होनेका कारण शायद यह हो सकता है कि स्तुतिकारके रूपमें दिवाकरका तथा उनकी स्तुतियोंका महत्त्व एवं चमत्कारिता बतानेके लिए प्रारम्भमें दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक वत्तीसियोंको ही स्थान देनेकी आवश्यकता समझी गयी हो, और उसके साथ ही संस्कृत भाषा एवं पद्यसंख्यामें समानता रखनेवाली किन्तु

१. "आचार्यसिद्धसेनोऽप्याह

'अभिहितं मादृशा भाज्यमभ्यात्मं तु स्वयंदृशाम्।

एक प्रमाणमयैक्यादेक्यं तल्लक्षणैक्यतः॥' प्रमाणद्वान्निशिकायाम्"

रात्वार्यभाष्यवृत्ति अ० १, सू० १०, पृ० ७१

२. "न्यास्तव स्यात्पदलोच्छना इमे।"

सन्मतिटीका पृ० ७५७, टिप्पण २.

"एव कल्पितभेदमप्रतिहत सर्वज्ञतालोच्छनम्।" इत्यादि

सन्मतिटीका पृ० ६२०, टिप्पण १.

स्तुत्यात्मक नहीं, ऐसी दूसरी अनेक वत्तीसियाँ उनके जीवन-वृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक कृतिके रूपमें ही प्रविष्ट हो गयी हों, और बादमें किमीने यह बात देखी या जाँची ही नहीं कि तथाकथित वत्तीस अथवा उपलब्ध इक्कीस वत्तीसियोंमें कितनी और कौन-कौनसी स्तुतिरूप हैं तथा कौन-कौनसी स्तुतिरूप नहीं हैं। इसपरसे ऐसा कहा जा सकता है कि सन्मतिप्रकरण यदि वत्तीस ग्लानका होता, तो वह प्राकृत भाषामें होनेपर भी दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तमें स्थानप्राप्त संस्कृत वत्तीसियोंके साथ गिने जानेसे शायद ही रह जाता।

इस समय उपलब्ध संस्कृत तेईस कृतियोंमें भी सिद्धसेनके नामके उल्लेख-वाली तो केवल दो ही कृतियाँ हैं। इक्कीस वत्तीसियोंमेंसे पाँचवी और इक्कीसवी वत्तीसीके प्रान्तभागमें श्लेषमें सिद्धसेन शब्द आता है। इन दोके अतिरिक्त दूसरी किसी भी वत्तीसीमें सिद्धसेन पदका निर्देश नहीं है। कल्याणमन्दिरमें भी सिद्धसेन पद नहीं है। परम्परा मानती है वह यदि सच हो तो उसमें 'कुमुदचन्द्र' नाम श्लेषसे सूचित होता है। इसी तरह सन्मतिप्रकरणमें भी सिद्धसेन या कुमुदचन्द्र या दूसरा कोई नाम नहीं है। इससे यहाँ स्वाभाविक रूपसे ही यह प्रश्न होता है कि वत्तीसियाँ आदि जो कृतियाँ सिद्धसेनके नामपर चढ़ी हुई मानी जाती हैं, वे सब उन्हींकी हैं, ऐसा माननेका क्या आधार है? इसका उत्तर इस समय तो प्रतिभा एव उल्लेख इन दोके आधारपर दिया जा सकता है।

विषय और भाषा भिन्न होनेपर भी उपलब्ध इक्कीस वत्तीसियाँ, न्यायावतार और सन्मति इन सबके पीछे रहा हुआ प्रतिभाका समान तत्त्व ऐसा माननेके लिए प्रेरित करता है कि ये सब कृतियाँ किसी एक ही प्रतिभाके फल ह। कल्याणमन्दिरकी भाषा एव कल्पनाका उद्बोधन सिद्धसेन दिवाकरके व्यक्तित्वसे तनिक भी उतरे ऐसा नहीं है, फिर भी यह स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकरका होगा, इस बारेमें भ्रमभेद है।^१

१. इति निरूपमयोगसिद्धसेनः प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु वीरः । ५.३१

महाशान्तिमर्ता महासिद्धसेनः । महार्चिर्धनेशो महाज्ञानहेन्द्रो ॥ २१, ३१

२. सन्मतिप्रकरणकी पहली गायामें पहला शब्द 'सिद्धम्' है। इसका सम्बन्ध क्या कतकि नामके साथ हो सकता है ?

३. प्रो० जेकोबीका भन्तव्य है कि यह सिद्धसेनकी कृति नहीं है। उनकी मुख्य दलीलें दो हैं। पहली यह कि यदि यह सिद्धसेन द्वारा रचित स्तोत्र होता, तो जैसे वीरस्तुतियोंके अन्तमें सिद्धसेन नाम आता है, वैसे ही इस कल्याणमन्दिरके अन्तमें भी वह नाम आता। दूसरी यह कि इसपर कोई पुरानी टीका नहीं है।

वत्तीसियाँ दिवाकरकी कृति हैं, इस बातका पुराना उल्लेख इस समय लगभग ग्यारहवीं शती^१ पहलेका हमारे पास नहीं है, परन्तु सन्मतिप्रकरण दिवाकरका^२ है, ऐसा कहनेवाला प्राचीन उल्लेख आठवीं शताब्दीका भी मिलता है। दसवीं शताब्दीके सन्मतिके टीकाकार अभयदेव, जिनके सम्मुख सन्मतिकी दूसरी बहुत-सी टीकाएँ^३ थीं, स्वयं ही दिवाकरकी कृतिके रूपमें सन्मतिका निर्देश करते हैं^४। अभयदेवसे लगभग दो शताब्दी पहले होनेवाले याकिनीसूनु हरिभद्र भी सन्मतिका दिवाकरकी कृतिके रूपमें ही उल्लेख करते हैं। अतः सन्मति वृद्धवादिशिष्यके रूपमें प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है, इस विषयमें तो शका ही नहीं रहती।

(ग) एक ओर प्रसिद्ध स्तुतिकार दिगम्बराचार्य स्वामी समन्तभद्र ही गन्धहस्ती है और तत्त्वार्थके ऊपर रचित उनका भाष्य ही गन्धहस्तिमहाभाष्य है, ऐसी मान्यता इस समय दिगम्बर सम्प्रदायमें सामान्यतः प्रचलित है, तो दूसरी ओर वृद्धवादिशिष्य दिवाकर ही गन्धहस्ती है और उन्होंने तत्त्वार्थके ऊपर व्याख्या लिखी थी, ऐसी मान्यता इस समय श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित है। पहली मान्यता कितनी भ्रान्त है, इसके बारेमें पं० जुगलकिशोरजीने अपनी 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तकमें आवश्यक ऊहापोह किया है^५ और दूसरी मान्यताकी भ्रान्तता भी मैंने अपने तत्त्वार्थके विवेचनके परिचयमें^६ सप्रमाण दिखलायी है,

इसके सामने दूसरा पक्ष यह रखा जा सकता है कि सिद्धसेनके नामका उल्लेख तो न्यायावतार, दूसरी वत्तीसियों तथा सन्मतितर्कमें भी नहीं है। टीकाके बारेमें हमें जानना चाहिए कि वत्तीसियोंपर टीका लिखी गयी थी, ऐसा अबतक ज्ञात नहीं हुआ है; और कल्याणमन्दिरके ऊपर कोई टीका पहले नहीं लिखी गयी होगी, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? इसके अलावा कल्याणमन्दिरका काव्यत्व देखनेपर ऐसा लगता है कि वह सिद्धसेनकी प्रतिभासे पैदा होना सम्भव है। आ० हेमचन्द्र द्वारा उनका श्रेष्ठ कविके रूपमें किया गया उल्लेख कल्याणमन्दिरको उनकी कृति माननेपर चरितार्थ भी हो सकता है।

१. देखो पृ० ३३ पर टिप्पण नं० ६ तथा पृ० ३४ पर टिप्पण नं० १।

२. देखो पृ० १ पर हरिभद्रकृत पंचवस्तुगत उल्लेख।

३. सन्मतिवृत्ति पृ० १, श्लो० २।

४. सन्मतिवृत्ति पृ० १ पं० १६-७।

५. स्वामी समन्तभद्र पृ० २१४-२०।

६. गन्धहस्ती, पृ० ३४ से ४० और उनपरके, टिप्पण (तत्त्वार्थ हिन्दी)।

फिर भी प्रस्तुत प्रश्नके सम्बन्धमें थोड़ासा लिखना योग्य प्रतीत होता है। वस्तुतः गन्वहस्ती वृद्धवादिशिष्य दिवाकर नहीं, किन्तु मिहभूरके प्रशिष्य और भास्वामीके शिष्य तत्त्वार्थभाष्यकी वृत्तिके रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इस मुद्देके मायक प्रमाण इस प्रकार हैं :

(१) प्राचीन या नवीन किसी भी दिवाकरके जीवनविषयक प्रबन्धों उनके लिए गन्वहस्ती विशेषण प्रयुक्त नहीं मिलता, जब कि 'दिवाकर' विशेषण मिलता है। दिवाकरकी मानी जानेवाली कृतियोंके अथवा कृतिके अंशोंके साथ सिद्धसेन अथवा दिवाकर पदका उल्लेख बहुतसे स्थानोंपर मिलता है, जब कि उनकी किसी भी निश्चित कृति अथवा उस कृतिके उद्धरणोंके साथ गन्वहस्ती पदका उल्लेख अठारहवीं शतीके उपाध्याय यशोविजयजीके ग्रन्थोंके^१ सिवा किसी भी पूर्ववर्ती लेखकके ग्रन्थमें नहीं मिलता।

(२) डॉ० यशोविजयजीके पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें गन्वहस्ती पदके साथ मिलनेवाले सभी अवतरण^२ या तो तत्त्वार्थभाष्यपरकी भास्वामिशिष्य सिद्धसेनकी वृत्तिके ही मिलते हैं, या फिर उसके साथ मेल खाते हैं।

उक्त प्रमाणोंसे यह निश्चित है कि गन्वहस्ती भास्वामिशिष्य सिद्धसेन गणी है। गन्वहस्तीका उल्लेख नवीं शताब्दीके शीलाककी आचारांग-टीकासे^३ पुराना अभीतक हमारे देखनेमें नहीं आया, जब कि सिद्धसेनका उल्लेख सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन दिवाकरके रूपमें शीलाकसे कुछ पूर्ववर्ती याकिनीसूनु हरिभद्रके पंचवस्तु ग्रन्थमें भी मिलता है।

सिद्धसेन दिवाकरका 'कुमुदचन्द्र' उपनाम था, यह बात हमें प्रभावकचरित्रसे प्राचीन किसी दूसरे ग्रन्थमेंसे ज्ञात नहीं होती। सच या झूठ जब प्रभावकचरित्रकारको ज्ञात हुआ कि कल्याणमन्दिर स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है, तब उन्होंने दिवाकरकी कृतियोंमें कल्याणमन्दिरको स्थान दिया और सिद्धसेन दिवाकरका कुमुदचन्द्र भी नाम था, ऐसा वर्णन किया। कल्याणमन्दिर सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है, यह बात अवतक सर्वथा सन्देहास्पद है, फिर भी थोड़ी देरके लिए ऐसा मान लें कि वह स्तोत्र दिवाकरका है, तो भी उतने मात्रसे दिवाकरक कुमुदचन्द्र नाम था, ऐसा निश्चयपूर्वक कहनेके लिए कोई भी सबल आधार नहीं

१. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी-परिचय) पृ० ३६ ।

२. वही पृ० ३७-३८ ।

३. आचारांग-टीका पृ० १ तथा ८२ का प्रारम्भ ।

है। यदि उनका कुमुदचन्द्र जैसा श्रुतिप्रिय नाम होता, तो किसी-न-किसी प्राचीन ग्रन्थमें, दिवाकरकी भाँति ही, इस श्रुतिप्रिय विशेषणके साथ भी उनकी निश्चित कृतिका अथवा कृतियोंके अवतरणोंका उल्लेख अवश्य होता। इससे हमें इस समय तो ऐसा लगता है कि दिवाकरका कुमुदचन्द्र नाम मूलमें नहीं था।

८, ९ और १० इन तीनों प्रश्नोंके बारेमें कुछ भी साधारण कहा जा सके, ऐसी सामग्री इस समय प्राप्त न होनेसे उनका विचार स्थगित-सा रहता है।

३. सिद्धसेन और इतर आचार्य

सिद्धसेनके मानसका कुछ परिचय प्राप्त करनेके लिए, उनके युगके बारेमें कुछ सूधन पानेके लिए, उनकी कृतियोंमें पूर्वकालीन ग्रन्थोंमेंसे कौन-कौनसे अंश आये हैं और उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें उनकी कृतियोंमेंसे कौन-कौनसे अंश लिये गये हैं इसका कुछ ख्याल करानेके लिए तथा दार्शनिक प्रदेशमें चर्चित विषय किस-किस तरहसे विकास या सशोधन-परिवर्धन पाते गये हैं यह जाननेके लिए सिद्धसेनकी दूसरे कतिपय जैन-जैनतर विद्वानोंके साथ यहाँ तुलना करना उचित है। यह तुलना अर्थात् उन-उन आचार्योंके एक या एकाधिक ग्रन्थके साथ सिद्धसेनकी कृतियोंकी तुलना। प्रस्तुत तुलना केवल दिशासूचक होनेसे विशेष अम्यासीके लिए विशेष अवलोकनका मार्ग उन्मुक्त करती है।

उमास्वाति और कुन्दकुन्द

वाचक उमास्वाति और आचार्य कुन्दकुन्द ये दोनों समर्थ विद्वान् हैं। वाचक-श्रीने प्राकृत भाषामें कुछ लिखा हो और आ० कुन्दकुन्दने संस्कृत भाषामें कुछ लिखा हो, तो उसका अभीतक कोई निश्चित प्रमाण मिला नहीं है। दोनोंने आगमिक पदार्थोंका निरूपण अपने-अपने ग्रन्थोंमें किया है। परंतु उमास्वातिकी अपेक्षा कुन्दकुन्दका निरूपण तत्कालीन भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी विचारधारासे अधिक प्रभावित एवं विकसित प्रतीत होता है। विज्ञानवाद-शून्यवाद जैसी बौद्ध परंपराका जैसा प्रभाव कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें है, वैसा उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्यमें नहीं है। सांख्य, वैशेषिक आदि दर्शनोंकी विचारसरणियोंका जैसा जैन दृष्टिसे उपयोग कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें देखा जाता है, वैसा उमास्वातिके ग्रन्थोंमें नहीं है। जो लोग आचार्य कुन्दकुन्दको ईसवीकी पहली-दूसरी शताब्दीका समझते हैं वे अगर तटस्थता और सूक्ष्मतासे कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका इतर दर्शनोंकी विचार एवं परिभाषाकी छायामें तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करेंगे, तो उन्हें अवश्य स्पष्ट हो जायगा कि आ० कुन्दकुन्द विक्रमकी पाँचवीं-सदीके पूर्ववर्ती तो किसी तरह नहीं है। पूज्यपाद

देवनन्दीके सम्मुख उमास्वातिके सूत्र हैं; भाष्य भी है। मैंने सन्मतिके गुजराती सस्करणके समय उपर्युक्त दोनों आचार्योंके बारेमें जो कुछ लिखा था, उसका आज तीस वर्षोंके बाद यह नया सङ्गोधन है, जो विशेष अध्ययन और चिन्तनके बाद किया जाता है। इस विषयमें गहराईसे सोचनेवालोंके लिए पं० दलसुख मालवणियाकी विचारणा बहुत सहायक हो सकती है, जो उन्होंने न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावनामें की है।

सिद्धसेन दिवाकरकी रचनाएँ प्राकृत एवं संस्कृत उभय भाषामें हैं और मात्र पद्यवद्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकरने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र और भाष्यको देखा हो ऐसा संभवित है, क्योंकि उमास्वाति निश्चित रूपसे सिद्धसेनके पूर्ववर्ती हैं।

उमास्वाति—उमास्वातिके सवधमें सिर्फ इतना ही कहना है कि उन्होंने तत्त्वार्थ (१६) में प्रमाण और नयोके द्वारा तत्त्वका अधिगम करनेकी जो सूचना की है और नय (१३४-५) का पाँच विभागोंमें अपनी दृष्टिसे जो निरूपण किया है, मानो उस सूचनाको स्वीकार करके सिद्धसेनने प्रमाणके निरूपणके लिए न्यायावतार ग्रन्थकी रचना की और नयोके स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिए सन्मतिके पूरे दो काण्ड रोके। इस तरह जिस साधनसे वस्तुतत्त्वका अवगम करनेकी सूचना उमास्वातिके द्वारा हुई थी, उस साधनके स्वरूपका ही दार्शनिक दृष्टिसे विवेचन आवश्यक समझकर उक्त दोनों ग्रन्थोंकी रचना हुई है।

कुन्दकुन्द कुन्दकुन्दकी कृतियोंकी तुलना मुख्यतः चार भागमें विभक्त हो जाती है। १ शब्दिक साम्य, २ शैलीसाम्य, ३ वस्तुसाम्य और ४ सुधार या परिवर्तन।

१. कुन्दकुन्द प्रवचनसार (अ० १, गा० १५-६) में 'स्वयम्भू' शब्दकी व्याख्या अपने ढंगसे करके उस शब्दका प्रयोग स्वसम्मत सर्वज्ञ वीतरागदेवके अर्थमें करते हैं। सिद्धसेनने भी अपनी पहली ही स्तुतिके प्रथम पद्यमें 'समन्तमद्र-की भाँति' 'स्वयम्भू' शब्दका स्वमान्य देवके अर्थमें ही प्रयोग किया है।

२ पचास्तिकायके अ० १ की गा० १२वीं और सन्मतिके काण्ड १ की गा० १२वींका पूर्वार्ध लगभग समान ही है

पञ्जवविजुद दब्ब दब्बविजुत्ता य पञ्जया णत्थि । पचास्तिकाय

दब्ब पञ्जवविउय दब्बविउत्ता य पञ्जवा णत्थि । सन्मति

१. 'स्वयम्भुवं भूतसहस्रनेत्रम्' इत्यादि।

२. 'स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले' इत्यादि।

‘द्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्व विणा ण सभवदि’ इत्यादि पचास्तिकायकी १३वीं गाथाके साथ साम्य रखनेवाला कोई भाग सन्मतिमें नहीं है। इसका कारण यह है कि सन्मतिकारने गुणको पर्यायसे भिन्न नहीं माना^१।

३. कुन्दकुन्द प्रवचनसारके अ० १ की गा० ५७-८ में प्रत्यक्ष एव परोक्ष शब्दकी लोकप्रथाविरुद्ध स्वेष्ट व्याख्या करते हुए दूसरे वादियों द्वारा किये जाने-वाले आक्षेपोंका जैनोपाचार्यके रूपमें उत्तर भी देते हैं। सिद्धसेन भी न्यायावतारके श्लोक ४ में प्रत्यक्ष एव परोक्ष शब्दकी, जैन दृष्टिसे मेल खाएँ ऐसी, तार्किक व्याख्या जैन तार्किकके रूपमें सर्वप्रयत्न करते हैं। किसी भी एकान्त पक्षको स्वीकार करनेमें दोष आता है, इस दोषको स्पष्ट करनेके लिए कुन्दकुन्द (प्रवचन-सार अ० १ ४६) और सिद्धसेन (का० १, १७-८) दोनोंने ससार एव मोक्षकी अनुपपत्तिकी कल्पनाका एक-सा उपयोग किया है। समन्तभद्रने भी अनेकान्त-दृष्टिकी पुष्टिमें यह कल्पना की है (स्वयम्भू० श्लो० १४)। यह कल्पना आगे जाकर सब आचार्योंके लिए साधारण-सी हो गयी है। अनेकान्तदृष्टिका आश्रय लेकर कुन्दकुन्दने समग्र द्रव्यचर्चा प्रवचनसारमें की है, तो सिद्धसेनने सन्मति के तीसरे काण्डमें इसी दृष्टिसे ज्ञेयका स्वरूप स्पष्ट किया है। ऋग्वेद^२ जितने पुराने जमानेसे चले आनेवाले और कालक्रमसे भिन्न-भिन्न अर्थमें समस्याका रूप धारण करके दार्शनिक प्रदेशके कार्यकारणकी चर्चामें प्रविष्ट सत्, असत् शब्द और उनसे सम्बद्ध वाद पचास्तिकाय अ० १, गा० १५-२१ तथा सन्मति काण्ड ३, गा० ५० २ में अनेकान्तके रूपमें व्यवस्थित किये गये हैं। दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनके मतभेदका बुनियादी और एक खास मुख्य विषय आत्मस्वरूपका है। आत्माके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अमूर्तत्व और परिमाण आदिके बारेमें जैन दर्शनको विशिष्ट मन्तव्य क्या है, यह पचास्तिकाय (अ० १, गा० २७) में है। इसी तरह सन्मति (का० ३, गा० ५४-५) में भी आत्मस्वरूपसे सम्बद्ध छ मुद्दे जैन दृष्टिसे निश्चित करके उनकी चर्चा की गयी है। सिद्धसेनके सन्मति (का० २, गा० ३२)-गत श्रद्धा अर्थात् दर्शन और ज्ञानके ऐक्यवादका भास कुन्दकुन्दके समयसार (१ १३) में स्पष्ट है। फर्क इतना ही है कि सिद्धसेनने श्रद्धात्मक दर्शन एव ज्ञानके ऐक्यके अतिरिक्त इस ऐक्यको सामान्य बोधरूप दर्शन और ज्ञानके प्रदेशमें

१. सन्मति का० ३, गा० ८ से २५।

२. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।

ऋग्वेद, नासदीयसूक्त म० १०, १२९ तथा छान्दोग्य० ६.२.१।

भी सन्मति का० २ में बहुत कुशलतासे विस्तारपूर्वक स्थापित किया है। गुण और गुणीके भेद तथा अभेदके विषयमें दर्शनान्तरोकी मान्यताके सामने जैन दर्शनका क्या मत है, इस बातकी चर्चा अपने-अपने ढंगसे कुन्दकुन्दने पचास्तिकाय (अ० १, गा० ४८-५२) में और सिद्धसेनने सन्मति (का० ३, गा० ८-२४) में की है।

कुन्दकुन्दने 'स्वसमय' और 'परसमय' शब्दका अर्थ एकदम आध्यात्मिक दृष्टिसे ऐसा किया है कि जो स्वपर्याय सो स्वसमय और जो परपर्याय पौद्गलिक पर्याय सो परसमय (प्रवचनसार १ १-२ तथा समयसार १ २), जब कि सिद्धसेनने उस आध्यात्मिक दृष्टिका आश्रय न लेकर अपने युग एव स्वभावके अनुरूप दार्शनिक दृष्टिसे 'स्वसमय' एव 'परसमय' शब्दोंका अर्थ किया है। वह कहते हैं कि स्वसमय अर्थात् स्वदर्शन और परसमय अर्थात् परदर्शन। जितने नयवाद है, उतने ही परसमय है (सन्मति का० ३ गा० ४७ तथा ६७)। उत्तराव्ययन (अ० २८, गा० ५-६) जैसे आगमोंमें पर्यायसे गुणका भेद स्पष्ट रूपसे माना गया है। यही विचारसरणी उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र (५ ३७, ४०) में स्वीकृत की गयी है। आगे जाकर कुन्दकुन्दने (प्रव० १ ८७, २ १, ३, १२) भी उसीका अनुसरण किया है, परन्तु सिद्धसेनने इस विचारसरणीका प्रबल विरोध किया है और आगममेंसे ही प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि गुण एवं पर्याय दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, परन्तु ये दोनों शब्द मात्र एक ही अर्थके बोधक हैं। सिद्धसेनके इस मन्तव्यसे आगमके मन्तव्यका वास्तविक तात्पर्य तो स्पष्ट हुआ ही है, साथ ही वैशेषिकोंके द्रव्यसे गुणके सर्वथा भिन्न होनेके मन्तव्यका भी निरास हुआ है। सिद्धसेनका यह मन्तव्य इतना प्रभावशाली और स्पष्ट है कि अकलक जैसे कुन्दकुन्दके अनुगामियोंको भी यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य होना पड़ा और यशोविजयजी जैसे विचारकने भी इसे मजूर रखा।^१

पूज्यपाद और समन्तभद्र

पूज्यपाद सिद्धसेनके विचारमें पूज्यपाद देवन्दीको यहाँ प्रस्तुत किया वह तुलनाकी नहीं, किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे। वह दृष्टि अर्थात् पौर्वापर्यकी दृष्टि

१. गुण-पर्याय विषयक प्राचीन परम्परा और उसके विरुद्ध सिद्धसेनकी नय दृष्टिके बारेमें व्योरेवार जानकारी सन्मति-वृत्तिके पृ० ६३१ परके ४थे टिप्पण में दी गयी है।

पूज्यपादने अपने व्याकरणमे तथा सर्वार्थसिद्धिमे सिद्धसेनका उल्लेख किया है, यह हम सिद्धसेनके समयकी विचारणामें (पृ० १०) कह आये हैं । इससे यह सिद्ध है कि आचार्य सिद्धसेन पूज्यपादसे पूर्ववर्ती हैं ।

समन्तभद्र—समन्तभद्रके साथ सिद्धसेनकी तुलना दूसरे किसी भी आचार्यके साथकी तुलनाकी अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है । यह महत्त्व पाँच दृष्टिसे है : १. दोनोका पौर्वापर्य देखनेकी दृष्टि, २. दोनोमेंसे किसी एकका दूसरे-पर प्रभाव न पडा हो, तो अन्य किस व्यक्तिको अथवा किस प्रकारके वातावरणका दोनोके ऊपर समान प्रभाव पडा है, यह देखनेकी दृष्टि, ३. दोनोके पाण्डित्य एवं कार्यप्रदेशके तरतमभावके अकनकी दृष्टि, ४. दोनो आचार्योंने किस-किस तरहसे जैन दर्शनकी गहराईको स्पष्ट किया है, जैन वाङ्मयमे तर्ककी प्रतिष्ठा की है और आगे जाकर दूसरे जैन आचार्योंने इसी पद्धतिका अवलम्बन लेकर कित-कितना विकास साधा है, यह देखनेकी दृष्टि, और ५. देशभेद एवं परम्पराभेद होनेपर भी ग्रन्थरचनाके ध्येयमे अर्थात् अनेकान्तदृष्टिके समर्थनमे दोनो आचार्योंकी वृत्ति एवं भावना एकसी कितनी है, यह देखनेकी दृष्टि ।

तुलना करनेसे पूर्व कई खास बातें जानना जरूरी है । जैन परम्परामे आद्य-स्तुतिकारका मान प्रस्तुत दो आचार्योंको मिलता है । दिगम्बर परम्परामे समन्तभद्रके पहले और श्वेताम्बर परम्परामें सिद्धसेनके पहले कोई स्तुतिकारके रूपमे ख्यात नहीं है । दोनोकी सभी कृतियाँ लम्ब्य हैं, ऐसा भी नहीं है । जो लम्ब्य हैं, उनमेंसे कोई-कोई पद्य अविकल रूपमे और कोई-कोई तर्किक परिवर्तनके साथ दोनोकी कृतियोंमे मिलता है । न्यायावतारके २८वें और आप्तमीमासाके १०२वें पद्यमे शाब्दिक परिवर्तन बहुत कम है^१ । स्वयम्भूस्तोत्रकी विमलनाथ की स्तुतिमे आया हुआ 'नयास्तव स्यात्पद' इत्यादि पद्य तो सन्मतिके टीकाकार अभयदेवकी दृष्टिमे सिद्धसेनका है^२ । प्रस्तुत दोनो आचार्योंकी मुख्य-मुख्य कृतियोंके विषय और उनके निर्माणकी शैलीको देखनेपर एक बात स्पष्ट होती है कि दोनो आचार्योंका ध्येय समान था । वह ध्येय संक्षेपमे इस प्रकार था : जैन तीर्थंकर ही सर्वज्ञ हैं,

१. प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।

केवलस्य मुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥ न्यायावतार, २८

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।

पूर्व वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वर्गोचरे ॥ आप्तमीमासा, १०२

२. देखो पृ० १५ पर टि० १ ।

अतः उनका शासन निर्दोष और पूर्ण होनेसे ग्राह्य है तथा दूसरी दृष्टियाँ तो मात्र उसके अंश हैं यह वस्तु छोटे-बड़े प्रकरणों द्वारा तार्किक शैलीसे विद्वानोंके समक्ष स्थापित करना । इस व्ययको सिद्ध करनेके प्रयत्नमेंसे दोनों आचार्योंने जिन कृतियोंको जन्म दिया, उन्हींमेंसे कुछकी सक्षिप्त तुलना नीचे दी जाती है । प्रस्तुत तुलना तीन भागोंमें विभक्त होती है : १. शब्दगत, २. शैलीगत और ३. वस्तुगत । अच्युत, अक्षर, समन्त, विश्वचक्षु आदि अनेक शब्दकी तरफ ध्यान न दें, तो भी तुलनाकी दृष्टिसे दोनोंकी स्तुतियोंके कुछ शब्द खास महत्त्व रखते हैं ।

स्वयम्भूस्तोत्र

स्वयम्भुवा १

समालोढपद ४१

जितक्षुल्लकवादिशासन ५

सहस्रक्षि

स्वपरावभासकम् ६३

वत्तीसी

स्वयम्भुव १ १

अनालीढपथ. १ १३

प्रपञ्चितक्षुल्लकतकशासनै १ ८

भूतसहस्रनेत्रम् १.१

स्वपराभासि (न्याया० १)

महत्त्वके इन शब्दोंमें अधिक महत्त्वका शब्द तो 'स्वयम्भू' है, क्योंकि इस शब्दसे ही दोनों स्तुतिकार अपनी-अपनी स्तुतिका आरम्भ करते हैं । इस शब्द-साम्यमें ही समाविष्ट होनेवाला एक-सी शैलीका साम्य अलग नोट करने जैसा है । पहली वत्तीसीके चौथे पद्यमें जो बात सिद्धसेनने कही है, वही दूसरे रूपमें स्वयम्भूस्तोत्रके एक पद्यमें है । जैसे कि

न काव्यशक्तेर्न परस्परैर्ष्या न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।

न केवल श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादर ॥

वत्तीसी १४

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागो न निन्दया नाय ! विवान्तवैरे ।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

स्वयम्भूस्तोत्र

एक ओर स्वयम्भूस्तोत्र और आप्तमीमासा तथा दूसरी ओर वत्तीसियाँ, न्यायावतार और सन्मतिकी तुलना करनेपर वस्तुगत अत्यन्त साम्य दृष्टिगोचर होता है, फिर भी यहाँ तो बहुत ही संक्षेपमें इसका सूचन किया जाता है

१ स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ६२ में नयोको गौण-प्रधानभावसे सामान्यविशेष-मातृक कहकर जो बात सूचित की गयी है, वही बात सभी नय द्रव्यास्तिक एवं

पर्यायास्तिक-प्रकृतिक है, ऐसे सन्मति का० १ गा० ४-५ के कथनमें सूचित की गयी है ।

२. स्वयम्भूस्तोत्र ११४ में आगमप्रसिद्ध त्रिपदीके कथनको सर्वज्ञके लक्षणके रूपमें दिखलाया है । यही भाव सन्मति का० ३ की गाथा ३ में आनेवाले 'प्रतीत्य-वचन' के निरूपणका है ।

३. अनेकान्तवादमें दृष्टान्तका सादृश्य और एकान्तवादमें उसका वैगुण्य है, यह बात स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ५४ में और सन्मति का० ३ गा० ५६ में एक-जैसी है ।

४. प्रत्येक नयकी यथार्थता और अयथार्थता किस-किस तरहसे है, यह बात आप्तमीमासाके श्लो० १०८ में और सन्मति का० ३ गा० १३-४ में है ।

५. सन्मति का० १ गा० ३६-४१ में सप्तभगीवादकी चर्चा संक्षेपसे नय-प्रसंगमें आती है । यही वाद व्यापक रूपसे आप्तमीमासाके श्लो० ९ से अन्ततक आता है और उसमें अनेक विरोधी माने जानेवाले मन्तव्योंका समन्वय अनेकान्त-दृष्टिसे किया गया है ।

६. स्वयम्भूस्तोत्रके श्लो० ५२ में प्रमाण एव नयका स्वरूप दिखलाया है । वैसे स्वरूप न्यायावतारके श्लो० २९ में व्यक्त किया गया है ।

७. सत्-असत्, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, सामान्य-विशेष आदि परस्पर विरोधी माने जानेवाले जो पक्ष दार्शनिक प्रदेशमें पहलेसे विवाद खड़े करते आये हैं, उनका समन्वय समन्तभद्र और सिद्धसेनने अनेकान्तके समर्थनके रूपमें अपनी-अपनी कृतिमें, प्रसंग आनेपर, एक-जैसा किया है ।

८. कार्य-कारणका, गुण-गुणिका और सामान्य-विशेषका एकान्त भेद या एकान्त अभेद नहीं है, यह बात आप्तमीमासाके श्लो० ६१-७२ में तथा सन्मतिके तीसरे काण्डमें समान रूपसे, और फिर भी अपने-अपने विशिष्ट ढंगसे, दोनों आचार्योंने स्थापित की है ।

९. हेतुवाद और आगमवादका पृथक्करण तथा समन्वय आप्तमीमासाके श्लो० ७५-८ में तथा सन्मतिके का० ३, गा० ४५ में है ।

१०. शब्द मिश्र होनेपर भी अनेकान्तकी व्यापकता समान रूपसे स्वयम्भू-स्तोत्रके श्लो० १०१ में और सन्मतिके का० ३ गा० २७ में दिखलायी गयी है ।

११. आप्तमीमासा श्लो० ८८-९१ में दैव और पौरुष इन दो ही कारण-वादोंका समन्वय है, जब कि सन्मतिके का० ३ गा० ५३ में पाँच कारणैकान्त-वादका समन्वय है ।

१२. आप्तमीमांसाके श्लो० २४-७ में और सन्मतिके का० ३ गा० ४८ में अद्वैतमतका कथन आता है, फिर भी इन दोनोंमें अन्तर यह है कि पहलेमें अद्वैत शब्दका उल्लेख है, पर वह अद्वैत किसका और कौनसा इसका कोई निर्देश नहीं है, किन्तु श्लो० २५ गत 'विद्याविद्याद्वय न स्यात्' के आधारपर ऐसा कहा जा सकता है कि वह अद्वैत वेदान्तसम्मत है, जब कि दूसरेमें अद्वैत शब्दका निर्देश नहीं है, परन्तु कापिलदर्शनका द्रव्यास्तिकके मुख्य आधारके रूपमें निर्देश होनेसे उसमें वेदान्तसम्मत अद्वैत नहीं है।

इन सबके अतिरिक्त खास ध्यान देने जैसी बात तो यह है कि आप्तमीमांसामें आप्त अर्थात् सर्वज्ञका निरूपण करते समय उसके वचनका स्वरूप अनेकान्तरूप कहा गया है, और सन्मतमें भी जिन अर्थात् सर्वज्ञके शासनको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका निरूपण करते समय अनेकान्तकी ही चर्चा की गयी है। भारतीय दर्शनमें शास्त्रका प्रामाण्य एक प्रधान और रसिक चर्चाका विषय है। जो शास्त्र अनादि और अपौरुषेय अर्थात् किसीके द्वारा रचा न गया हो, वह प्रमाण ऐसा एक पक्ष परापूर्वसे चला आता था, जो कि इस समय जैमिनीय मतके नामसे प्रसिद्ध है। इसके विरुद्ध वैशेषिक-नैयायिक आदिका दूसरा पक्ष था। उसका कहना था कि शास्त्रका प्रामाण्य उसके अनादित्व अर्थात् नित्यत्वके कारण नहीं है, परन्तु वक्ताके प्रामाण्यपर आश्रित है। ऐसा प्रमाणभूत पूर्ण वक्ता ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता, अतः ईश्वरप्रणीतत्वके कारण ही उस शास्त्रका प्रामाण्य है। इन दोनों पक्षोंको शास्त्र तो एक अर्थात् श्रुति ही प्रमाणके रूपमें मान्य था, केवल उसके प्रामाण्यके कारणमें ही दोनोंमें मतभेद था। दूसरे पक्षकी विशेषता यह है कि उसने ईश्वरप्रणीतत्व स्वीकार करके शास्त्रमें मान्य अनादित्व अपने ढंगसे सुरक्षित रखा और साथ ही अपौरुषेयत्ववादके सामने पौरुषेयत्ववादका बीज भी दाखिल किया।

इन दोनों पक्षोंके सामने एक तीसरा बुद्धिगम्य वाद आया। उसने कहा कि शास्त्रका प्रामाण्य मान्य है, वह वक्ताके प्रामाण्यके अवीन है यह बात भी स्वीकार्य है, परन्तु वक्ता मुखवाला और बोलनेवाला शरीरी मनुष्य ही हो सकता है। इस वादमेंसे दो बातें फलित हुईं - एक यह कि पहलेके दो पक्षोंमें अमुक ही निश्चित शास्त्र अर्थात् आम्नायका प्रामाण्य मान्य था, उसके स्थानपर आप्तोक्त सभी वचनोंका प्रामाण्य मानना चाहिए, और दूसरी यह कि जो मनुष्य शुद्ध बुद्ध हो, वे सभी ईश्वर जैसे पूर्ण होनेसे ईश्वर माने जाने चाहिए। यह तीसरा वाद सबसे पहले किसने उपस्थित किया, यह कहना कठिन है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर और बुद्धके युगका इस वादकी उपस्थितिमें

काफी बड़ा हिस्सा है। इस वादके कारण अनेक सम्प्रदाय, जैसे कि सांख्य, आजीवक आदि, अपने-अपने मान्य प्रवर्तकको पूर्ण आप्त मानकर उन्हींके वचनको एकमात्र शास्त्ररूप मानने लगे। जैन सम्प्रदायको भी यह मान्यता अभिमत है, अतः वह अपने प्रवर्तक तीर्थंकरोंको ही मुख्य आप्त मानकर उनके वचनको मुख्य प्रमाणके रूपमें स्वीकार करता है, और उसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंको मुख्य प्रमाणरूप नहीं मानता। यह बात स्पष्ट करनेके लिए तथा सर्वज्ञके द्वारा कथित शास्त्रका स्वरूप दिखलानेके लिए ही सन्मति और आप्तमीमांसाकी रचना हुई है।

यहाँ सिद्धसेन और समन्तभद्रके पौर्वापर्य या समय विषयक प्रश्नकी भी संक्षेपमें चर्चा कर लेनी चाहिए। सन्मतिकी गुजराती आवृत्ति (ई० १९३२) में सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शती माना था। इसके पश्चात् इस विषयमें पक्ष-प्रतिपक्षरूपसे काफी चर्चा हुई है। मैंने भी भिन्न-भिन्न प्रसंगपर इस विषयमें अपने विचार उपस्थित किये ही हैं।^१ परन्तु अब मैं उसी पुराने निश्चयपर आया हूँ कि सिद्धसेन विक्रमकी चौथी शतीके उत्तरार्ध और शायद पाँचवीं शतीके प्रारम्भतक रहे हैं। इस विषयमें स्पष्ट प्रकाश डालनेवाला प० श्री दलमुखभाई मालवणियाका वक्तव्य खास पठनीय है, जो न्यायोवतारवार्तिककी प्रस्तावना (पृ० १४१) में है।

अब रहे स्वामी समन्तभद्र। मैंने अकलंकग्रन्थत्रय तथा न्यायकुमुदचन्द्र (भाग २) के प्राक्कथनमें उनको धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन स्थापित किया है। इस विचारके परिवर्तनका कोई भी प्रबल कारण अभीतक मुझे उपलब्ध नहीं हुआ है, प्रत्युत इस विचारके समर्थक अनेक प्रमाण उत्तरोत्तर अधिक मिल रहे हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि पूज्यपादने अपने व्याकरणमें 'चतुष्टय समन्तभद्रस्य' ऐसा उल्लेख किया है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके पश्चात् कैसे हो सकते हैं? परन्तु समन्तभद्रके व्याकरणविषयक ग्रन्थका कोई सुनिश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं है, और उनकी विद्यमान कृतियोंमें 'चतुष्टय' की समर्थक कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती। ऐसी स्थितिमें अधिक सम्भव यही है कि पूज्यपादका निर्देश चन्द्र-

१. 'अकलंकग्रन्थत्रय' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' भाग २ के प्राक्कथन तथा 'भारतीय विद्या', वर्ष ३, पृ० १५२ एवं 'दर्शन और चिन्तन' पृ० ४६९
७५, ४७७।

कीर्तिकर्तृक बौद्ध समन्तभद्र-व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर हो। इस समन्तभद्र नामक व्याकरणका इतिहास बुदोनने अपने बौद्ध इतिहासमें दिया है। यदि समन्तभद्रकर्तृक या समन्तभद्र नामक कोई जैन व्याकरण अस्तित्वमें होता, तो उसका सूचन गोकटायन और हेमचन्द्र जैसे वैयाकरणोंके मूल ग्रन्थ अथवा न्यासादिमें आये बिना शायद ही रहता।

वयोवृद्ध प० जुगलकिशोरजीने 'अनेकान्त' पत्रिकाका सम्मति सिद्धसेनाक (ई० १९४९) प्रकाशित करके उसमें उन्होंने सम्मति, द्वात्रिंशिकाएँ और न्यायावतार इन तीनोंके कर्तारूपसे एक सिद्धसेनके स्थानमें तीन भिन्न-भिन्न सिद्धसेनोकी कल्पना की है और सम्मतितर्कके प्रणेतारूपसे अभिप्रेत सिद्धसेनको दिगम्बर परम्पराका वतलाया है। अपने मतकी स्थापनामें वाघक हो सके, ऐसे जो-जो वाक्य उन्हें द्वात्रिंशिकाओंमें दिखायी दिये, वहाँ सर्वत्र उन्होंने एक ही सरल युक्तिका आश्रय लिया है। वह सरल युक्ति इतनी ही है कि उस-उस द्वात्रिंशिकाके रचयिता सिद्धसेन भिन्न हैं। परन्तु उनकी विचारसरणी मुझे अभीतक ग्राह्य हुई नहीं है। उक्त सिद्धसेनाकमें अन्य भी कई आपत्तिजनक बातें हैं। उनका विचार मैंने 'संपूर्ति' में आगे किया है।

वट्टकेर मूलाचार

दिगम्बराचार्य वट्टकेरकी कृति माने जानेवाले 'मूलाचार' ग्रन्थका सूक्ष्म अभ्यास करनेके पश्चात् हमें निश्चय हो गया है कि वह कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है, परन्तु एक संग्रह है। वट्टकेरने सम्मतिमेंसे चार गाथाएँ (२४०-३) मूलाचारके समयसाराविकार (१० ८७-९०) में ली हैं। इससे हम इतना कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ सिद्धसेनके बाद सकलित हुआ है। इसके अलावा मूलाचारमें अनेक गाथाएँ अन्तिम भद्रबाहु द्वारा सकलित निर्युक्तिसंग्रहमेंसे भी ली गयी हैं। इससे वट्टकेर विक्रमकी छठी सदीके बादके जान पड़ते हैं।

मल्लवादी और जिनभद्र

मल्लवादी—कथावली और प्रभावकचरित्र आदि प्रबन्धोंमें जो मल्लवादी निर्दिष्ट हैं, जिनका बौद्धवादविजयका समय^१ वि० स० ४१४ का दिया गया है^२ और जो द्वादशारनयचक्र^३ ग्रन्थके प्रणेता तथा बौद्ध-विजेता महान् वादीके रूपमें प्रसिद्ध हैं, वही मल्लवादी यहाँ प्रस्तुत हैं।

१. प्रभावकचरित्र पृ० ७४, श्लो० ८३।

२. प्रभावकचरित्र, मल्लवादिप्रबन्ध, श्लो० ३४।

आ० हेमचन्द्रने 'अनुमल्लवादिन तार्किका' (सिद्धहेम० २ २ ३९) कहकर जिनका श्रेष्ठ वादीके रूपमें सूचन किया है और सन्मतिके टीकाकार अभयदेवने पृ० ६०८ पर युगपदुपयोगवादके पुरस्कृतके रूपमें जिनका निर्देश किया है, वह मल्लवादी ही प्रस्तुत मल्लवादी हो, ऐसा अधिक सम्भव है। उनका नयचक्र ग्रन्थ अविकल रूपसे उपलब्ध नहीं है, अतः अन्तःपरीक्षण द्वारा उक्त वातोंके बारेमें अधिक निश्चयपूर्वक कहना इस समय शक्य नहीं है। आ० हरिभद्रने अनेकान्त-जयपताकामे और उ० यशोविजयजीने अष्टसहस्रीकी टीकामे सन्मतिके टीकाकारके रूपमें जिन मल्लवादीका सूचन किया है, वह मल्लवादी प्रस्तुत मल्लवादी होने चाहिए, ऐसी सम्भावना रहती है और परम्परा भी ऐसी ही है। उनकी यह टीका इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु बृहट्पिप्पणीकारने उस टीकाका परिमाण सात सौ श्लोकका बताया है। प्रबन्धोंमें मल्लवादीके बौद्धवादिविजयका जो समय निर्दिष्ट है, उसकी यथार्थतामें मुनि श्री जम्बूविजयजीके संगोधनके पश्चात् अब सन्देह नहीं रहता। वही मल्लवादी सन्मतिके टीकाकार हो, तो सिद्धसेनके समयके साथ उनके समयका मेल विधानमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। सिद्धसेन और मल्लवादी दोनों समकालीन होंगे और एकने दूसरेके ग्रन्थपर उनकी विद्यमानतामें ही टीका लिखी होगी। कदाचित् दोनोंके बीच दूसरा कोई सम्बन्ध न हो, तो अन्तमें विद्याविषयक गुरु-शिष्यभाव सम्बन्ध भी हो। इससे अधिक कल्पना करनेका यह स्थान नहीं है।

धर्मकीर्तिके न्यायविन्दुपरकी धर्मोत्तरकी टीकाके ऊपर टिप्पण लिखनेवाले जो मल्लवादी हैं, वह प्रस्तुत मल्लवादीसे भिन्न और उनसे अर्वाचीन हैं तथा जैन हैं। उनका टिप्पण अभीतक मुद्रित नहीं हुआ। मल्लवादीके नामसे प्रकाशित टिप्पण उनका नहीं है। उनका समय ई० ७००-७५० है।^१

जिनभद्र— जैन परंपरामें जो जिनभद्र भाष्यकार एव क्षमाश्रमणके नामसे प्रसिद्ध है और जिनका हेमचन्द्रने श्रेष्ठ व्याख्याताके रूपमें (सिद्धहेम० २ २ ३९) निर्देश किया है, वही कथावली आदिके प्रबन्धोंमें आनेवाले जिनभद्र यहाँ प्रस्तुत सिद्धसेन प्रस्तुत जिनभद्रके पूर्ववर्ती है। इस परम्परागत वातके सच्ची होनेके बारेमें पहले कहा जा चुका है। जिनभद्रकी उपलब्ध कतिपय कृतियोंमेंसे मुख्य एव प्रसिद्ध 'विशेषणवर्ती' और 'विशेषावश्यकभाष्य' इन दो कृतियोंके साथ

१. देखो पृ० ८ पर टि० २।

२. देखो धर्मोत्तरप्रदीपकी प्रस्तावना पृ० २८, ३१, ५४, ५७।

सन्मतिकी तुलना यहाँ सक्षेपमे की जाती है। प्रस्तुत दोनो आचार्योंके पौर्वापर्यका विचार करनेमे और दूसरी भी बहुतसी बातोंमे यह तुलना अम्यासीको खास उपयोगी सिद्ध होगी। तुलना सक्षेपमे तीन भागोंमें विभक्त की जाती है : १ अविकल अथवा तनिक परिवर्तनवाली गाथाएँ, २ पद, वाक्य एवं विचारकी समानता, और ३ वादिप्रतिवादिभाव।

१ सन्मति का० ३ की 'नत्थि पुढ्वी विसिद्धो' आदि गा० ५२ और 'दोहिं वि नएहि नीय' आदि गा० ४९ तनिक भी फेरफारके बिना अविकलरूपमें विशेषावश्यकभाष्यके क्रमांक २१०४ और २१९५ पर अनुक्रमसे आयी है। भाष्यके टीकाकार ये दो गाथाएँ असलमे भाष्यकी ही हैं या अन्य स्थानसे उद्धृत हैं, इसके बारेमे कुछ भी सूचन या विचार नहीं करते। वह इन गाथाओंको भाष्यकी समझकर व्याख्या करते हो, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु वारीकीसे देखनेपर ज्ञात होता है कि भाष्यकारने अपने कथनकी पुष्टिमे इन गाथाओंको कहींसे लेकर उद्धृत किया है। एक बार मूलमे समर्थकके रूपमे प्रविष्ट पद्य पीछेसे मूलके ही हो, ऐसा माननेका इतिहास, खास करके पद्यबन्ध कृतियोंमें, बहुत मिलता है।^१ ये दो गाथाएँ असलमे सन्मतिकी होनी चाहिए, ऐसी सम्भावनाके लिए यहाँ दो दलीले मुख्य हैं। पहली यह कि सन्मतिके अलावा दूसरे किसी भी ग्रन्थमे ये दो गाथाएँ अभीतक देखनेमें नहीं आयी, और दूसरी यह कि सन्मतिमें ये दोनो गाथाएँ बराबर मेल खाती हैं और प्रकरणप्राप्त हैं, जब कि विशेषावश्यकमे ऐसा नहीं है, क्योंकि इन दो गाथाओंमें जो वाते कही गयी हैं, वे इन गाथाओंके पूर्वकी गाथाओं अर्थात् अनुक्रमसे २१०३ और २१९४ में आ जाती हैं। प्रस्तुत दो गाथाओंको सावादिक और अन्य ग्रन्थसे उद्धृत न माना जाय, तो भाष्यमें पुनरुक्ति होती है,^२ जब कि सन्मतिमे वैसा नहीं है।

१. शास्त्रवार्तासमुच्चयके तीसरे स्तवकमें दूसरा और तीसरा श्लोक अन्य-कर्तृक हैं, परन्तु अपरीक्षक पाठकोंको वे मूलके मालूम हो सकते हैं।

तत्त्वसंग्रहमें ९१२-४ तककी कारिकाएँ आमहकी हैं और उनके बादकी कई कारिकाएँ कुमारिल भट्टकी हैं, परन्तु मूलको देखनेवाला उन्हें मूलकी मान लेगा।

२. कारणद्वारागत द्रव्यकारणके विचारके प्रसंगमें भाष्यमें (२०९८ से २११८) जो २१ गाथाएँ हैं, उनमेंसे २१०३ तक तद्द्रव्यकारण और अन्यद्रव्यकारणके विचारका उपसंहार हो जाता है और २१०५वीं गाथासे निमित्त एवं नैमित्तिक कारणका विचार शुरू होता है। उपसंहार और इस विचारके बीच जो यह २१०४वीं गाथा है, उसका बराबर मेल नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त

‘कापिलदर्शनमात्र द्रव्यास्तिकनयावलम्बी और सौगतदर्शनमात्र पर्यायास्तिक-
नयावलम्बी होनेसे परसमय है’ सन्मति का० ३, गा० ४८ के ऐसे कथनके बाद
सीवा ही सवाल होता है कि तब द्रव्यास्तिक एवं पर्यायास्तिक उभयनयावलम्बी
कणाददर्शनको स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि मानना चाहिए या नहीं? इसका
उत्तर यह ‘दोहिं वि नएहिं’ गाथा ही देती है। यदि यह गाथा न हो, तो सन्मतिये
किया गया नयवादमें परसमयका विचार अधूरा ही रहता है। अतः उस स्थानमें
यह गाथा बराबर उपयुक्त है और इसीलिए मौलिक लगती है। विशेषावश्यक-
भाष्यमें उक्त प्रश्नका उत्तर २१९४वीं गाथामें स्पष्ट रूपसे तथा कणादके नामके
साथ आ जाता है। इसी भाँति सत्वाद और असत्वादके अपेक्षाकृत समन्वयके
प्रसंगमें ‘नत्थि पुढवी विसिद्धो’ गाथा सन्मतिये बराबर मेल खाती है, जब कि
भाष्यमें ऐसा नहीं है।

कमोवेश परिवर्तनवाली या रचनानि व्यत्ययवाली सन्मतिकी कई गाथाएँ
विशेषावश्यकभाष्यमें खोजी जा सकती हैं, परन्तु यहाँ तो हम उदाहरणस्वरूप एक
ही गाथा उद्धृत करेंगे। वह है

जावइया वयणपहा तावइया चेव होति णयवाया ।

जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ ३.४७ ॥

सन्मतिगत यह गाथा विशेषावश्यकभाष्यमें गाथा क्रमांक २२६५ पर इस प्रकार
फेरफारके साथ देखी जाती है

जावन्तो वयणपहा तावन्तो वा नया विसद्दाओ ।

ते चेव य परसमया सम्मत्त समुदिया सन्वे ॥

२ सन्मतिये का० १ गा० २२ से रत्नावलीका जो विस्तृत दृष्टान्त देखा
जाता है और जिसमें ‘रयणावली’, ‘मणि’ आदि शब्द हैं, ये ही शब्द इस दृष्टान्तके
संक्षेपके साथ विशेषावश्यकभाष्यकी २२७१वीं गाथामें आये हैं। सन्मतिके का०
१, गा० ५४ में आया हुआ ‘परिकम्मणाणिमित्त’ शब्द भाष्यकी २२७६वीं गाथामें
‘परिकम्मणत्थ’ के रूपमें आया है। सन्मतिके का० १, गा० २८ में जो विचार
है, वही विचार उसके कुछ मूल शब्दोंके साथ भाष्यकी २२७२ वीं गाथामें आता है।

२१०९ से २१११ तककी गाथाओंमें २१०४वीं गाथामें कहा गया भाव सिद्धान्तके
रूपमें रखा गया है। इससे भी यह २१०४वीं गाथा कहींसे संवाद रूपमें उद्धृत
प्रतीत होती है। इसी तरह २१९५वीं गाथाका भाव २१९४वीं गाथामें स्पष्ट
रूपसे आ जाता है।

जिनमद्र सैद्धान्तिक होनेसे तार्किक सिद्धसेनके प्रतिवादी माने जाते हैं। उन्होंने सन्मतिगत कतिपय वातोसे भिन्न प्रतीत होनेवाली आगमिक वातोकी अपने भाष्यमें चर्चा की है। ऐसा होनेपर भी सन्मतिमें आनेवाले सिद्धसेनके उक्त विचारोको भी उन्होंने भाष्यमें अपनाया है। टीकाकार मलवारी ऐसे स्थलोपर वे विचार सिद्धसेनके ही हैं, ऐसा कहकर उन गायोको व्याख्या करते हैं। मलवारीके समक्ष पूर्व टीकाको परम्परा होनेसे और भाष्यमें अन्य स्थानपर आगे आनेवाला विरोधी मत उनके सम्मुख होनेसे उनका वैसा कथन तथ्यपूर्ण है, ऐसा मानना चाहिए। अतः यही फलित होता है कि जिनवातोमें प्रतिवाद करने जैसा और आगमसे खास विरुद्ध विचार उन्हें ज्ञात न हुआ, वहाँ उदार भावसे सिद्धसेनके विचारोको भी, आगम-परम्पराके विचारोकी भाँति, अपने भाष्यमें उन्होंने स्थान दिया। ऐसे विचारोमें यहाँ दो मुख्य विचार, उदाहरणस्वरूप, दिखलाये जाते हैं : (क) एक नयसंस्थाका, और (ख) दूसरा निक्षेप एव मूल नयमें नय-विशेषोंकी अवतारणाका।

(क) भाष्यमें मूलके रूपसे मानी गयी और टीकाकारके द्वारा निर्युक्तिके रूपमें उल्लिखित गा० २२६४ में सात प्रकारके और पाँच प्रकारके नयोका निर्देश है। सिद्धसेन अपने सन्मतिके का० १ गा० ४-५ में सग्रहसे प्रारम्भ करनेके कारण छ प्रकारके नय माननेवालेके रूपमें प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तिकी कही जानेवाली उस गायोपरके भाष्यमें यद्यपि जिनमद्रने नयोके छ प्रकारका उल्लेख तो नहीं किया, फिर भी दूसरे प्रसंगोपर उन्होंने सिद्धसेनके पङ्क्त्यवादको भी भाष्यमें स्थान दिया है।

निक्षेपमें नयोकी अवतारणा जिनमद्रने सग्रहनयसे ही की है, विशेषावश्यक भाष्यकी गा० ७५ में और नयद्वारकी गा० ३५८६ में सग्रहनयसे ही नयका निरूपण किया गया है, जब कि दूसरी अनेक जगहोपर वह नयके विचारमें नैगमसे प्रारम्भ करके सातों नयोका सविस्तर वर्णन करते हैं और सर्वत्र उन्हीको घटाते हैं। यह चर्चा इतना स्पष्ट करनेके लिए पर्याप्त है कि जिनमद्रने प्राचीन परम्पराके अनुसार सात नयोका स्वीकार करके भी सिद्धसेनके पङ्क्त्यवादका आक्षेप किया है।

(ख) सन्मतिके का० १, गा० ६ में प्रथमके तीन निक्षेप द्रव्यास्तिकके रूपमें और चौथा निक्षेप पर्यायास्तिकके रूपमें वर्णित है, तथा इसीके का० १, गा० ५-६ में

द्रव्यास्तिकमे संग्रह एवं व्यवहार और पर्यायास्तिकमे ऋजुसूत्र आदि चार नय धराये है। जिनभद्रने इन निक्षेपोमे मूल नयकी अवतारणाका और मूल नयमें संग्रह आदि छ नयोकी अवतारणाका सम्मतिगत समग्र विचार भाष्यकी एक ही ७५वीं गाथामें सन्निविष्ट किया है।

३ सिद्धसेन एव जिनभद्रका सम्बन्ध जाँचनेमे उनकी तथाकथित वादि-प्रति-वादिभावकी बात भी बहुत ही महत्त्वकी है। उनका वादिप्रतिवादिभाव मुख्यतः केवलोपयोगके बारेमे ही प्रसिद्ध है। यहाँ तीन मुद्दे खास विचारणीय हैं : (क) प्रस्तुत वाद-विषयक सबसे प्राचीन साहित्य, (ख) प्रस्तुत वादका आरम्भ एव उसका विकास, और (ग) प्रस्तुत वादके आद्य सूत्रवार कौन थे ?

(क) दिगम्बरीय साहित्यमे तो प्रस्तुतवादकी चर्चावाला कोई खास ग्रन्थ नहीं है, अतः उस परम्परामे किसी समय भी यह चर्चा हुई होगी, ऐसा इस समय तो नहीं लगता। श्वेताम्बरीय साहित्यमे यह चर्चा काफी हुई है। उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्यमें यह चर्चा करनेवाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ हमारे समक्ष सिद्धसेन और जिनभद्रके हैं। सिद्धसेनका सम्मति और जिनभद्रके विशेषणवती एव विशेषावश्यकभाष्य ये तीन ही ग्रन्थ इस समय इस चर्चाके आद्य ग्रन्थ हैं। जिनदास, हरिमद्र, गन्धहस्ती^१ आदि वादके विद्वानोंने अपने-अपने ग्रन्थोमे इस चर्चाको छुआ तो है, परन्तु उनमें जो गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं या दलीलें दी गयी हैं, वे उक्त तीन ग्रन्थोके अतिरिक्त दूसरे किसी प्राचीन ग्रन्थमे इस समय उपलब्ध नहीं होती।

(ख) ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन जैन परम्परामे केवलोपयोग क्रमिक ही माना जाता होगा। दिगम्बर परम्परामे एकमात्र युगपद्वाद प्रचलित है। इससे ऐसा माननेका कारण है कि कुन्दकुन्द जैसे आद्य दिगम्बरीय साहित्यप्रणेता-ओंने युगपद्वाद नये सिरेसे उपस्थित किया या फिर पहलेसे गौणभावसे चले आनेवाले उस वादकी पुष्टि की और उसे मान्य रखा। दिगम्बर परम्परा^२ प्राचीन

१. देखो 'दर्शन और चिन्तन' (हिन्दी) पृ० ४४२ से।

२. विशेषावश्यकभाष्य गा० ३०८९ से।

३. नन्दीचूर्णि, धर्मसंग्रहणी और तत्त्वार्थ टीका। इसके लिए देखो सम्मति टीका पृ० ५९७ से ६०४।

४. प्रवचनसार अ० १, गा० ५१। अधिकके लिए देखो सम्मति टीका पृ० ६०३।

विरासतवाले आगमोंको अक्षरशः नहीं मानती थी, इससे क्रमवादके उपासक आगमिक श्वेताम्बर विद्वान् युगपद्वादों दिगम्बर विद्वानोंको इतना ही कहते होंगे कि तुम्हारे युगपद्वादको आगमका आधार कहाँ है ? आगममें तो हमारा क्रमवाद ही स्पष्ट रूपसे आता है। आगमका परित्यागकर अलग हो जानेवाले दिगम्बर विद्वानोंने शास्त्राधारके बलकी बहुत परवाह नहीं की होगी, फिर भी श्वेताम्बरीय साहित्यमें यह चर्चा पहले ही से थोड़ी-बहुत होती रही होगी। यह चर्चा सिद्धसेन अथवा उनके जैसे दूसरे किसी प्रतिभाशाली दार्शनिक विद्वान्ने देखी और तर्क एवं दर्शनान्तरके अभ्यासके बलपर उन्हें नया स्फुरण हुआ होगा कि क्रमवादकी अपेक्षा युगपद्वाद अविक सयुक्तिक है, फिर भी उसमें भी कुछ कमी है। वस्तुतः केवलपयोगका अभेद ही होना चाहिए। यह बात उन्हें स्फुरित तो हुई होगी, परन्तु शास्त्राधारके बिना कोई भी वस्तु न माननेके मानसवाले उस जमानेमें उस स्फुरणका प्रतिपादन शास्त्राधारके बिना करना शक्य नहीं था। इसीलिए उन्होंने अपने नवस्फुरित मन्तव्यको प्राचीन जैन आगमोंमेंसे फलित करनेका और तदनुसार शब्दोंका अर्थ और पूर्वपर सम्बन्ध घटानेका प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस प्रकार अभेदवादके पुरस्कर्ता एवं उनके अनुगामी श्वेताम्बर विद्वानोंने अभेदवादको आगमके आधारपर खड़ा किया। तब आगमभक्त क्रमवादी श्वेताम्बर विद्वानोंके लिए अभेदवादको खण्डन करना कठिन हो गया। अब युगपद्वादियोंकी भाँति अभेदवादियोंको सिर्फ इतना ही कहनेसे चल नहीं सकता था कि तुम्हारे वादको तो शास्त्रका आधार नहीं है। यह बात विशेषणवतीकी गाथा १४८ में आयी हुई प्रस्तुत वादकी चर्चाका आरम्भ देखते ही स्पष्ट हो जाती है। उसमें युगपद्वादको तो शास्त्रके आधारसे रहित है, इतना ही कहकर अलग हटा दिया है और क्रमवादका स्थापन अभेदवादके खण्डनसे ही शुरू किया है। समग्र चर्चामें पूर्वपक्षके रूपमें केन्द्रस्थानमें अभेदवाद ही है, और जो-जो आगमविरोध, युक्ति-शून्यता आदि आक्षेप किये गये हैं, वे सब अभेदवादको ही सीधे तौरपर लक्षित करके किये गये हैं। यदि अभेदवाद चर्चामें उपस्थित न हुआ होता अथवा उपस्थित होनेपर भी उसने शास्त्रका आधार न लिया होता, तो वह या तो अज्ञात रहता या ज्ञात होनेपर भी टिक न पाता। सारांश यह है कि प्रस्तुत वादके विकास मुख्यतः तर्क एवं आगमनिष्ठाके सघर्षणके कारण ही हुआ है।

(ग) प्रस्तुत वादके आद्य सूत्रवारोंका प्रश्न हमें सम्मति एवं विशेषणवतीमें आयी हुई अपने-अपने पक्षका स्थापन करनेवाली तथा विरोधी पक्षका खण्डन करनेवाली दलीलोंको ध्यानसे जाँचनेके लिए प्रेरित करता है। सम्मतिके दूसरे काण्डकी

४ से ३१ तककी गाथाओमें अभेदवादकी स्थापना और मुख्यतः क्रमवादका खण्डन होनेके कारण अभेदका समर्थन करनेवाली और क्रमका खण्डन करनेवाली दलीले हैं, जब कि विशेषणवतीकी १८४ से २८० तककी गाथाओमें तथा विशेषावश्यक-भाष्यकी ३०८९ से शुरू होनेवाली गाथाओमें इससे उल्टा है। उनमें क्रमवादका समर्थन करनेवाली और मुख्य रूपसे अभेदवादका खण्डन करनेवाली दलीले हैं। इन दोनोंमेंसे किसी एककी सिद्धान्तरूप दलीले दूसरेके पूर्वपक्षके रूपमें आये, यह स्पष्ट है, फिर भी दोनोंकी बारीकीसे तुलना करनेपर साफ प्रतीत होता है कि सन्मतिमें अभेदका स्थापन करनेवाली सभी दलीले और क्रमवादको दूषित करनेवाले सभी आक्षेप विशेषणवतीमें नहीं हैं, परन्तु उनमेंसे कुछ हैं और उनके अतिरिक्त दूसरे भी हैं। इसी तरह विशेषणवतीमें क्रमवादको स्थापित करनेवाली सभी दलीले और अभेदको दूषित करनेवाले सभी आक्षेप सन्मतिमें नहीं हैं, परन्तु उनमेंसे कुछ हैं और उनके अतिरिक्त दूसरे भी हैं। सिद्धसेन एव जिनभद्र समकालीन होनेसे आमने-सामने थे अथवा सिद्धसेन उत्तरवर्ती थे, ऐसा माननेका कोई निश्चित आधार नहीं है। यह बात प्रारम्भमें ही कही गयी है। अतएव प्रश्न होता है कि अभयदेव-के कथनानुसार यदि जिनभद्र क्रमवादके पुरस्कर्ता हों, तो सिद्धसेनने सन्मतिमें क्रमवादकी जो दलीले खण्डन करनेके लिए ली हैं, वे किस क्रमवादीके द्वारा उपस्थित की गयी हैं और सिद्धसेनने किस क्रमवादीके सामने अपना अभेद पक्ष स्थापित किया है? इसका उत्तर यही प्रतीत होता है कि जिनभद्रके पहले भी क्रमवादके स्थापक आचार्य तो हुए हैं, कदाचित् उन्होंने इस विषयका साहित्य न भी रचा हो, फिर भी उनकी दलीले तो मुखपाठ द्वारा अम्यासियोंमें चली आती होगी। क्रमवादकी ये ही दलीले जिनभद्रको विरासतमें मिली, उन्होंने इसमें अपनी ओरसे कुछ अभिवृद्धि की और खास तो यह किया कि क्रमवादका व्यवस्थित रूपसे समर्थन करनेवाले तथा अभेदका प्रबल खण्डन करनेवाले प्रकरण लिखे। सम्भवतः ऐसे व्यवस्थित प्रकरण पहले किसी क्रमवादीने नहीं लिखे होंगे। आविष्कारक अर्थमें नहीं, किन्तु उपर्युक्त अर्थमें ही अभयदेवने^१ जिनभद्रको क्रमवादके सूत्रधार या समर्थक कहा है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु मुख्य प्रश्न तो सिद्धसेनके बारेमें होता है। क्या अभेदवाद उनसे पहले किसीने प्रस्तुत करके थोड़ा-बहुत स्थापित किया था या उन्होंने ही यह वाद सर्वप्रथम उपस्थित करके सञ्ज्ञति आदिमें उसकी व्यवस्थित रूपसे चर्चा की है? जिनभद्रने विशेषणवती एव भाष्यमें अभेदका जो खण्डन किया है, उसे देखनेपर ऐसा लगता है कि उनके समक्ष अभेदके स्थापक एकसे अधिक आचार्योंके मन्तव्य थे, क्योंकि वे 'केचित्' एव 'अन्ये' शब्दसे भिन्न-भिन्न अभेदवादियोंको

लेकर उनकी भिन्न-भिन्न दलीलोका खण्डन करते हैं। इन अनेक अभेदवादियोंमें मूल सूत्रधार कौन और उनके पोषक अनुगामी या उत्तरवर्ती दूसरे कौन और उनके ग्रन्थ थे या नहीं और यदि थे तो कौन-कौनसे—यह सब निश्चयपूर्वक कहना अभी शक्य नहीं है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि जिनभद्रके सम्मुख सन्मतिके अतिरिक्त दूसरे भी सिद्धसेनके अथवा अन्य आचार्योंके अभेदसमर्थक ग्रन्थ अवश्य थे। हरिभद्र द्वारा अभेदके पक्षकारके रूपमें सूचित वृद्धाचार्य^१ यदि सचमुच ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हो और वेही अभेदके मूल सूत्रधार हों, तो ऐसा कहना चाहिए कि अभयदेव^२ सिद्धसेनको अभेदवादके पुरस्कर्ताके रूपमें जो सूचित करते हैं, उसका अर्थ इतना ही है कि उन्होंने अभेदको व्यवस्थित रूपसे प्रस्थापित करनेके लिए सर्वप्रथम प्रकरण रचे अथवा ऐसा मानना चाहिए कि पहलेके प्रकरणोंसे श्रेष्ठ प्रकरण लिखे। इस मान्यताकी पुष्टिमें एक दलील दी जा सकती है, और वह यह कि सिद्धसेनने सन्मतिके का० २ गा० २१ में, श्री यशोविजयजीकी व्याख्याके अनुसार^३, किसी एकदेशीय अभेदवादीका निरास किया है। इससे यही सूचित होता है कि सिद्धसेनसे पहले अथवा कमसे कम उनके सामने दूसरे अभेदवादी और उनकी भिन्न-भिन्न मान्यताएँ थी, जिनका निरास सिद्धसेनने किया। सिद्धसेन स्वयं ही अभेदवादके प्रथम आविष्कर्ता हो अथवा उसे व्यवस्थित रूपसे तर्कपूर्वक सर्वप्रथम लिपिवद्ध करनेवाले हों, चाहे जो हो, परन्तु इतना निश्चित है कि सिद्धसेनके अतिरिक्त दूसरे भी उनके समकालीन या उत्तरकालीन अभेदवादी विशिष्ट आचार्य हुए थे और उन्होंने इस विषयपर प्रकरण भी लिखे थे। मलधारी हेमचन्द्रने विशेषावश्यकभाष्यकी टीकामें एक संस्कृत पद्य उद्धृत किया है। वह पद्य अभेदवादका समर्थक होनेसे ऐसी सम्भावना हो सकती है कि वह सिद्धसेनका हो, परन्तु उनकी उपलब्ध वत्तीसी आदि किसी भी संस्कृत कृतिमें वह उपलब्ध नहीं होता। यदि उनकी लुप्त कृतियोंका वह पद्य न हो, तो वह दूसरे ही किसीका होना चाहिए। सिद्धसेनने सन्मतिके अतिरिक्त अभेदस्यापक दूसरा भी कोई स्वतंत्र प्रकरण लिखा होगा, ऐसी सम्भावना तो रहती ही है।

अभयदेवने मल्लवादीको युगपदादका पुरस्कर्ता कहा है^४, इसका अर्थ क्या?

१. नन्दीटीका पृ० ५२।

२. सन्मतिटीका पृ० ६०८, पं० २५।

३. ज्ञानविन्दु पृ० ४३। (सिधो जैन ग्रन्थमाला)

४. पृ० ११९८।

५. सन्मतिटीका पृ० ६०८, पं० २१।

यह भी एक प्रश्न है। दिगम्बरोका युगपद्वाद कुन्दकुन्दके ग्रन्थसे ही सिद्ध है। मल्लवादीका कोई भी ग्रन्थ इस समय अविकल उपलब्ध नहीं है, अतः इसका अर्थ इतना ही लगता है कि अभयदेवके सामने युगपद्वादकी व्यवस्थित रूपसे चर्चा करने-वाला मल्लवादीरचित कोई स्वतन्त्र प्रकरण अथवा टीकात्मक ग्रन्थ होगा^१।

सिंहगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्र और गन्धहस्ती

सिंहगणी क्षमाश्रमण सिंहगणी क्षमाश्रमणने नयचक्रमे अनेक स्यानोपर सिद्धसेनके नामके साथ और नामके बिना भी सन्मतिकी अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं^२ और उस ग्रन्थके अन्तमें ऐसा सूचित किया है कि सन्मति एव न्यायावतार जैसे नय-विषयक प्रौढ ग्रन्थ होनेपर भी वे अत्यन्त दुर्गम तथा विस्तृत होनेसे संक्षेपरचि पाठकोके लिए यह नयचक्र लिखा गया है। ग्रन्थकारका यह एक ही उल्लेख स्वयं उनके ऊपर सिद्धसेनका कितना अधिक प्रभाव था, यह सूचित करनेके लिए पर्याप्त है।

हरिभद्र हरिभद्रके ऊपर सिद्धसेनका प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने सिद्धसेनका सन्मतिके द्वारा एक लब्धप्रतिष्ठके रूपमें वर्णन तो किया ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, धर्मसंग्रहणी आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचनामें सिद्धसेनकी सन्मति, न्यायावतार और दूसरी बत्तीसी आदि कृतियोंमेंसे बहुमूल्य प्रेरणा तथा उपयोगी विषय लिये हैं^३। यह बात इन दोनों आचार्योंकी कृतियोंकी तुलना करनेसे स्पष्ट ज्ञात हो सकती है। षड्दर्शनसमुच्चय तो प्रायः सिद्धसेनकी दार्शनिक बत्तीसियोंके अवलोकनकी प्रेरणाका ही फल है।

गन्धहस्ती—गन्धहस्तीने अपनी तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिमें^४ कमवादका पक्ष लेकर अभेदवादीके सामने जो कठोर आक्रमण किया है, वह सिद्धसेन दिवाकरको लक्ष्यमें रखकर ही किया हो, ऐसा जान पड़ता है, फिर भी ऐसा लगता है कि उनके ऊपर

१. ज्ञान-दर्शनोपयोगके क्रम आदिकी यह चर्चा 'ज्ञानबिन्दु'की प्रस्तावना (पृ० ५४) में भी की गयी है।

२. देखो सन्मति, परिशिष्ट दूसरा 'सिंह क्षमाश्रमण'।

३. अनेकान्तजयपताकामें चर्चित विषयका मूल सन्मतिके तीसरे काण्डमें है। सन्मतिके पहले काण्डकी गा० ४३-४४ का अनुवाद शास्त्रवार्तासमुच्चयकी ५०५ एव ५०६ कारिकाओंमें है। षड्दर्शनसमुच्चयके मूलमें चर्चित विषय रूपान्तरसे सिद्धसेनकी दार्शनिक बत्तीसियोंमें है।

४. 'यद्यपि केचित् पण्डितम्मन्याः' इत्यादि अ० १, ३१; पृ० १११।

दिवाकरके पाण्डित्यका प्रभाव बहुत पड़ा है, क्योंकि वह अपनी इसी भाष्यवृत्तिमें अनेक स्थानोंपर सिद्धसेनके सन्मतिगत^१ और द्वात्रिंशिकागत^२ पद्य प्रमाणके रूपमें आदरपूर्वक उद्धृत करते हैं। यह बात इतना सूचित करनेके लिए पर्याप्त है कि गम्भीर आचार्य अमुक बातमें मतभेद होनेपर भी बिना मतभेदकी दूसरी बातमें अपने प्रतिपक्षी प्रतिष्ठित आचार्यका प्रामाण्य स्वीकारकर उनका आदर करते थे।

अकलंक, वीरसेन और विद्यानन्दी

अकलंक इत प्रसिद्ध एव प्रकाण्ड दिगम्बर आचार्यपर सिद्धसेनका भारी प्रभाव दिखायी पड़ता है। अकलंकने राजवार्तिकमें^३ सिद्धसेनकी वत्तीसीमेंसे एक पद्य तो उद्धृत किया ही है, परन्तु पर्यायसे गुणके भिन्न न होनेकी सिद्धसेनकी दलीलको, अपनी प्राचीन दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध जा करके भी, राजवार्तिकमें^४ स्वीकार कर लिया है और लघीयस्त्रयीमें^५ जो प्रमाण, नय एव निक्षेप आदिका वर्णन किया है, उसमें सिद्धसेनके सन्मति एव न्यायावतारकी थोड़ी-बहुत प्रेरणा होगी, ऐसा तुलना करनेपर लगता है।

वीरसेन दिगम्बर परम्पराके अनुसार वीरनिर्वाणके अनन्तर क्रमशः श्रुतका ह्रास होता गया और वीर निर्वाण ६८३ के बाद तो कोई भी आचार्य अगधर या पूर्वधर नहीं रहा; परन्तु जो कोई हुए, वे अग एव पूर्वके अगधर हुए। उनकी परम्परामें पुष्पदन्त और भूतबलि हुए, जिन्होंने 'पङ्खण्डागम' की रचना की और गुणधर आचार्यने 'कमायपाहुड' की रचना की। आचार्य वीरसेनने उक्त दोनों ग्रन्थोंकी टीका लिखी, जो क्रमशः 'धवला' और 'जयधवला' के नामसे प्रसिद्ध है। आचार्य वीरसेनका समय ईसाकी आठवीं शतीके उत्तरार्धसे नवीं शतीके पूर्वार्धतक मानना चाहिए, क्योंकि धवलाके अन्तमें उन्होंने समयका जो निर्देश किया है, उसके अनुसार वह ग्रन्थ ८वीं अक्षुवर, ८१६ में पूर्ण हुआ था^६। आचार्य वीरसेनने उक्त दोनों टीकाग्रन्थोंमें प्रमाणके तौरपर सन्मतिकी अनेक गाथाएँ उद्धृत की

१. अ० १, सू० ७ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति (पृ० ५३) में पहले काण्डकी २१वीं और २८वीं गाथाएँ उद्धृत हैं।

२. अ० १, सू० १० की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ७१।]

३. अ० ८, सू० १ के १७वें वार्तिकमें पहली वत्तीसीका ३०वाँ पद्य उद्धृत है।

४. अ० ५, सू० ३७ के वार्तिक।

५. देखो लघीयस्त्रयी १, ४ और न्यायावतारका चौथा ब्लोक आदि।

६. देखो धवला प्रथम भागकी अत्रेजी प्रस्तावना पृ० २।

हैं और अपने मतके साथ सन्मतिके वक्तव्यका कोई भी विरोध नहीं है, ऐसा भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इससे प्रतीति होता है कि उनके समयतक दिगम्बर परम्परामे भी सन्मतिका प्रामाण्य स्वीकृत हो गया था।

धवलामे (पृ० १५) सन्मतिकी 'णाम ठवणा' इत्यादि गाया (१६) उद्धृत करके उसके साथ अपने मन्तव्यका किस तरह विरोध नहीं है, इसका स्पष्टीकरण किया है। यही वस्तु पुनः सिद्धसेनके नामके साथ उक्त गाथाको

१. धवला भा० १ : पृ०	१२	सन्मतिकी गाया :	१.३, ४
	१३		१.११
	१५		१.६
	८०		३.४७
	९१		३.६४, ६५
	१६२		३.४७
	३८६		१.३१
धवला भा० ८ :	३		१.६
	३३७		१.११, १२
जयधवला भा० १ : २१८			१.३, ५
	२२०		१.४
	२४५		३.४७
	२४८		१.११, १२, १३
	२४९		१.१७, १८, १९, २०, २१
	२५२-३		१.८, ३१
	२५६		१.९
	२५७		१.२८
	२६०		१.६
	३५१		२.४
	३५२		२.५, ९
	३५६		२.१२, १३
	३५७		२.३
	३५९		२.६
	१०८		वत्तीसी : ३.१६

उद्धृत करके जयधवलामें (पृ० २६०) विशेष रूपसे स्पष्ट की गयी है। इससे सूचित होता है कि आचार्य सिद्धसेनके मन्तव्यका तत्कालीन दिगम्बर परम्परामें भी कितना महत्त्व था। एक और भी ध्यान देने योग्य बात है और वह यह कि उक्त दोनों स्थानोंपर आचार्य सिद्धसेनके सन्मतिको सूत्र (सम्मसुत्त) कहा है, जिससे सूचित होता है कि वह ग्रन्थ सूत्रकोटिका माना जाता था।

विद्यानन्दी विद्यानन्दी भी अकलक जैसे ही प्रसिद्ध और प्रकाण्ड दिगम्बर आचार्य थे। उन्होंने तो अकलंककी अपेक्षा भी सिद्धसेनीय कृतियोंकी अधिक उपासना की हो, ऐसा लगता है, क्योंकि वह अपने श्लोकवार्तिकमें^१ मात्र सन्मतिकी गाथा उद्धृत करके ही सन्तोष नहीं मानते, परन्तु कहीपर वह सिद्धसेनके मतको सविशेष मान्य रखते हैं, तो कही उनके मतका विरोध करते भी प्रतीत होते हैं। पर्यायसे गुणके भिन्न न होनेकी बातका स्वीकार अकलकके ही समान होनेके कारण उस तरफ ध्यान न भी दे, तो भी मूल दो नयोमें उत्तरनयोके बँटवारेका विद्यानन्दी द्वारा किया गया स्वीकार सन्मतिके अवलोकनपर आश्रित हो, ऐसा जान पड़ता है^२, क्योंकि ऐसा बँटवारा श्लोकवार्तिकके आधारभूत सर्वार्थसिद्धि या राजवार्तिकमें नहीं दिखायी पड़ता और दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम श्लोकवार्तिकमें ही दृष्टिगोचर होता है। विद्यानन्दीने नैगमनयको भिन्न माननेके वारेमें और नय छ नहीं, किन्तु सात ही होने चाहिए, इस वारेमें जो चर्चा की है^३, वह सिद्धसेनके षड्नयवादके सामने ही प्रतीत होती है, क्योंकि दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें कही भी षड्नयवादके स्वीकारकी बात ही नहीं दिखायी पड़ती। विद्यानन्दीका विशिष्ट एव विस्तृत नयनिरूपण, उनके कथनानुसार, भले ही 'नयचक्र'^४ पर अवलम्बित हो, किन्तु उसमें सिद्धसेनके नयविषयक विचारोंका बहुत ही स्पष्ट प्रतिधोप है। मल्लवादी अथवा अन्य किसी आचार्यके नयचक्रके अभ्यासके परिणामस्वरूप विद्यानन्दीके नयनिरूपणमें सप्तभगियोंके विविध भेदोंका जो वर्णन है, उसमें सन्मतिगत सप्तभगीके परिचयका थोड़ा भी हिस्सा होगा, ऐसी सम्भावना रहती है। विद्यानन्दीको सन्मतिका खास परिचय था, यह बात पूर्वोक्त उल्लेखसे सिद्ध होनेके पश्चात् इस सम्भावनाकी पुष्टिमें कुछ अधिक कहने जैसा नहीं रहता।

१. पृ० ३ पर सन्मतिके तीसरे काण्डकी ४५वीं गाथा उद्धृत है।

२. अ० १, सू० ३३ का श्लोक तीसरा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २६८।

३. अ० १, सू० ३३ के श्लोक १७-२६, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २६९।

४. 'तद्विशेषा. प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः।' १, ३३ का १०२वाँ श्लोक।

शीलांक, वादिवेताल शान्तिसूरि और वादिदेव

ये तीनों आचार्य सिद्धसेनकी कृतियोंके अम्यासी थे और इन्होंने उन कृतियोंमेंसे बहुत कुछ अपनी रचनाओंमें लिया है, यह बात उनकी प्रसिद्ध कृतियोंको देखते ही स्पष्ट हो जाती है। शीलांकने आचाराग^१ और सूत्रकृताग^२ सूत्रकी टीकामें तथा वादिवेताल शान्तिसूरिने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पाइय' टीकामें^३ सन्मतिके बहुतसे पद्य समर्थनके रूपमें उद्धृत किये हैं। वादिदेवसूरिके स्याद्धादरत्नाकरमें तो सन्मतिकी टीकाकी ध्वनि जहाँ-तहाँ सुनायी पड़ती है। उनके प्रमाणनिरूपणके अनेक आधारोंमें एक खास आधार न्यायावतार भी है, इतना ही नहीं, वादिदेव स्वयं अपनी रचनाके मूल आधारके रूपमें आचार्य सिद्धसेनको रत्नाकरके आरम्भमें ही याद करते हैं^४।

हेमचन्द्र और यशोविजय

हेमचन्द्र सर्वत्रस्वतंत्रके रूपमें प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपनी दो बत्ती-सियाँ सिद्धसेनकी बत्तीसियोंका आदर्श सम्मुख रखकर ही रची है, ऐसा उनकी

१. आचारागसूत्रकी टीका पृ० १ पर द्रव्यानुयोगके रूपमें पूर्व एवं सन्मति आदिका एक साथ ही उल्लेख है, तथा पृ० २४९ पर सन्मतिका दर्शनप्रभावक ग्रन्थके रूपमें उल्लेख है। वे दोनों पाठ क्रमशः इस प्रकार हैं

‘द्रव्यानुयोगः पूर्वाणि सम्मत्यादिकश्चेत् ।’

‘दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः ।’

पृ० ८०, ८५, १४७ और १७१ पर क्रमशः पहले और तीसरे काण्डकी गाथाएँ उद्धृत हैं। पृ० २३१ और २५० पर दूसरी और आठवीं बत्तीसीके पद्य उद्धृत हैं।

२. सूत्रकृतागसूत्रकी टीकामें पृ० २११ पर सन्मतिके पहले और तीसरे काण्डकी गाथाएँ उद्धृत हैं।

३. ‘पाइय’ टीका (पृ० २१) में सन्मतिके पहले काण्डकी तीसरी और छठी गाथा ‘तथा च महामति.’ कहकर उद्धृत की गयी है तथा पृ० ६७ पर तीसरे काण्डकी ४७वीं गाथा दी है।

४. श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा-

स्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः ।

येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान्

शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोज्य मादृक् ॥ ८ ॥ पृ० २

रचनाका आरम्भ देखते ही स्पष्ट हो जाता है। 'सकलार्हत्-प्रतिष्ठान' की रचना उन्होंने समन्तभद्रके 'स्वयम्भूस्तोत्र' के लघु अनुकरणके रूपमें की है, परन्तु अयोगव्यवच्छेद और अन्ययोगव्यवच्छेद नामकी वत्तीसियोंमें तो सिद्धसेनकी कृतियोंमेंसे ही मुख्यतः प्रेरणा प्राप्त की है। उन्होंने सिद्धसेनको श्रेष्ठ कवि कहा है, यह उनपर पडे हुए वत्तीसियोंके प्रभावको सूचित करता है।

यशोविजयजी अन्तमे जैन-साहित्यकी विविध रूपसे पूर्ति एव असाधारण उपासना करनेवाले वाचक यशोविजयजी आते हैं। सिद्धसेनसे लगभग बारह सौ वर्ष पीछे होनेपर भी सिद्धसेनके साक्षात् विद्याशिष्यत्वके सम्मानकी योग्यता रखनेवाले यही यशोविजयजी हैं। सिद्धसेनकी कृतियोंके अवलोकनकार एव अम्यासी अनेक हुए होंगे, परन्तु उनकी कृतियोंका गहरा और सर्वांगीण पान जितना इन्होंने किया है, उतना किसी दूसरेने किया हो, ऐसा निश्चयपूर्वक कहनेके लिए हमारे पास प्रमाण नहीं है। प्राकृत, संस्कृत और गुजरातीमें विपुल साहित्य रचनेवाले इन वाचकवरेण्यने तीनों भाषाकी अपनी अनेक कृतियोंकी रचना केवल सन्मतिके तीन काण्डोंके आधारपर ही की है। सन्मतिके सारे काण्डोंके काण्ड लेकर इन्होंने स्वतंत्र प्रकरण लिखे हैं और दूसरे अनेक प्रकरणोंमें सन्मतिके विचार गँथ लिये हैं। इन वाचकवर्यकी सभी कृतियोंमें मिलनेवाली और उनके द्वारा विवृत सन्मतिकी गाथाओंको जोड़ करें, तो ऐसा ही कहना पड़ेगा कि वाचक यशोविजयजीने प्रायः समग्र सन्मतिका विवरण और उसका उपयोग किया है। यह बात सन्मतिके सटीक संस्करणके भा० ५ में तीसरा परिशिष्ट देखनेसे स्पष्ट हो जायगी।

वाचक यशोविजयजीके कौन-कौनसे ग्रन्थ सन्मतिके किस-किस काण्डपर कितने अवलम्बित हैं, इसका स्पष्ट दर्शन तो उनके उक्त परिशिष्टगत ग्रन्थ सांगोपांग देखनेसे ही हो सकता है, फिर भी उस परिशिष्टका सिर्फ अवलोकन ही अम्यासियोंको यशोविजयजीके सन्मति-विषयक गहरे अम्यासकी प्रतीति करायेगा। यशोविजयजी द्वारा सन्मतिकी गाथाओंको क्रमसे या उत्क्रमसे किया गया विवरण और उसपर प्रदर्शित किये गये भाव इकट्ठे करके सन्मतिकी संक्षिप्त टीकाका

१. वव सिद्धसेनस्तुतयो महार्या अशिक्षितालापकला वव चैषा ।

तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्वलव्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥

हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वार्त्रिंशिकाके व्याख्याकार मल्लिषेणका भी मानना है कि भा० हेमचन्द्रने स्तुतियोंके विषयमें सिद्धसेनका अनुकरण किया है। देखो स्याद्वादमजरी पृ० २ ।

एक नवीन सस्करण तैयार करनेकी हमारी वृत्ति यद्यपि हम चरितार्थ नहीं कर सके हैं, तथापि कोई उत्साही एव बुद्धिमान् विद्वान् उस परिशिष्टके ऊपरसे यह काम कम मेहनतमे कर सकेगा। जिस तरह यशोविजयजीके बाद जैन वाङ्मयका विकास एक-सा जाता है, उसी तरह सिद्धसेनकी कृतियोंके अवलोकनकार और अभ्यासियोंका पहलेसे चला आता विरल प्रवाह भी एक जाता है।

४. सिद्धसेन और जैनेतर आचार्य

मध्यकालीन तथा अर्वाचीन किसी भी विशिष्ट दार्शनिक कृतिमे उस-उस दर्शनके सूत्रधार माने जानेवाले कणाद, अक्षपाद, जैमिनि, वादरायण आदि आचार्योंका और उनके विशिष्ट व्याख्याकारोंका एक या दूसरे रूपमे प्रभाव न हो, यह शक्य ही नहीं है। अतः सिद्धसेन जैसोकी विशिष्ट कृतियोंमें उन आचार्योंके ग्रन्थोंका अभ्यास झलक उठे, यह स्वाभाविक ही है। हम सिद्धसेनकी इस समय उपलब्ध होनेवाली थोड़ी कृतियोंमे भी उन आचार्योंका विचार-प्रवाह प्रायः उनके नामके साथ ही देख सकते हैं।^१ इसीलिए यहाँ वैसे जैनेतर आचार्योंके साथ सिद्धसेनकी तुलना करनेका विचार ही नहीं है। जिन कतिपय खास-खास जैनेतर विद्वानोंकी कृतियाँ स्वरूपकी दृष्टिसे, शैलीकी दृष्टिसे, नामकरणकी दृष्टिसे और भावनाकी दृष्टिसे सिद्धसेनकी अपने ग्रन्थ लिखनेमे प्रेरक होनेकी कल्पना होती है, उन्हीं विद्वानोंके साथ सिद्धसेनकी अतिसक्षेपमे तुलना करनेका यहाँ विचार है।

नागार्जुन, मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु

नागार्जुन नागार्जुन ईसाकी दूसरी शतीके प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और शून्यवादके सूत्रधार समझे जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मध्यमकारिका और विग्रहव्यावर्तनी कारिका सिद्धसेनने देखी होगी, क्योंकि वह अपनी वत्तीसीमे बौद्ध विद्वानों द्वारा प्रतिष्ठित मध्यममार्गको अपनानेके लिए उसके सच्चे प्रणेताके रूपमे महावीरको ही मानकर उसके (मध्यममार्गके) द्वारा उनकी स्तुति करते हैं^२; इतना ही नहीं, नागार्जुन द्वारा प्रतिष्ठित शून्यत्वकी भावनाको अपने विवक्षित अर्थमे लेकर और उसे महावीरके साथ जोड़कर भी उनकी स्तुति करते हैं^३। इसके अतिरिक्त बुद्धके अनेक साभिप्राय विशेषणोंमेसे एक 'शून्यवादी' विशेषणको

१. देखो न्याय, साध्य, वैशेषिक आदि दार्शनिक द्वात्रिंशिकाएँ।

२. देखो द्वात्रिंशिका ३, ५।

३. देखो द्वात्रिंशिका ३, २०।

अपने विवक्षित अर्थमें महावीरके साथ जोड़कर उनकी शून्यवादीके रूपमें उन्होंने स्तुति की है।^१ शून्यत्वभावनाकी और शून्यवादित्वकी प्रतिष्ठा तथा मध्यममार्गका महत्त्व सामान्यतः शून्यवादके प्रतिष्ठापक माने जानेवाले और मध्यमककारिकके रचयिता नागार्जुनके कारण समझा जाता है। यह धारणा यदि सत्य हो, तो सिद्धसेनकी स्तुतियोंमें आनेवाले उक्त उल्लेख उनपर नागार्जुनकी कृतियोंके पड़े हुए प्रभावका अनुमान करानेके लिए पर्याप्त है।

मैत्रेय और असंग मैत्रेय एव असंग इन दोनों गुरु-शिष्योंके कई मूल ग्रन्थ मिलते हैं^२, तो कई ग्रन्थोंके चीनी अनुवाद भी उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थोंके आचारपर प्रोफेसर टूचीने जो योडा-बहुत विश्वासपात्र लिखा है^३, उसपरसे ऐसा मानना सकारण प्रतीत होता है कि सिद्धसेनको अपनी कृतियोंके विषय प्राप्त करनेमें, उनपर चर्चा करनेमें अथवा उनकी स्पष्टता करनेमें साक्षात् या परम्परासे इन दोनों गुरु-शिष्योंकी कृतियाँ कमोवेश उपकारक हुई होगी, क्योंकि सिद्धसेनकी वाद-विषयक बहुत ही मार्मिकतावाली जो दो वत्तीसियाँ इस समय उपलब्ध होती हैं, उनकी प्रतिपाद्य वस्तु इन मैत्रेय और असंगके उपलब्ध प्रकरणोंमें सविस्तर होगी, ऐसी धारणा प्रो० टूचीके लेखपरसे होती है।

वसुवन्धु विज्ञानवादके प्रसिद्ध आचार्य वसुवन्धुका 'वादविधि'^४ ग्रन्थ मूल रूपमें यद्यपि हमारे सामने नहीं है, फिर भी उनकी बीस श्लोककी एक विशिका और तीस श्लोककी एक त्रिशिका ये दो कृतियाँ अपने मूल रूपमें प्राप्त हुई हैं, जो हमारे समक्ष हैं।^५ इनका विषय विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि है। उक्त वादविधिका प्रभाव सिद्धसेनकी वाद-विषयक दो वत्तीसियोंपर पडा होगा, ऐसी तो इस समय केवल कल्पना ही की जा सकती है, परन्तु उक्त विशिका और त्रिशिकाके प्रभावके विषयमें तो कुछ अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि इष्ट वस्तुके निरूपणके

१. देखो द्वात्रिंशिका ३, २१।

२. मैत्रेय और असंगके लम्बे ग्रन्थ हैं। गहायानसूत्रालंकार, अभिसमया-लंकार, मध्यान्तविभाग, योगचर्यासूत्रशास्त्र।

३. देखो जर्नल रो० ए० सो० जुलाई १९२९ का अंक, पृ० ४५१।

४. यह ग्रन्थ वसुवन्धुका है, इसके बारेमें प्रो० टूचीके एक मननीय लेखके लिए देखो इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरलीका दिसम्बर १९२८ का अंक, पृ० १३०।

५. डॉ० सिल्वा लेवी द्वारा सम्पादित।

लिए अमुक नियतसंख्यक श्लोकवाले प्रकरणोंकी रचना करना और उन प्रकरणोंको श्लोकसंख्याके अनुसार विशिका आदि जैसा नाम देना- यह पद्धति इस समय हमें वसुवन्धुकी कृतियोंमें सबसे पहले उपलब्ध होती है। सम्भव है, पहलेसे चली आती इस पद्धतिको वसुवन्धुने अपनाया हो। सिद्धसेन विज्ञानवादके ज्ञाता थे, ऐसी प्रतीति भी उनके ग्रन्थोंको देखनेसे होती है। वसुवन्धु जैसे पूर्ववर्ती प्रसिद्ध विज्ञानवादीकी कृतियाँ सिद्धसेन जैसे बहुश्रुतके हाथमें आयी होगी, ऐसी धारणा सर्वथा निर्मूल तो नहीं कही जा सकती। अतएव सिद्धसेनको अमुक श्लोक-परिमाण प्रकरणोंकी रचना करनेकी, उन प्रकरणोंको श्लोकसंख्याके अनुसार बत्तीसी जैसे नाम देनेकी और उन प्रकरणोंके द्वारा अपनी प्रतिपाद्य वस्तु स्थापित करनेकी जो स्फुरणा हुई, उसमें वसुवन्धुकी उक्त विशिका, त्रिशिका आदि कृतियोंका थोड़ा भी हिस्सा होगा, ऐसी कल्पना अपने-आप हो आती है।

अश्वघोष और कालिदास

अश्वघोष और कालिदास दोनों महाकविके रूपमें विख्यात हैं और इनकी एकाधिक कृतियाँ भी प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्राचार्यने सिद्धसेनका एक श्रेष्ठ कविके रूपमें वर्णन किया है, फिर भी निर्विवाद रूपसे कहा जा सके ऐसा इनका कोई महाकाव्य या कोई काव्यग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। जो कुछ हमारे सामने है, वह है इनकी बत्तीसियाँ। इन बत्तीसियोंका काव्यत्व और शैली तथा कुछ पद्य एव उनके भावको देखनेपर और अश्वघोष तथा कालिदासकी कृतियोंके साथ उनकी तुलना करनेपर ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि इन तीनों विद्वानोंकी कृतियोंमें बहुत ही समानता है। अश्वघोषकी छाया कालिदासके ऊपर है। कालिदास और सिद्धसेन एकदम नजदीकके समयमें आगे-पीछे हुए हो अथवा समकालीन हो, इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना शक्य नहीं है, फिर भी इतना तो लंगता ही है कि किसी एकके विचार दूसरेमें प्रतिबिम्बित हुए हैं। अश्वघोषके बुद्धचरित और सौन्दरनन्दमें तथा कालिदासके कुमारसम्भव, रेघुवंश आदिमें पद्यका जो दृढबन्ध, प्रसाद गुण और स्फुटार्यत्व है, वैसा ही सिद्धसेनकी बत्तीसियोंमें है। बुद्धचरित आदिमें विविध छन्दोंका चुनाव और सगन्तिमें जैसा छन्दोभेद है, वैसा ही बत्तीसियोंमें है। अश्वघोष अपने पूज्य बुद्धका और कालिदास स्वमान्य महादेव एव अजका अपनी-अपनी परम्परागत साम्प्रदायिक भावनाके अनुसार जिस ढंगसे वर्णन करते हैं, प्रायः उसी ढंगसे सिद्धसेन अपने मान्य देव महावीरके त्यागका अति-सक्षेपसे चित्र अंकित करते हैं। 'पुराना होनेसे सारा काव्य अच्छा है और नया

है, इसलिए वह खराब है ऐसा नहीं" - कालिदासका यह सक्षिप्त भाव मानो भाष्यके रूपमें विकसित होकर सिद्धसेनकी समग्र छठी वत्तीसीमें प्रतिपादित है, ऐसा उस वत्तीसी और कालिदासके उक्त भाववाले पद्यको देखनेपर ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। सिद्धसेनके प्रिय छन्द तथा अश्वघोष एव कालिदासके प्रिय छन्दोके बीच भी बहुत ही समानता है। उनमें शब्दाडम्बर नहीं, बल्कि अर्थगौरव विशेष है। दार्शनिक विषयके कारण सिद्धसेनकी वत्तीसियोंमें जिस कठिनताका अनुभव होता है उसे जाने दें, तो कल्पनाकी उच्चगामिता, वस्तुव्यक्ती आकर्षकता और उपमाकी मनोहरताके विषयमें ये तीनों बहुत ही समान हैं।

दिङ्नाग और शंकररजामी

दिङ्नाग बौद्ध तार्किक दिङ्नाग एक विज्ञानवादीके रूपमें विख्यात है। इनकी अनेक प्रसिद्ध कृतियोंमेंसे एक भी मूल एव अविकल रूपमें इस समय हमारे सामने नहीं है। अतः हम इनकी कृतियोंके विषयमें जो कुछ जान सकते हैं, वह मुख्यतः उनके चीनी और तिब्बती अनुवाद तथा उन भाषाओंमें उनपर की गयी व्याख्याओंके आधारपर ही।^१ दिङ्नागका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायमुख' है। प्रो० टूचीने चीनीपरसे इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है। दूसरा एक 'न्यायप्रवेश' नामका ग्रन्थ अतिप्रसिद्ध और मूल रूपमें ही सुलभ है।^२ तिब्बती परम्परा और प्रो० विष्णुशेखर भट्टाचार्यका मत वाधित न हो, तो यह ग्रन्थ भी दिङ्नागकी ही कृति है। दिङ्नाग और सिद्धसेनके पौर्वापर्य या समकालीनताके बारेमें कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना शक्य नहीं है, फिर भी ऐसा माननेका कारण है कि इन दोनोंके बीच यदि समयका अन्तर होगा, तो वह नहीं-जैसा ही होगा। इन दोनोंमेंसे किसी एककी कृतियोंके ऊपर दूसरेकी कृतियोंका प्रभाव यदि नहीं भी पड़ा होगा, तो भी इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन दोनोंकी कृतियोंमें ऐसे अनेक समान

१. पुराणमित्येव न सायु सर्वं न चापि कान्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

मालविकाग्निमित्र

२. देखो डॉ० सतीशचन्द्रका 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' ग्रन्थ तथा 'न्यायप्रवेश' दूसरे भागकी प्रो० विष्णुशेखर भट्टाचार्यकी प्रस्तावना।

३. यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीजमें प्रो० आनन्दशंकर वी० ध्रुव द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ जैन भण्डारोंमें हैं।

अंश है, जो दोनोंको मिली समान विरासतके परिणाम है। इस बातकी प्रतीति सिद्धसेनके न्यायावतारके साथ न्यायमुख और न्यायप्रवेशकी तुलना करनेसे हो सकती है। केवल नामकरण अथवा ग्रन्थके विषयके चुनावमें ही नहीं, शब्दविन्यास और वस्तुविवेचनतकमें इन तीनों ग्रन्थोंका साम्य बहुत ही ध्यान आकर्षित करे, ऐसा है। सिद्धसेनके द्वारा न्यायावतारमें किये गये कतिपय विधान^३ न्यायमुख एवं न्यायप्रवेशके विधानोंके सामने ही हैं अथवा दूसरे किसी वैसे बौद्ध ग्रन्थके विधानके सामने हैं, यह जाननेका निश्चित साधन तो इस समय कोई नहीं है; फिर भी न्यायमुख तथा न्यायप्रवेशकी प्रत्यक्ष एवं अनुमान-विषयक विचारसरणीको सम्मुख रखकर न्यायावतारकी विचारसरणीको देखनेपर इस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धसेनने अपने विधान दिङ्नागकी परम्पराके सामने ही किये हैं।

शंकरस्वामी यदि चीनी परम्परा और उसपरसे बद्ध मान्यता सच हो, तो उक्त न्यायप्रवेश ग्रन्थ शंकरस्वामीका ही है और यह शंकरस्वामी दिङ्नागके शिष्य थे। 'तत्त्वसंग्रह' के व्याख्याकार कमलशील^४ और सन्मतिके टीकाकार अभयदेव द्वारा निर्दिष्ट^५ शंकरस्वामीसे न्यायप्रवेशके कर्ता शंकरस्वामी भिन्न हैं या नहीं, यह जाननेका इस समय हमारे पास कोई साधन नहीं है, परन्तु यदि न्यायप्रवेशका कर्ता कोई शंकरस्वामी हो और वह दिङ्नागका शिष्य हो अथवा दिङ्नाग-के समयके आसपास हुआ हो, तो ऐसी सम्भावना रहती है कि सिद्धसेन और उस शंकरस्वामी दोनोंमेंसे किसी एकके ऊपर दूसरेकी कृतिका असर है अथवा दोनोंकी कृतिमें किसीकी विरासत है।

धर्मकीर्ति और भामह

इन दो विद्वानोंमेंसे पहला कौन और बादका कौन, इस विषयमें मतभेद है^६,

१. इसके लिए देखो न्यायमुखकी प्रो० दूची द्वारा सम्पादित अंग्रेजी आवृत्ति, न्यायप्रवेशकी प्रो० भट्टाचार्य तथा प्रो० ध्रुव द्वारा सम्पादित आवृत्ति तथा पं० श्री दलमुखसाई मालवणिया द्वारा की गयी विस्तृत तुलनावाला परिशिष्ट १ 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' पृ० २८७।

२. अनुमानमें अत्रान्तताका, प्रत्यक्षमें भी अत्रान्तताका और प्रत्यक्षके स्वार्थ-परार्थ भेद होनेका इत्यादि विधान।

३. तत्त्वसंग्रहपत्रिका पृ० १९९।

४. सन्मतिटीका पृ० ६६४, पं० १५।

५. भामह और धर्मकीर्तिपर दिवेकरका लेख ज० राँ० ए० सो० अक्टूबर १९२९, पृ० ८२५ से।

परन्तु हमारी दृढ धारणाके अनुसार यह तो निश्चित है कि सिद्धसेन इन दोनोंके पूर्ववर्ती हैं। धर्मकीर्ति सातवीं शताब्दीके प्रखर बौद्ध तार्किक हैं, तो भामह आलोचकारिक हैं। धर्मकीर्तिके समग्र 'हेतुविन्दु'^१ के साथ तुलना की जा सके, ऐसी सिद्धसेनकी कोई कृति इस समय हमारे सामने नहीं है, परन्तु उनके न्यायविन्दु-के साथ आद्यन्त तुलना की जा सके, ऐसी एक कृति तो सौभाग्यसे बची हुई है और वह है न्यायावतार। न्यायविन्दुमें प्रमाणसामान्यकी चर्चा होनेपर भी उसमें अनुमानकी ओर खास करके परार्थ अनुमानकी ही चर्चा मुख्य और विस्तारसे है। न्यायावतारमें भी यही वस्तु है। न्यायमुख और न्यायप्रवेगके प्रत्यक्षलक्षणके साथ न्यायविन्दुके प्रत्यक्षलक्षणकी तुलना करनेपर दोनोंकी परम्परा भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। पहलेके दो ग्रन्थोंकी परम्परा विज्ञानवादकी तथा तीसरेकी परम्परा सौत्रान्तिक मालूम होती है। भामहने तो अपने अलकारग्रन्थमें प्रसंगवश^२ ही परार्थ अनुमान अर्थात् न्यायकी सक्षिप्त चर्चा करके^३ महान् भार उठानेकी कविकी जवाबदेहीका निर्देश किया है। उसमें भी विज्ञानवादकी ही परम्परा भासित होती है। सिद्धसेनने अपने न्यायावतारमें विज्ञानवाद और सौत्रान्तिक दोनों बौद्ध परम्पराओंके सामने जैन दृष्टिके अनुसार कई विधान किये हैं, परन्तु वे विधान, हमारी दृष्टिसे, धर्मकीर्ति या भामहके सामने नहीं हैं। ये दोनों बौद्ध परम्पराएँ बहुत लम्बे अरसेसे पहले ही से चली आ रही थीं और इनके अनुगामी अनेक दूसरे समर्थ विद्वानोंने इनकी पुष्टिमें काफी साहित्य रचा था। इन परम्पराओंके पोषक मंत्रेय, असंग और दिङ्मताग जैसेके ग्रन्थोंके सामने ही सिद्धसेनके विधान हैं। अतएव न्यायविन्दु अथवा काव्यालकारके साथ न्यायावतारके कुछ साम्य-मात्रसे सिद्धसेनके समर्थ-विषयक अनुमानकी ओर ढल जाना योग्य नहीं है। दर्शन या अन्य विषयके प्रदेगमें ऐसी अनेक विचार-परम्पराएँ हैं, जिनका

१. इसकी मूल सस्कृत प्रति सौभाग्यसे पाटनके जैन भण्डारमेंसे उपलब्ध हुई है। इसकी एक नकल गुजरात विद्यापीठके राजचन्द्र ग्रन्थ भण्डारमें है। अब यह ग्रन्थ श्रवणेश्वरी टीका तथा दुर्वेक मिश्रकी श्रुणुटीकाके साथ गायकवाड़ और एण्टल सिरीजमें प्रकाशित हो चुका है।

२. देखो परिच्छेद ५।

३. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।

जायते यत्र काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

आदिमूल खोजना शक्तिके बाहरकी बात है। वे विचार-परम्पराएँ पर्वतीय स्रोतकी भाँति कभी मन्द तो कभी तीव्र वेगसे उदित होती देखी जाती हैं। किसी समय विद्वान्के पैदा होनेपर अमुक समयतक अमुक परम्पराको बहुत वेग मिलता है। उस समय दूसरी परम्पराएँ या तो दब-सी जाती हैं या फिर कुछ गौण बन जाती हैं। ऐसे समय वेगप्राप्त परम्पराको उस समय विद्वान्की आद्यसृष्टि मान-कर उसपरसे ऐतिहासिक अनुमान बाँधनेमें बहुत बार भूल हो जानेकी सम्भावना रहती है। धर्मकीर्ति एवं सिद्धसेनके ग्रन्थगत सादृश्यपरसे निर्विवाद अनुमान तो इतना ही किया जा सकता है कि दोनोंके सामने अमुक-अमुक परम्परा थी, इससे अधिक कुछ भी नहीं।

२

टीकाकारका परिचय

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परामें अभयदेव नामके अनेक विद्वान् ग्रन्थकार हो गये हैं। इनमेंसे सन्मतिके टीकाकार प्रस्तुत अभयदेव श्वेताम्बरीय हैं। उनके विषयमें जानकारी प्राप्त करनेके मुख्य दो साधन हमारे समक्ष हैं : पहला साधन तो उनकी अपनी ही रची हुई सन्मतिटीकाके अन्तकी प्रशस्ति है, और दूसरा साधन है वादके आचार्यों द्वारा रचित वशप्रशस्तियोंमें आनेवाले उल्लेख। अभयदेवकी अपनी प्रशस्ति तथा उसका सार इस प्रकार है :

“इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्त

कुशलमतुलमस्मात् सन्मतेर्भव्यसायै ।

भवमयमभिभूय प्राप्यता ज्ञानगर्भं

विमलमभयदेव-स्थानमानन्दसारम् ॥

पुष्यद्वाग्दानवादिद्विरदवनघटाकुण्ठधीकुम्भपीठ-

प्रध्वसोद्भूतमुक्ताफलविशदयशोराशिभिर्यस्यं सूर्णम् ।

गन्तु दिग्दन्तिदन्तच्छलनिहितपद व्योमपर्यन्तभागान्

स्वल्पब्रह्माण्डमाण्डोदरनिविडमरोत्पिण्डतै. सम्प्रतस्ये ॥

प्रद्युम्नसूरे शिष्येण तत्त्ववोवविवायिनी ।

तस्यैषाऽभयदेवेन सन्मतेर्विवृति. कृता ॥”

१. देखो अभिधानराजेन्द्रमें ‘अभयदेव’ शब्द ।

- इस तरह सन्मतिके कतिपय सूत्रोंकी व्याख्याके द्वारा मैंने जो अतुलनीय पुण्य उपाजित किया है, उसके आश्रयसे भव्य जीव ससारका भय दूर करके ज्ञानगर्भित निर्मल एव आनन्दप्रधान अमयदेव (मोक्ष) स्थान प्राप्त करे ।

जिनका वादिमदमर्दनसे उत्पन्न यश विश्वमे व्याप्त हो गया था, उन प्रद्युम्नसूरिके शिष्य अमयदेवने सन्मतिकी तत्त्वबोधविधायिनी नामकी यह वृत्ति रची है ।

इस संक्षिप्त प्रशस्तिमेंसे नीचेकी बातें स्पष्ट होती हैं : (१) टीकाकारके गुरुके रूपमें प्रद्युम्नसूरिका तथा टीकाकारके रूपमें अमयदेवका नाम, (२) मूल ग्रन्थका सन्मति तथा टीकाका तत्त्वबोधविधायिनी नाम, (३) सन्मतिके कुछ ही सूत्रोंपर व्याख्याकी रचना ।

प्रद्युम्नसूरि और अमयदेवसूरिके नामके अतिरिक्त उनके गच्छ, समय, वर्ग, कृति और जाति आदि दूसरे किसीके बारेमें कुछ भी जानकारी उपर्युक्त प्रशस्तिमेंसे उपलब्ध नहीं होती; फिर भी उनके गच्छ, समय एव परिवारके बारेमें कुछ जानकारी हम अन्य आचार्यों द्वारा रचित प्रशस्तियोंमें आये हुए उनके उल्लेखों परसे प्राप्त कर सकते हैं । ऐसे उल्लेखवाली चार प्रशस्तियाँ इस समय हमारे सामने हैं । उनमेंसे सबसे पहली वादिवेताल शान्तिसूरिके द्वारा अपनी उत्तराध्ययनकी 'पाङ्ग' नामकी टीकाके अन्तमें दी गयी प्रशस्ति है^१, दूसरी प्रवचनसारोद्धारकी वृत्तिके कर्ता सिद्धसेनकी अन्तमें लिखी गयी प्रशस्ति है^२; तीसरी

१. अस्ति विस्तारवानुव्यां गुरुशाखासमन्वितः ।

आसेव्यो भव्यसार्यानां श्रीकोटिकगणद्रुमः ॥ १ ॥

तदुत्थवैरशाखायाममूदायतिशालिनी ।

विशाला प्रतिशाखेव श्रीचन्द्रकुलसन्ततिः ॥ २ ॥

×

×

×

येस्यामूद् गुरुरागमे गुरुनिधिः श्रीसर्वदेवाह्वयः

सुरीशोऽमयदेवसूरिरभवत् त्वात्प्रमाणेऽपि च (?) ।

तस्येयं सुगुरुद्वयादधिगता अल्पात्मविद्यागुणा (?)

प्रत्याख्याय चिरं भुवि प्रचरतु श्रीशान्तिसूरेः कृतिः ॥ ८ ॥

२. विशेषके लिए देखो प्रवचनसारोद्धारके प्रान्तभागकी प्रशस्ति

श्रीचन्द्रगच्छगगने प्रसरितमुनिमण्डलप्रभाविभवः ।

उदगात्रवीनमहिमा श्रीमदमयदेवसूरिरविः ॥

तार्किकागस्त्यविस्तारिसत्प्रज्ञाचुल्लुकेश्चिरम् ।

वर्धते पीयमानोऽपि येषां वादमहार्णवः ॥

काव्यप्रकाशकी संकेत नामक टीकाके रचयिता माणिक्यचन्द्रके स्वरचित पार्श्व-
नाथचरितके अन्तमें दी गयी प्रशस्ति है^१, और चौथी प्रभावकचरित्रके रचयिता
प्रभाचन्द्रकी उसके अन्तमें दी गयी प्रशस्ति है^२। इन चारमेंसे पहली प्रशस्तिके
रचयिता शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० स० १०९६ में हुआ है। दूसरी प्रशस्ति
स० १२४८ में, तीसरी स० १२७६ में और चौथी स० १३३४ में लिखी गयी है।

इन चारों प्रशस्तियोंमें अभयदेवका गच्छ चन्द्रगच्छ कहा गया है, जो उनके
शिष्यके द्वारा राजगच्छके नामसे प्रसिद्ध हुआ है। शान्तिसूरिने अपने दो गुरुओं-
का निर्देश करते समय प्रमाणशास्त्रके गुरुके रूपमें जिन अभयदेवका उल्लेख
किया है, वह प्रस्तुत सम्मतिके टीकाकार अभयदेव ही होने चाहिए, ऐसा दूसरे
सब पहलुओंका विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि जो प्रमाण-
शास्त्रके पारंगामी हों और जो शान्तिसूरिके गुरुपदका सम्मान प्राप्त करनेकी

१. तर्कग्रन्थविचारदुर्गमवनीसंचारपंचानन;

स्तत्पट्टेऽभयदेवसूरिरजनि श्वेताम्बरभ्रामणीः ।

सद्वाक्यश्रुतिलालसा मर्षुकारीकोलाहलाशकिनी

हित्वा विष्टरपंकजं श्रितवती ब्राह्मी यदीयाननम् ॥

दृक्निम्नगाः सत्पथभेदेता ध्रुवं करिष्यन्ति जडैः समेतः ।

इतीव रोधाय चकार तासां ग्रन्थं नवं वादमहार्णव यः ॥ ६-७ ॥

×

×

×

श्रीअभयदेवसूरिस्तच्छिष्यस्तर्कभूरभूत् ।

भग्नसनाऽलितुमुलाद् गौर्यदास्यमशिश्रियत् ।

जडोल्लासेन सन्मार्गभेदिनीं दृक्तरगिणीम् ।

रोद्धुं चकार स नवं ग्रन्थं वादमहार्णवम् ॥ २९-३० ॥

अधिकके लिए देखो पार्श्वनाथचरित्रकी प्रशस्ति ।

२. शिष्योऽस्याभयदेवसूरिमवज्जाडयान्वकार हरन्

गोभिर्भास्करवत्परां विरचयन् भव्याप्तवर्गं मुदम् ।

ग्रन्थो वादमहार्णवोऽस्य विदितः प्रौढप्रमेयोर्भिभृत्

वत्तेऽर्थं जितशासनप्रवहणं सांयान्निकाणां ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

अधिकके लिए देखो प्रभावकचरित्रकी प्रशस्ति ।

योग्यता रखते हो, ऐसे कोई दूसरे अभयदेव विक्रमकी ११वीं शतीके पूर्वार्धमें विद्यमान हो, ऐसा अवतक ज्ञात नहीं हुआ है।

सिद्धसेन, माणिक्यचन्द्र और प्रभाचन्द्रकी प्रशस्तियोंमें निर्दिष्ट अभयदेव तो निर्विवाद रूपसे प्रस्तुत सन्मतिके टीकाकार अभयदेव ही हैं, क्योंकि इन तीनोंमें प्रशस्तियोंमें अभयदेवका निर्देश प्रद्युम्नसूरिके शिष्य और वादमहार्णव नामक तर्कग्रन्थके रचयिता तार्किक विद्वान्के रूपमें किया गया है। वादमहार्णव किसी दूसरे स्वतंत्र ग्रन्थका नाम नहीं है, परन्तु प्रस्तुत सन्मतिकी तत्त्वबोधविधायिनी टीकाका ही दूसरा अनुरूप नाम है। सिद्धसेनके द्वारा दी गयी वश-परम्पराके अनुसार वह स्वयं अभयदेवसे नवे पुरुष है। माणिक्यचन्द्र, उनकी दी हुई वश-परम्पराके अनुसार, अभयदेवसे दसवें पुरुष है।

सिद्धसेनने मुज राजाके मान्य अभयदेवके एक शिष्य धनेश्वरका और माणिक्यचन्द्रने अभयदेवके शिष्य जिनेश्वरका वर्णन किया है। प्रभाचन्द्रने अभयदेवके शिष्य धनेश्वरको त्रिभुवनगिरिके स्वामी कर्दमराजका मान्य लिखा है।

यदि इन प्रशस्तियोंके पाठ और उनमें उल्लिखित बातें सही हो, तो ऐसा मानना चाहिए कि या तो अभयदेवके धनेश्वर और जिनेश्वर दो भिन्न ही शिष्य थे, या फिर एक ही शिष्यके दो नाम थे। इसी प्रकार सिद्धसेनकी प्रशस्तिका मुज और प्रभाचन्द्रकी प्रशस्तिके त्रिभुवनगिरिका स्वामी कर्दमराज या तो भिन्न व्यक्ति थे, या फिर एक ही व्यक्तिके दो नाम थे। सम्भवतः कर्दमराज द्वारा सम्मानित धनेश्वर और मुज द्वारा सम्मानित धनेश्वर ये दोनों भिन्न भी हो। चाहे जो हो, ऊपरकी सब हकीकतोंके ऊपरसे अभयदेवका इतिहास सामान्यतः ऐसा फलित होता है— वह चन्द्रकुलीय और चन्द्रगण्डके प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। उनका समय विक्रमकी दसवीं सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवीं सदीका पूर्वार्धतक है। उनके विद्याशिष्यों एवं दीक्षाशिष्योंका परिवार बहुत बड़ा और अनेक भागोंमें विभक्त था। इस परिवारमें अनेक विद्वान् हुए थे और उनमेंसे कई विद्वानोंने राजाओंके समक्ष सम्मान भी प्राप्त किया था। उनकी जाति, माता-पिता अथवा जन्मस्थानके विषयमें कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है, फिर भी उनका विहारक्षेत्र राजस्थान और गुजरात था, ऐसा माननेके प्रबल कारण है। सन्मतितर्ककी टीकाके अतिरिक्त उनकी दूसरी कृतिके बारेमें कोई प्रमाण नहीं है।

प्रशस्तियोंके अनुसार शिष्य-परिवार

सिद्धसेनीय प्रशस्ति	माणिक्यचन्द्रकी प्रशस्ति	प्रभाचन्द्रकी प्रशस्ति
१ अभयदेव	अभयदेव	अभयदेव
२ धनेश्वर	जिनेश्वर	धनेश्वर
३ अजितसिंह	अजितसेन	अजितसिंह
४. वर्धमान	वर्धमान	वर्धमान
५ देवचन्द्र	शीलभद्र	शीलभद्र
		↓
६ चन्द्रप्रभ	भरतेश्वर	श्रीचन्द्र
		↓
७ भद्रेश्वर	वैरस्वामी	भरतेश्वर
		↓
८ अजितसिंह	नेमिचन्द्र	धर्मघोष
		↓
९ देवप्रभ	सागरेन्द्र	सर्वदेव
		↓
१० सिद्धसेनसूरि	माणिक्यचन्द्र	प्रभाचन्द्र
		↓
		पद्मदेव
		↓
		श्रीचन्द्र

३

मूल और टीका-ग्रन्थका परिचय

ग्रन्थ मात्र विचार या मात्र शब्दरचना नहीं है, परन्तु व्यवस्थित एवं प्रमाण-वद्ध संपूर्ण विचार और उसका अभिव्यञ्जक समुचित शब्दविन्यास—इन दोनोंकी संयोजनाका नाम ही ग्रन्थ है। यहाँपर मूल सन्मति और उसकी टीका इन दोनों प्रस्तुत ग्रन्थोंके शाब्दिक एवं आर्थिक स्वरूपसे सम्बद्ध कतिपय वातोंका परिचय प्राप्त करें, उससे पहले तीन वातोंका सामान्य रूपसे दिग्दर्शन हम कराना चाहते हैं। वे हैं : १ रचनाका उद्देश्य, २ प्रेरक सामग्री, और ३ रचनाका प्रभाव।

१. रचनाका उद्देश्य जैन दर्शनकी प्राणरूप और जैन आगमोंकी कुजीरूप अनेकान्तदृष्टिका व्यवस्थित और नये सिरेसे निरूपण करना, तर्कशैलीसे उसका पृथक्करण करके तार्किकोमे उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करना; दर्शनान्तरोमे जैन

दर्शनका क्या स्थान है अथवा जैन दर्शनके साथ दर्शनान्तरोका क्या सम्बन्ध है, यह दिखलाना, अनेकान्तदृष्टिमेंसे फलित होनेवाले दूसरे वादोकी मीमांसा करना, अपने समयतक दार्शनिक प्रदेशमें चर्चित होनेवाले मुद्दोंका अनेकान्त-दृष्टिसे निरूपण करना, और नवीन स्फुरित विचारणाओंको प्राचीन एव प्रतिष्ठित अनेकान्तदृष्टिको आश्रय लेकर विद्वानोंके सामने रखना यह मूल ग्रन्थकी रचनाके पीछे रहा हुआ मूलकार सिद्धसेनका उद्देश्य है ।

मूल ग्रन्थकी रचनाके उपर्युक्त उद्देश्यके अतिरिक्त टीकाकी रचनाके पीछे टीकाकारका उद्देश्य कुछ अधिक है; और वह यह कि अपने समयतक दार्शनिक प्रदेशमें चर्चित और विकसित सभी वादोंके विषयमें विस्तार एव गहराईसे चर्चा खण्डन-मण्डन करके उन सबके वारेमें जैन मन्तव्यका स्पष्टीकरण करना और इस प्रकार अनेकान्तवादकी चर्चामें अनेक नये मुद्दोंका समावेश करके उसमें विगलता लाना ।

२. प्रेरक सामग्री एक विगिष्ट ग्रन्थकार जब कोई रचना करता है, तब उसका मुख्य उद्देश्य अपनी मानी हुई विचार-परम्पराका विशेषत्व बतलानेका होता है । वह विचार-परम्परा सर्वथा नवीन नहीं होती, फिर भी विगिष्ट ग्रन्थकार उसमें नवीनता लाता है । ऐसी नवीनताके कारण इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं : (क) पूर्वकी सभी विरोधी तथा अविरोधी परम्पराओंका अम्यास, (ख) गहरा निरीक्षण, (ग) खण्डन द्वारा, विरोधियोंके आक्षेपोंके परिहार द्वारा या तुलना द्वारा अपनी विचार-परम्पराके विशेषत्वका स्थापन, और (घ) प्रतिभाजनित नयी व्यवस्था अथवा नया स्फुरण ।

वेद एव उपनिषदोंके अम्यासके परिणामस्वरूप मीमांसासूत्रोंका जन्म हुआ । पूर्वकी तर्क-परम्पराओं, पदार्थविचार-परम्पराओं और सावकोंके मार्गोंकी परम्पराओंके अम्यासके फलस्वरूप न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योगसूत्रोंका उद्भव हुआ । आगम तथा पिटृके अम्यासके परिणामस्वरूप वादका जैन और बौद्ध तर्कसाहित्य पैदा हुआ । नवसर्जनके समय मर्जकोंको अमुक पूर्व-परम्पराके विषयमें बलवान् आदर होता है और फिर भी उसे उममें कुछ कमी महसूस होती है । उम कमीको दूर करनेकी सामर्थ्य जब वह अपनेमें देखता है, तब आनपान बहती विचारवाराओंमेंसे अमुक उपादान लेकर और उसके भाव अपनी प्रतिभाको जोड़कर अभीप्सित मर्जन करता है और बहुत बार तो वह प्रतिष्ठित भी बनता है । सिद्धसेन और अभयदेवने यही किया । इन मूलकार तथा टीकाकारके बीच समयका जैसा अन्तर था, वैसा ही परिस्थिति-भेद भी था । वैयक्तिक शक्तिभेदके अलावा लोगोंकी माँग भी भिन्न-भिन्न थी ।

इसीलिए दोनों ग्रन्थोंके बीच मूल-टीकाका समन्वय होनेपर भी गुरु-शिष्यकी तरह काफी अन्तर पड़ गया है। समकालीन ग्रन्थोंके सर्जन भी बहुत बार देश-भेद एवं आवश्यकता-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। प्राकृत तथा संस्कृत भाषाके गहरे अभ्यासके अतिरिक्त इन दोनों भाषाओंमें रचित अपने-अपने समयतकके जैन-जैनेतर दर्शनोंकी विविध शाखाओंकी दार्शनिक ग्रन्थराशिका अभ्यास (जिसका कुछ ख्याल सटीक सन्मतितर्कके परिशिष्ट ६ और १० परसे आ सकेगा) इन सबने सिद्धसेन और अभयदेवको ग्रन्थ 'रचने'में मुख्य प्रेरणा प्रदान की है।

३. रचनाका प्रभाव मूल ग्रन्थ सन्मतिकी रचना होते ही तत्काल उसका अजीब प्रभाव जैन वाङ्मयके ऊपर पड़ा। पाँचवीं शतीसे लेकर वर्तमान शतीतकके प्रतिष्ठित एवं अभ्यासी श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंमेंसे किसीने सन्मतिका जैन दर्शनके एक प्रभावक ग्रन्थके रूपमें वर्णन किया है, तो किसी दूसरेने अपने विचारोंकी पुष्टिमें उसका आधार लिया है^१। अनेकोने उसपर टीकाएँ लिखी हैं,^२ तो दूसरे किसीने उसका आश्रय लेकर अनेक नये स्वतंत्र प्रकरणोंकी रचना की हैं^३। किसीने सन्मतिके अमुक अलग पड़नेवाले खास विचारोंका खण्डन करनेके लिए प्रौढ और अभ्यासपूर्ण प्रकरण लिखे हैं,^४ तो किसीने पुनः उन्हीं विचारोंका समन्वयकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है^५। संक्षेपमें ऐसा कहा जा सकता है कि जैन वाङ्मयमें तर्कशैलीकी जमी हुई प्रतिष्ठा अधिकांशतः सन्मतिकी रचनापर ही आश्रित है।

जैन वाङ्मयके ऊपर टीकाकी रचनाका प्रभाव मुख्य रूपसे तीन बातोंमें दृष्टिगोचर होता है। दसवीं शताब्दीके पीछेके जैन वाङ्मयमें प्रसन्न शैलीसे संस्कृत भाषामें लिखनेकी जो पद्धति देखी जाती है, विशाल और विशालतर परिमाणवाले ग्रन्थ रचनेकी जो भावना दिखायी पड़ती है और विविध जैनेतर दर्शनोंके ग्रन्थोंका अभ्यास करके जैन साहित्यको विकसित करनेकी जो तीव्र

१. जिनदासगणिमहत्तर आदिने।

२. हरिभद्र, गन्धहस्ती आदिने।

३. मल्लवादी, सुमति आदिने।

४. उपाध्याय यशोविजयजीने।

५. जिनमद्रगणी क्षमाश्रमण आदिने।

६. देखो ज्ञानबिन्दु पृ० १६४।

वृत्ति उदित प्रतीत होती है इन सबमें सम्मतिकी प्रस्तुत टीकाके प्रभावका खास हिस्सा है। यह बात इस टीका और उसके वादके जैन संस्कृत वाङ्मयकी तुलना करनेसे स्पष्ट जानी जा सकती है।

१. शाब्दिक स्वरूप

ग्रन्थके शाब्दिक स्वरूपसे सम्बद्ध नाम, भाषा, रचनाशैली, परिमाण और विभाग इन पाँच बातोंपर यहाँ विचार किया जायगा।

नाम

पहलेके चार भागोंके प्रारम्भमें 'सम्मतितर्कप्रकरण' और पाँचवें भागमें 'सम्मतप्रकरण' ऐसा नाम छपा हुआ देखकर पाठकोको इस परिवर्तनका कारण जाननेकी इच्छा हो सकती है। 'सम्मति' इस नामके औचित्यके विषयमें तर्क शका होनेपर भी पहले उसे पसन्द करने और छपानेके पीछे तीन कारण थे :— (१) सम्प्रदायमें विद्वान् समक्षे जानेवाले प्रत्येक साधुके मुँहसे 'सम्मति' इसी एकमात्र नामका सुना जाना, (२) लिखित प्रतियोंके अधिकांश भागमें 'सम्मति' नामका उल्लेख, और (३) श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायके प्राचीन ग्रन्थोंके अतिरिक्त सबसे अन्तिम उपाध्याय यशोविजयजी जैसेके ग्रन्थोंमें उद्धृत अवतरणोंमें भी 'सम्मति' ऐसे उल्लेखका दीख पडना।

जिस पुष्ट प्रमाणके कारण वादमें नाम बदलनेकी इच्छा हुई, वह है धनजय-नाममालामें आये हुए महावीरके अनेक नामोंमेंसे एक नाम सम्मतिका होना। यह बात मालूम होते ही पहलेके सम्मति नामके औचित्यके बारेमें जो शकाएँ थी, वे दूर हो गयी और ऐसा लगा कि ग्रन्थकारका अभिप्रेत नाम 'सम्मति' ही होना चाहिए, क्योंकि एक ओर वह महावीरका वाचक होनेसे ग्रन्थका महावीरके साथ सम्बन्ध सूचित करता है, तो दूसरी ओर वह श्रेष्ठमति अथवा श्रेष्ठ मतिवाला ऐसा अर्थ श्लेषके द्वारा सूचित करके ग्रन्थकर्ताका योग्य स्थान भी बतलाता है। महावीरवाचक 'सम्मति' नाम उनके मुख्य सिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थके साथ जितना अधिक जँचता है, उतना 'सम्मति' नाम उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह औचित्य स्पष्ट होते ही लिखित प्रतियोंमें कई स्थानोंपर 'सम्मति' ऐसा जो

उल्लेख मिलता था, उसका खुलासा हो गया और ऐसा महसूस हुआ कि सही पाठ सन्मति ही होना चाहिए ।

सन्मतिके स्थानमें सम्मति पाठ कैसे दाखिल हुआ, इसका विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि मूल ग्रन्थ प्राकृतमें होनेसे ग्रन्थकारने उसका प्रथम नाम प्राकृतमें ही रखा होगा और वैसे प्राकृत नामका उल्लेख कहीं-कहीं मिलता भी है । सस्कृत रूप सन्मतिका प्राकृत व्याकरणके नियमके अनुसार 'सम्मइ' रूप बनता है । जबतक यह प्राकृत नाम प्राकृतरूपमें ही व्यवहारमें रहा, तबतक तो उसमें कोई भी अम पैदा न हुआ, परन्तु जब उसपरसे सस्कृत रूप बनाकर उसका व्यवहार शुरू हुआ, तब जो लोग महावीरका सस्कृत नाम सन्मति भी है ऐसा नहीं जानते थे, वे मात्र 'इ' के स्थानमें 'ति' रखकर प्राकृत 'सम्मइ'के स्थानमें सस्कृत 'सम्मति' रूप ही समझने, बोलने और लिखने लगे । इस कारण सस्कृत भाषामें भी लेखकोंके हाथसे 'सम्मति' रूप लिखा जाने लगा और इसके परिणामस्वरूप लिखित प्रतियोंमें लम्बे अरसेसे यह रूप प्रायः प्रयुक्त होने लगा । इसका परिणाम यह आया कि एक ही लिखित प्रतिमें कहीं 'सम्मति' तो कहीं 'सन्मति' ऐसे दोनों पाठ दाखिल हुए और सामान्य व्यवहार तथा बोलचालमें एकमात्र 'सम्मति' नाम ही रहा और यही नामअमका कारण बना । दिगम्बर-परम्परामें 'सम्मति' नाम भगवान् महावीरके एक नामके रूपमें प्राचीन कालसे ही विशिष्ट ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध रहा, इससे उनके साहित्यमें जहाँ प्रसंग आया है, वहाँ प्रायः सर्वत्र एक 'सम्मति' रूप ही मिलता है । श्वेताम्बर-परम्परामें यदि इस रूपकी महावीरके नामके रूपमें विशेष प्रसिद्धि होती, तो उक्त अम पैदा ही न होता । प्राकृतमें 'सम्मइ' और सस्कृतमें 'सम्मति' इतना ही नाम प्राचीन ग्रन्थोंके अवतरणोंपरसे निश्चित होता है, ऐसा होनेपर भी उसके साथ तर्क शब्दका व्यवहार बहुत ही प्रसिद्ध होता है । और यह व्यवहार ग्रन्थके विषय तथा ग्रन्थकारकी तर्कदृष्टिको देखने-पर तब ही योग्य भी है । इसीलिए इस प्रचलित व्यवहारको मान्य रखकर अम 'सम्मति-तर्क' ऐसा नाम पहले चार भागोंमें छपाया था, परन्तु अन्तिम पाँचवें भागमें प्राचीन नाम 'सन्मतिप्रकरण' ही छपाया है ।

पाँचवें भागमें तीसरे काण्डके प्रारम्भके पृष्ठोंपर 'सन्मतिप्रकरणम्' नाम छपा है, परन्तु बाहरके तथा अंदरके मुखपृष्ठपर तथा प्रस्तावनाके भी कई स्थानों-पर पूर्वके अध्याससे 'तर्क' शब्द रह गया है । पाठक, आशा है, उसे सुधारकर पढ़ेंगे ।

१. देखो दिगम्बरीय 'महावीरचरित्र' के प्रथम श्लोकका हिन्दी अनुवाद ।

सन्मति नामका प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रकरण' कहलाता है, और इसका टीकाकारोने पहलेहीसे प्रकरणके रूपमें निर्देश भी किया है। प्रकरणका सामान्य अर्थ इतना ही किया जा सकता है कि किसी भी एक विषयका मुख्य रूपसे अवलवन लेकर, अतिविस्तार न करके, गद्य या पद्यमें उसका विवेचन करनेवाला ग्रन्थ।

टीकामें प्रत्येक काण्डके अन्तमें आये हुए उल्लेखपरसे यह तो निश्चित है कि टीकाकारने अपनी टीकाका नाम 'तत्त्वबोधविधायिनी' रखा है। टीकाकारने अपनी प्रस्तुत सन्मतिकी व्याख्याके लिए टीका शब्द नहीं, परन्तु वृत्ति शब्दका प्रयोग किया है। टीकाकार अभयदेवका जो विखरा हुआ बहुत ही थोड़ा परिचय मिलता है, उसमें उनकी कृतिके रूपमें 'वादमहार्णव' का ही उल्लेख है। विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रस्तुत 'तत्त्वबोधविधायिनी' सन्मतिवृत्तिकी 'वादमहार्णव' ऐसा दूसरा अनुरूप नाम पीछेसे प्रगस्ति-लेखक विद्वानोने अथवा दूसरे किसीने दिया है। इस मान्यताकी पुष्टिमें यहाँ तीन दलीले दी जाती हैं :

(१) प्रस्तुत अभयदेवकी कृतिके रूपमें कहीं भी उनके परिचयमें सन्मतिकी अतिमहती और अतिगम्भीर 'तत्त्वबोधविधायिनी' नामक टीकाके उल्लेखका न होना और केवल 'वादमहार्णव' के उल्लेखका होना, (२) तत्त्वबोधविधायिनी टीकामें आये हुए सभी वाद बहुत लम्बे और बहुत जटिल होनेसे उसके लिए वादमहार्णव नामका अविक औचित्य, और (३) स्याद्वादमजरी^१ आदिमें वादमहार्णव नामके साथ मिलनेवाले अवतरणोंका अक्षरशः तत्त्वबोधविधायिनी टीकामें उपलब्ध होना।

तत्त्वबोधविधायिनी नाममें तत्त्व शब्दसे शुरू होनेवाले तत्त्वसंग्रह, तत्त्व-वैशारदी आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके नामसादृश्यकी प्रतिष्ठा है।

भाषा

सन्मतिकी भाषा प्राकृत है। वह शौरसेनी, मागधी या पैंशाची आदि विशिष्ट प्राकृत नहीं है, परन्तु सामान्य एव व्यापक प्राकृत है। उसका स्वरूप ग्रन्थकारका समय निर्णीत करनेमें उपयोगी नहीं हो सकता, क्योंकि जो भाषाएँ एक बार व्यवहारमेंसे हटकर शास्त्रीयताका रूप धारण कर लेती हैं, उनके विशिष्ट अस्यासी विद्वान् चाहे जिस समयमें रहनेपर भी अपने अस्यासके बलपर अपनेसे बहुत पहलेके समयमें प्रचलित भाषाका उपयोग करके वैसी ही रचना कर सकते हैं।

१. देखो पृ० ७०-१ पर के टिप्पण।

२. देखो पृ० ७२ टिप्पण १।

ऐसा होनेपर भी सन्मतिकी भाषाके उपलब्ध स्वरूपपरसे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि दक्षिण भारतमें रचित और सुरक्षित प्राकृत जैन ग्रन्थोंमें जो विशिष्ट 'दे'कार आदि लक्षण हैं, वे सन्मतिमें नहीं हैं। इसपरसे उत्तर अथवा पश्चिम भारतमें ग्रन्थरचनाके सम्भवको पुष्टि मिलती है। इस ग्रन्थकी सुरक्षा और प्रचार मुख्यतः उत्तर एवं पश्चिम भारतमें हुए हैं, यह तो इसकी उपलब्ध प्रतियो, इसके टीकाकार और वादके ग्रन्थोंमें इसके विशेष परिमाणमें हुए उपयोगपरसे स्पष्ट ही है।

भाषाके बारेमें यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है और वह यह कि ग्रन्थकारकी उपलब्ध निश्चित कृतियोंमें सन्मतिको छोड़कर दूसरी सब कृतियाँ सस्कृतमें हैं। इससे ग्रन्थकार सस्कृतके विशिष्ट प्रभाववाले समयमें हुए हो अथवा तो उनके ऊपर सस्कृत भाषाका विशिष्ट प्रभाव पड़ा हो, ऐसा क्या माना जा सकता है? अलवत्ता ऐसा ही लगता है। प्राचीन जैन वाङ्मय प्राकृत भाषामें ही लिखा गया था, यह तो निर्विवाद है। उपलब्ध समग्र जैन साहित्यमें वाचक उमास्वाति-की कृतियाँ ही प्रथम जैन सस्कृत कृतियाँ हैं। उनके पहले किसीने सस्कृतमें ग्रन्थ लिखे हो, ऐसा प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। इससे इस समय तो ऐसा कहनेमें तनिक भी बाधा नहीं है कि जैन साहित्यमें सस्कृत भाषाको सर्वप्रथम स्थान देनेवाले वाचक उमास्वाति हैं। उनके द्वारा जैन साहित्यमें सस्कृत भाषाका द्वार खुलनेपर प्राचीन प्रयाके अनुसार प्राकृत ग्रन्थरचनाके साथ-साथ सस्कृतमें भी ग्रन्थरचना होने लगी। सिद्धसेन दिवाकर जन्मसे ही सस्कृत भाषाके तथा दार्शनिक विषयोके अभ्यासी थे। जैन दीक्षा अंगीकार करनेके पश्चात् उन्होंने प्राकृतका विशिष्ट अभ्यास तो कर लिया, परन्तु उनके ऊपर विशिष्ट सस्कार तो सस्कृतके ही थे। इस कारण उनकी सस्कृत कृतियाँ अधिक मिलती हैं। प्राकृतमें इस समय निर्विवाद रूपसे उनकी कृति सन्मति ही है। उसमें प्रसंग और अभ्यासके कारण यद्यपि प्राकृत शब्दोंका प्रयोग दिखायी पड़ता है, फिर भी कितने ही ऐसे प्राकृत रूप भी हैं, जो उनपरके विशिष्ट सस्कृत प्रभावकी साक्षीरूप हैं।

टीकाकी भाषा तो सस्कृत है। उसमें शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र जैसे प्रौढ विद्वानों द्वारा पल्लवित-पुष्पित सस्कृत भाषाका परिपाक दृष्टिगोचर होता है।

रचनाशैली

समग्र सन्मतिकी रचना पद्यमय है। उसमें सभी पद्य आर्या छन्दमे हैं। ऐतिहासिक विद्वानोंकी समयनिर्णय विषयक एक कसीटी ग्रन्थकारद्वारा की गयी छन्दकी पसन्दगी भी है, परन्तु इस ग्रन्थमे प्रयुक्त छन्द समयनिर्णयके बारेमें उपकारक हो सके ऐसे नहीं हैं, क्योंकि पूर्वके और बादके प्राचीन ग्रन्थोमे यद्यपि अनुष्टुप् एव उपजाति आदि छन्दोमें प्राकृत रचना मिलती है, फिर भी प्राकृत पद्यकृतियोंमें प्राचीन समयसे लेकर अठारहवीं सदीतक आर्या छन्द ही मुख्य रूपसे प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत पद्यकृतियोंमे आर्याका प्रावान्य देखते हुए ऐसा लगता है कि यह छन्द दूसरे सब छन्दोकी अपेक्षा प्राकृत भाषाको विशेष अनुकूल है। इसीलिए ग्रन्थकारने यह छन्द पसन्द किया है। इस पसन्दगीमे समयका विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। इस छन्दोवद्ध रचनापरसे जो एके सामान्य अनुमान स्फुरित होता है, वह यह कि जैसे ब्राह्मण विद्वानोमे सूत्र-रचनाकी जमी हुई प्रतिष्ठाने वाचक उमास्वातिको सस्कृतमे जैन-सूत्र रचनेकी प्रेरणा की, वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रमें छन्दोवद्ध रचनाकी जमती हुई प्रतिष्ठाने दिवाकरश्रीको भी छन्दोवद्ध रचनामे दार्शनिक चर्चा करनेकी प्रेरणा की। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके सामने छन्दोवद्ध ग्रन्थोमे नागार्जुनकी 'मध्यमक-कारिका' जैसे बौद्ध ग्रन्थ, ईश्वरकृष्णकी 'सांख्यकारिका' आदि जैसे वैदिक ग्रन्थ तथा प्राचीन नियुक्ति और भाष्य जैसे जैन ग्रन्थ भी होंगे।

टीकाकी रचना पद्यमे नहीं, किन्तु गद्यमे है। प्रारम्भमे मगल एव प्रयोजन-सूचक पद्य और अन्तकी प्रशस्तिके तीन श्लोक बाद करनेपर समग्र ग्रन्थ ही निरपवादरूपसे गद्यमय है। उसमें बीच-बीचमे यत्रतत्र अनेक पद्य तो आते हैं, परन्तु वे स्वयं टीकाकारके नहीं हैं, मात्र उद्धरणके रूपमे वे लिये गये हैं। टीकाकी गद्यशैली 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और न्यायकुमुदचन्द्र' जैसी प्रसन्न एव अर्थ-पूर्ण है। दसवीं सदी पहलेके श्वेताम्बरीय सस्कृत वाङ्मयमे प्रस्तुत टीकाकी कक्षामे रखा जा सके, ऐसी शैलीवाला दूसरा कोई ग्रन्थ अभीतक हमारे देखनेमे नहीं आया। इस टीकामे अठारहवीं सदीके पीछेके ग्रन्थोमे दिखाई पडनेवाला शब्दाडम्बर अथवा विरोधियोंके प्रति कटाक्षभाव नहीं है।

परिमाण

मूल ग्रन्थका परिमाण वसुवन्धुकी विशिका या त्रिशिका जैसा एकदम छोटा, अथवा पीछेके जिनमद्रगणीके विशेषावश्यकमाध्य जैसा अतिविस्तृत नहीं है,

किन्तु मध्यम कक्षाका है। इसमें १६७ पद्य हैं, ऐसा सटीक सस्करणके प्रथम भागके निवेदनमें हमने लिखा है, परन्तु वस्तुतः १६६ पद्य ही हैं, क्योंकि टीकावाली किसी भी प्रतिमें जो एक पद्य नहीं है, वह मूलमात्रकी लिखित एवं मुद्रित प्रतिमें देखा जाता है। यह एक पद्य ग्रन्थके अन्तिम पद्यके पहले आया है और उसपर टीका न होनेसे वह किसी समय पीछेसे प्रक्षिप्त हुआ है, यह निर्विवाद है। उस पद्यमें अनेकान्तवादका सयुक्तिक गौरव प्रदर्शित करके उसे नमस्कार किया गया है। इसपरसे ऐसा लगता है कि किसी अनेकान्तप्रिय कुशल विद्वान्ने ग्रन्थके स्वरूप और अनेकान्तके महत्त्वसे आकर्षित हो इस पद्यकी रचना करके वह मूलमें जोड़ दिया होगा। वह पद्य इस प्रकार है :

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहो न णिव्वड्ढ ।

तस्स भुवणेक्कगुरणो णमो अणेगतवायस्स ॥

अर्थात् जिसके बिना लोगोका व्यवहार भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता, उस भुवनके एकमात्र गुरु पूज्य अनेकान्तवादको नमस्कार हो ।

टीकाका परिमाण २५,००० श्लोक जितना है। दसवी सदी पूर्वके श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय वाङ्मयमें जो सबसे बड़े सस्कृत दार्शनिक ग्रन्थ मिलते हैं, उनमेंसे एक भी ग्रन्थ परिमाणकी दृष्टिसे प्रस्तुत टीकाके जितना विशाल नहीं है। दसवी शताब्दी पहलेके किसी ब्राह्मण, बौद्ध या जैन सस्कृत दर्शनग्रन्थका परिमाण २५,००० श्लोक जितना हो, ऐसा निश्चय करनेवाला प्रमाण आजतक हमें नहीं मिला है। इससे यह कहा जा सकता है कि शायद अभयदेवने अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक विद्वानोके साथ ग्रन्थपरिमाणके बारेमें स्पर्द्धा करनेका और उसमें सबसे आगे रहनेका प्रयत्न किया हो। पहली सदीसे लेकर दसवी सदीतकके भारतीय सस्कृत दार्शनिक वाङ्मयमें परिमाणका जो क्रमशः उत्तरोत्तर प्रकर्ष होता आया है, उसका चरम पर्यवसान इस टीकामें देखा जाता है।

५

विभाग

मूल ग्रन्थ साख्यकारिका जैसा अविभक्त नहीं है, परन्तु प्रवचनसारकी तरह तीन भागोंमें विभक्त है। मूल मात्रकी तथा टीकावाली सभी प्रतियोंमें तीनों विभागोका निर्देश काण्डके नामसे किया गया है। टीकाकारने तीनों विभागोके अन्तमें अनुक्रमसे 'प्रथम काण्डम्', 'द्वितीयकाण्डम्', 'तृतीयकाण्डम्' इतना ही लिखा है, इन काण्डोको विषयसूचक कोई विशेषण नहीं दिया। मात्र मूल पद्योकी एक लिखित प्रतिमें और मुद्रितमें प्रथम काण्डको 'नयकड' और द्वितीय काण्डका

‘जीवकण्डय’ के नामसे निर्देश किया गया है, परन्तु तीसरे विभागके अन्तमें न तो सामान्य काण्ड शब्द ही है और न विशेषणयुक्त काण्ड शब्द । पहले विभागका ‘नयकड’ नाम यथार्थ है, क्योंकि उसमें नयकी ही चर्चा आती है; परन्तु दूसरे काण्डका ‘जीवकण्डय’ नाम ठीक नहीं है, क्योंकि उस विभागमें जीवके पूर्ण स्वरूपकी चर्चा नहीं है, किन्तु उसमें आदिसे अन्ततक मध्य चर्चा ज्ञानकी ही है । इससे उस काण्डको ज्ञानकाण्ड या उपयोगकाण्ड कहना ही समुचित होगा । तीसरे विभागके अन्तमें तो कोई विशेष नाम नहीं है । इसपरसे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने तो मात्र तीनो विभागोको काण्ड ही कहा होगा और किसीने वादमें विषयकी दृष्टिसे ‘नयकड’ जैसे विशेष नाम लगा दिये होंगे और ऐसा करनेमें दूसरे काण्डको ‘जीवकण्डय’ कहनेकी अयथार्थता आ गयी होगी अथवा तो लेखकोकी कुछ भूल हो गयी होगी । विशेष नाम जोड़नेवालेने तीसरे काण्डको विशेष नाम दिया होगा या नहीं और यदि दिया होगा, तो फिर वादकी प्रतिलिपियोमेंसे वह कैसे छूट गया होगा, यह कहना कठिन है । इसका विशेष निर्णय करनेके लिए तो मूलकी अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रतियाँ प्राप्त करनी चाहिए । इन तीनों विभागोको विषयानुरूप नयमीमासा, ज्ञानमीमासा और ज्ञेयमीमासा ऐसे जो नाम मुद्रित भागोमें छपे हैं, वे हमने ही सरलता एवं स्पष्टताकी दृष्टिसे दिये हैं ।

‘काण्ड’ सज्ञा अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थोमें तथा रामायण जैसे प्राचीन काव्यमें प्रसिद्ध है ही । काण्ड शब्दको प्रयोग अरण्यवासका परिणाम है । प्राचीन जैन वाङ्मयमें तो कहीपर भी काण्ड नामका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । जहाँतक हम जानते हैं वहाँतक जैन ग्रन्थोमें काण्ड नामका प्रयोग सबसे पहले सन्मतिमें ही हुआ है । आचार्य हेमचन्द्रने अपने कोशमें काण्डके नामसे विभाग किये हैं, परन्तु वह तो वादकी बात है और वह बहुधा अमर, त्रिकाण्ड आदि कोशग्रन्थोका ही अनुकरण है । काण्डका प्राकृत ‘कड’ या ‘कडय’ है । इससे कुछ मिलता-जुलता और नजदीकका प्राकृत शब्द ‘गडिका’ है । यह शब्द दृष्टिवाद नामक लुप्त वारहवे महान् जैन अंगके भागोके लिए प्रयुक्त होता है या, ऐसा उल्लेख मिलता है । गडिकाका संस्कृत रूप कडिका हो सकता है और ‘कण्डिका’ शब्द उपनिषदोके अमुक मंत्रभागके लिए प्रयुक्त देखा भी जाता है । अतः यह स्पष्ट है कि दृष्टिवादके खास भागोके लिए प्रसिद्ध गडिका शब्द कडिका-की प्रतिकृति है, काण्डकी नहीं ।

समग्र सन्मति ग्रन्थोको ‘सुत्त’ कहा जाता है । प्रत्येक गाथाको भी ‘सुत्त’ कहा है । ‘सुत्त’ शब्द प्राकृत और पालि भाषामें प्रसिद्ध है । प्रत्येक जैन आगम इस समय एक अखण्ड ‘सुत्त’ कहा जाता है (जैसे कि आचार्यसुत्त, सूयगडाग-

सुत्त इत्यादि), परन्तु उसके विशिष्ट छोटे-छोटे भागोंमें 'सुत्त' शब्दकी प्रसिद्धि तो बहुत प्राचीन समयसे चली आती है। पालि पिट्ठकमेंसे कोई एक समूचा ग्रन्थ सुत्त नहीं कहलाता, परन्तु उसके अमुक-अमुक प्रकरण ही सुत्तके नामसे प्रसिद्ध हैं, जैसे कि ब्रह्मजालसुत्त, सिंहनादसुत्त इत्यादि। इसी तरह दीधनिकाय आदि ग्रन्थराशि भी सुत्तपिट्ठक पदसे व्यवहृत है। एक सुत्तनिपात ग्रन्थ अवश्य ऐसा है, जिसके मूल नाममें 'सुत्त' पद है। 'सुत्त' इस प्राकृत और पालि पदका संस्कृतरूप 'सूत्र' और 'सूक्त' दोनों हो सकता है। जैन या बौद्ध वाङ्मयमें प्रयुक्त 'सुत्त' पदका जहाँ-जहाँ संस्कृत रूप व्याख्याकारोंने किया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र 'सूत्र' ऐसा संस्कृत रूप ही लिया है, कहींपर भी 'सूक्त' रूप दिखायी नहीं पड़ता। परन्तु संस्कृतजीवी वैदिक वाङ्मयमें सूक्त और सूत्र ये दोनों रूप बहुत प्राचीन समयसे प्रयुक्त होते आये हैं। वेद जैसे सर्वप्राचीन ग्रन्थोंमें मण्डलके अमुक विशिष्ट भागको सूक्त कहते हैं। इसमें अनेक ऋचाएँ होती हैं। सूत्र शब्द भी छोटे-छोटे गद्यवाक्योंके लिए पाणिनीय आदि व्याकरण ग्रन्थोंमें तथा श्रौत, स्मार्त एवं दर्शन आदि सूत्रग्रन्थोंमें ही प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें प्राचीन समयसे प्रयुक्त होनेवाला सुत्त शब्द इस समय तो इन दोनों सम्प्रदायोंमें संस्कृत 'सूत्र' के रूपमें ही अनूदित हुआ है, तथापि जिन और जितने बड़े प्रकरणोंके लिए 'सुत्त' शब्दका प्रयोग होता है, उनके साथ वैदिक 'सूक्त' नामसे प्रसिद्ध प्रकरणोंकी तुलना करनेपर ऐसी कल्पना होती है कि प्राचीन सूक्तका ही रूप सुत्त तो नहीं होगा? और बादमें सूत्रकालमें सूत्र शब्दकी जमी हुई प्रतिष्ठाके कारण ही सुत्तका सूत्ररूपमें संस्करण तो नहीं हुआ होगा? अस्तु, चाहे जो हो। यहाँ प्रस्तुत इतना ही है कि समस्त सन्मति ग्रन्थ जैसे सूत्र कहलाता है, वैसे ही उसकी प्रत्येक गाथाको भी सूत्र कहते हैं। यह पद्यमें होनेपर भी और पद्यमें सूक्त शब्दका वैदिक प्रयोग प्राचीन कालसे प्रचलित होनेपर भी, जैन परम्पराने उस सरणीका स्वीकार न कर संस्कृतमें एकमात्र सूत्र शब्दके व्यवहारको ही स्वीकृत किया है।

'व्याकरण-महामाष्य', 'न्यायमञ्जरी' आदि कितने ही टीकाग्रन्थोंमें मूलकी अपेक्षा भिन्न विभागोंकी जैसी आयोजना की गयी है, वैसी आयोजना प्रस्तुत टीकामें नहीं की गयी है। इसमें तो टीकाकारने मूलके काण्ड-विभागके अनुसार ही तीन विभाग किये हैं। प्रत्येक काण्ड पूर्ण होनेपर टीकाकार भी 'प्रथमं काण्ड' इत्यादि कहकर अपनी टीकाका विभाग समाप्त करते हैं। अतः विभागकी दृष्टिसे टीकामें अपनी कोई विशेषता नहीं है।

२. आर्थिक स्वरूप

मूल और टीका दोनों ग्रन्थोंका मुख्य विषय अनेकान्त होनेसे यहाँ आर्थिक स्वरूपके बारेमें मुख्य दो ही मुद्दोंकी चर्चा की जायगी : पहला है अनेकान्त और दूसरा है अनेकान्तसे सम्बद्ध विषय । अनेकान्तकी चर्चामें (१) उसका स्वरूप, (२) ऐतिहासिक विकास, और (३) दर्शनान्तरमें उपलब्ध अनेकान्तवादके साथ उसकी तुलना । इन तीन बातोंपर हम अनुक्रमसे विचार करेंगे । दूसरे मुद्दे 'अनेकान्तसे सम्बद्ध विषय'के निरूपणमें (१) अनेकान्तमेंसे फलित होनेवाले वाद, (२) अनेकान्तके आधारसे की गयी दर्शन-ज्ञानमीमासा, और (३) अनेकान्त एवं एकान्तके उदाहरण तथा उसकी पूर्णता व विकलता । इन तीन बातोंपर हम क्रमशः विचार करेंगे ।

(क) अनेकान्त

स्वरूप व्याख्या किसी भी वस्तुको उसके अनेक (सभी सम्भव) पहलुओं से देखना-जाँचना अथवा उस तरह देखनेकी वृत्ति रखकर वैसा प्रयत्न करना ही अनेकान्तदृष्टि है ।

ऐतिहासिक विकास भगवान् महावीरसे पहले भारतीय वाङ्मयमें अनेकान्तदृष्टि नहीं थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्राचीन जैन आगमोंके पूर्ववर्ती और समसमयवर्ती दूसरे दार्शनिक साहित्यके साथ तुलना करनेपर यह तो स्पष्ट ही लगता है कि अनेकान्तदृष्टिका स्पष्ट एवं व्यवस्थित निरूपण तो भगवान् महावीरके उपदेशरूप माने जानेवाले जैन आगमोंमें ही है । उपलब्ध जैन अंगग्रन्थोंमें अनेकान्तदृष्टिकी तथा उसमेंसे फलित होनेवाले दूसरे वादोंकी चर्चा तो है सही, परन्तु वह बहुत संक्षिप्त, बहुत ही थोड़े व्योरेवाली तथा कम उदाहरणोंवाली है । आगमपरके निर्युक्ति, भाष्य और चूणि जैसे प्राकृत साहित्यमें यह चर्चा कुछ लम्बी तो अवश्य दिखायी पड़ती है, परन्तु उसमें तर्कशैली एवं दार्शनिक वाद-प्रतिवाद बहुत ही कम है । जैन वाङ्मयमें संस्कृत भाषाका और उसके द्वारा तर्कशैली तथा दार्शनिक खण्डन-मण्डनका प्रवेश होते ही अनेकान्तकी चर्चा विस्तृत बनती है, उसमें नयी-नयी हकीकतोंका समावेश होता है और उसके मूल कलेवरके अनुसार उसमें अनेक सप्रमाण विचार-परम्पराएँ स्थान प्राप्त करके योग्य रूपसे व्यवस्थित हो जाती हैं । संस्कृतजनित इस विकासका पहला दृष्टान्त वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थविगमसूत्रके भाष्यमें मिलता है । इसके पश्चात्

गुप्तकाल और बौद्ध विद्यापीठोंके कारण पूर्व एवं उत्तर भारतमें तथा पूर्व एवं उत्तर बौद्धवादियोंके साथ चर्चा-प्रतिचर्चा होनेके कारण दक्षिण भारतमें संस्कृत वाङ्मयको, और उसमें भी खास करके तर्कविद्याको, जो बल मिली, उसका असर जैन वाङ्मयके ऊपर भी एकदम शीघ्र और बड़े परिमाणमें हुआ। इसीके फलस्वरूप हम सिद्धसेन और मल्लवादी, पूज्यपाद और समन्तभद्र, सिंह क्षमाश्रमण और हरिभद्र, अकलक और विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और अभयदेव आदि अनेक विद्वानों द्वारा रचित दसवीं शताब्दीतकके संस्कृत जैन वाङ्मयमें अनेकान्तकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित चर्चा देख सकते हैं।

अगसे लेकर चूर्णितकके श्वेताम्बरीय साहित्यमें अनेकान्त या नयवादकी चर्चामें जो औपनिषद अद्वैततत्त्ववाली विचारधाराओंको समन्वय दिखायी नहीं पड़ता, वह समन्वय सिद्धसेन^१ और समन्तभद्रकी^२ स्याद्वादचर्चामें मन्द-मन्द दिखायी पड़ता है और इसी अद्वैतमीमांसाका समन्वय हरिभद्र^३, अकलक^४, विद्यानन्दी^५ तथा अभयदेवके^६ नयवादके निरूपणमें स्पष्ट एवं विस्तारपूर्वक दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, द्रव्याद्वैत इत्यादि अद्वैतोंके जो नाम प्राकृत जैन वाङ्मयमें नहीं मिलते, वे ही नाम विस्तृत शास्त्रार्थके साथ पिछले संस्कृत जैन वाङ्मयमें मिलते हैं और वे सब वाद सग्रहनयके उदाहरणके रूपमें व्यवस्थित हो जाते हैं। प्राकृत जैन वाङ्मयमें ऋणुसूत्रके उदाहरणके रूपमें सामान्यतः जिस बौद्ध दर्शन^७ ही नाम था, उसके स्थानमें पिछले संस्कृत जैन तर्कग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी माध्य^८ आदि चारों शाखाएँ आती हैं^९ और अभयदेव जैसे विस्ताररुचि आचार्य तो उस^{१०} समन्वयको फैलाकर उक्त चारों शाखाओंको ऋणुसूत्रनयसे लेकर एवम्भूततकके चारों नयोंमें किसी-न-किसी तरह व्यवस्थित करनेका प्रयत्न करते हैं। यह तो लगभग दसवीं शताब्दीतकके अनेकान्तवादके विकासकी बात हुई, परन्तु उसके पीछेके अठारहवीं शताब्दीतकके साहित्यमें भी यह विकास देखा जा सकता है। वादी देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र और अन्तमें उपाध्याय यशोविजयजीके साहित्यमें

१. सन्मति काण्ड १ गा० २७ और ५१ तथा काण्ड ३ गा० ४८।

२. आप्तमीमांसा श्लो० २४ से।

३. शास्त्रवार्तासमुच्चय श्लो० ५४३ से।

४. लघीयस्त्रयी श्लो० ३, पृ० ५२।

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.३३ का श्लोक ५३।

६. सन्मतिटीका पृ० २७१।

७. सन्मति १.५ की टीका।

अनेकान्त-विषयक जो चर्चा मिलती है, उसमें पूर्वके साहित्यकी विरासतमेंसे प्राप्त होनेवाले समन्वयके अतिरिक्त दूसरा भी समन्वय देखा जाता है। दार्शनिक क्षेत्रमें जैसे-जैसे नवीन विचारधाराओंका उदय होता गया अथवा तो वे विशेष और विशेष विकास साधती गयी, वैसे-वैसे जैन आचार्य अभ्यास करके उन विचारधाराओंको अपने अनेकान्तनिरूपणमें एक अथवा दूसरे रूपमें समाविष्ट करते गये। द्वैताद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदिकी उत्तरमीमासागत जो चर्चाएँ दक्षिण भारतमें लगभग दसवीं शताब्दीके बाद विकसित हुई हैं, उनका केवलाद्वैतकी भाँति स्याद्वादके निरूपणमें समावेश नहीं दीखता। इसका कारण यह है कि इस मीमासाकी चर्चाओंका अभ्यास करनेवाले प्रबल जैन विद्वान् दक्षिण भारतमें पैदा ही नहीं हुए और पश्चिम भारतमें जो प्रखर अभ्यासी जैन विद्वान् हुए, उन्हें द्वैताद्वैत आदि मन्तव्योके प्रबल ग्रन्थोंका अभ्यास करनेका अवसर ही नहीं मिला। यदि शाकरमतकी भाँति निम्बार्क, मध्व, रामानुज और वल्लभके मतका अभ्यास जैन आचार्योंने किया होता, तो उनके ग्रन्थोंमें वे मत नयवादके निरूपणप्रसंगमें स्थान पाये बिना कभी न रहते। इतना ही नहीं, अनेकान्तवादमें रही हुई विशाल समन्वयशक्ति और जैन आचार्योंकी मत-मतान्तरोंको नयवादमें पिघानेकी प्रवृत्तिके इतिहासको देखते हुए ऐसा कहना तनिक भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। यदि जैन आचार्योंने पारसी, इसलाम और ईसाई धर्मका अभ्यास किया दृष्टि, तो उनके नयवादके निरूपणमें इन धर्मोंका समन्वय भी कभीका हो गया होता।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि उपर्युक्त अनेकान्तके ऐतिहासिक विकासमें मूल सम्मतितर्क और उसकी टीकाका क्या स्थान है? चौथी-पाँचवीं शताब्दीके मूल सम्मतियों न्याय, वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध दर्शनका ही स्पष्ट रूपसे समन्वय है, जब कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीकी उसकी टीकामें इन चारों दर्शनोंके अतिरिक्त पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा, शब्दाद्वैत और भाष्यमिक आदि चारों बौद्ध शाखाओंके मन्तव्योका विस्तारपूर्वक समन्वय हुआ है।

तुलना

इस समय सामान्यतः ऐसी मान्यता प्रचलित है कि अनेकान्तदृष्टि जैन दर्शनका ही एक तत्त्व है और इसपर विचार-विमर्श केवल जैन साहित्यमें ही हुआ है। यह मान्यता कितनी निराधार है, यह दिखलानेके लिए जैनोत्तर दर्शनमें

उपलब्ध होनेवाले अनेकान्तगामीवादो के साथ जैन भेक इन चारो महायान आवश्यक है। यद्यपि सामान्य रूपसे किसी भी जैनेत रूपसे अनेकान्तदृष्टिके साथ बराबर मेल खाये ऐसे विचार निक्षेपोके बँटवारेके अनेकान्तवादके विकासके असरके कारण निम्नोक्त क्षणभगवाद आदिकी दर्शनमे वैसे विचार विशेष रूपसे पाये जाते हैं, तथापि भारतीय छोटे-बड़े वादोकी और पूर्वमीमांसा दर्शनके साथ ही कुछ तुलना करनेधानता है, यही स्थापित जैन दर्शनमे अनेकान्तदृष्टि शब्द है और बौद्ध

मध्यममार्ग शब्द है। वस्तुके किसी एक पहलूकी वैशेषिक और बौद्ध आदि पहलुओकी ओर दृष्टि रखना यह अनेकान्तदृष्टि के तत्त्वाद्वैत, द्रव्याद्वैत, प्रकार किसी एक छोरकी ओर न झुककर बीचका किया है, और इसपरसे मध्यमप्रतिपदाका सीधा अर्थ है। इन दोनों शब्दोके क्या मत रखता है। उसकी अपेक्षा भी अधिक साम्य तो उनके पीछे रही हुई चर्चके प्रसंगमे वाचक दृष्टि और मध्यममार्ग ये दोनों वाद एक ही भावनाके फलस्वरूपके स्वरूपकी यानी सत्यनिरूपणकी भावना। सात्त्विक बुद्धिकी वृत्ति तत्त्वगान् अनित्यवर्णन-सर्वदा यथार्थकी दिशा ही पकडती है। अतः यह स्वोभाविक है नित्यत्ववादकी बुद्धिकी सात्त्विक बुद्धिमेंसे पैदा हुई साम्यभावनाके परिणामस्वरूप समानार्थक वाद उत्पन्न हुए हों। इस साम्यको जैन और बौद्ध दोन तत्त्व एव आचार दोनो क्षेत्रोंमें अपने-अपने ढंगसे उत्तरोत्तर समय उसवे विकसाया है।

सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनके साहित्यमे अनेकान्तदृष्टि शब्द नहीं है, फिर भी उनमे अनेकान्तदृष्टिगामी विचार तैयार मूल ग्रन्थ वे सुस्पष्ट भी हैं। सांख्य-योगका परिणामवाद और पूर्वमीमांसक, वहाँ भी मुख्य स्थितिवाद,^१ जो कि उपनिषद्की क्षराक्षरभावनाके^२ सूचक है, दोनो किसी वादक दृष्टिसे तनिक भी भिन्न नहीं है। अलवत्ता, उनके विषय अन्तर है। सांख्य-योगका परिणामवाद चेतन अर्थात्

अचेतन अर्थात् प्रकृतिका ही स्पर्श करके प्रवृत्त उत्पाद-भग-स्थितिवाद चेतनका स्पर्श करत और पर्यायाधिक इन दो दृष्टियों कि जैन अनेकान्तवाद चेतन-अचेतन सभी तन्मसे सामान्य बोध और विशेष बोध निरूपणके बारेमे तो बहुत बड़ा अन्तर है। वोव जैन शास्त्रमें अनुक्रमसे दर्शन और तत्त्वस्वरूपका वर्णन करते हुए सिद्धसेनने दूस्

१. देखो भीमांसाश्लोकवार्तिक पूर्व ज्ञानकी मीमांसा की है। इस समूचे काण्ड

२. श्वेताश्वतर उपनिषद् १-८। मांसां भी सिद्धसेनने अपना वैशिष्ट्य अर्थात्

रीतिसे दिखलाया है । केवल दर्शन और केवल ज्ञानकी उत्पत्ति क्रमसे होती है, ऐसा मत पहलेहीसे आगमपरम्परामें प्रसिद्ध था । इन दोनोंकी उत्पत्ति साथ ही होती है, ऐसा मत भी पहलेसे चला आता था । इन दोनों मतोंके सामने सिद्धसेनने अपना अभेदवाद रखा । इस वादकी स्थापना उन्होंने प्रस्तुत दूसरे काण्डमें की है । यह स्थापना यद्यपि तर्कबलपर अवलम्बित है, तथापि उसमें सिद्धसेनने प्रसंग आने-पर श्रद्धा और ज्ञानका ऐक्यविषयक अपना मत भी जता दिया है । दर्शन और ज्ञान तथा श्रद्धा और ज्ञानका अभेद ही प्रस्तुत काण्डगत सिद्धसेनकी मीमांसाकी विशेषता है । यद्यपि चूर्णिके आधारपर नन्दीसूत्रकी टीका रचनेवाले याकिनीसूनु हरिमद्र, नवागीवृत्तिकार अभयदेव तथा उनके अनुगामी मलयगिरि दर्शनज्ञान-विषयक सहवाद सिद्धसेनका है और अभेदवाद वृद्धाचार्यका है ऐसा कहते हैं, तथापि सन्मतिके टीकाकार अभयदेव तो सिद्धसेनको ही अभेदवादके पुरस्कर्ता कहते हैं । इस वारेमें हरिमद्र और मलयगिरिकी अपेक्षा अभयदेवका ही कथन अधिक उपयुक्त है, ऐसा माननेके तीन कारण हैं . (१) क्रमवाद और सहवादके निरसनके बाद अन्ततक अभेदवादका समर्थन, (२) अभयदेव सन्मतिके टीकाकार होनेसे उन्हें मिली हुई प्राचीन टीकाओंकी विरासतके कारण तथा उनके द्वारा किये गये उसके गहरे अभ्यासके कारण उन्हींमें हरिमद्रकी अपेक्षा विशेष यथार्थताका सम्भव, और (३) अभेदवादके पुरस्कर्ताके रूपमें सिद्धसेनकी ही जैन-परम्परामें प्रसिद्धि और यशोविजयजी जैसेका इस विषयमें ऐकमत्य ।

सिद्धसेन अभेदवादके प्रस्थापक हैं और उन्होंने इसके लिए ही सन्मतिका दूसरा काण्ड रीका है, फिर भी जिनमद्रगणी क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमें और विशेषणवती ग्रन्थमें अभेदवादका खण्डन तथा आगमसिद्ध क्रमवादकी स्थापना करते समय अभेदवादियोंकी जो-जो दलीले उद्धृत की हैं और उनके जिन-जिन मतभेदोंका वर्णन किया है, उन सबका समग्र भावसे विचार करनेपर ऐसा तो लगता ही है कि सिद्धसेनके पूर्ववर्ती नहीं, तो अन्ततः समसमयवर्ती और उत्तरवर्ती कई आचार्य अभेदवादका समर्थन करनेवाले भी हुए होंगे और सन्मतिके दूसरे काण्डके अतिरिक्त अभेदवादका समर्थन करनेवाले दूसरे प्रकरण या टीकाएं सिद्धसेनकी अथवा दूसरे आचार्योंकी होनी चाहिए । चाहे जो हो, इस समय हमारे सामने तो सिद्धसेनके इस विशिष्ट वादकी चर्चा करनेवाला प्रस्तुत दूसरा काण्ड ही है ।

दूसरे काण्डकी व्याख्यामें टीकाकारने पहली और पन्द्रहवीं गाथाके सिवा बाकीकी सभी गाथाओंकी मात्र स्पष्टीकरण करनेवाली संक्षिप्त व्याख्या लिखी है । उसमें कोई खास वाद समाविष्ट नहीं किये हैं । पन्द्रहवीं गाथाकी व्याख्यामें

प्रसंग खड़ा करके उन्होंने दिगम्बर-परम्पराके साथ श्वेताम्बर-परम्पराके मतभेद-वाले केवल-कुवलाहार विषयक एक ही वादकी चर्चा की है, परन्तु पहली गाथाकी व्याख्यामे तो उन्होंने वादसंग्रहके बारेमे हद ही कर दी है। प्रमाणके सामान्य स्वरूपके विषयमे, उसके भेदोके विषयमे और उसकी सख्याके विषयमे जैन तर्क-शास्त्रियोंके जो-जो मन्तव्य है, उन सबकी सविशेष स्थापनाके लिए टीकाकारने समकालीन सभी जनेतर दर्शनोके उस-उस विषयके सब वादोकी अत्यन्त विस्तार-पूर्वक और विशिष्ट सकलनाके साथ चर्चा की है और इस तरह उस व्याख्यामे सारा भारतीय प्रमाणशास्त्र उपस्थित किया है। प्रस्तुत दूसरे काण्डमें मूलकारकी विशेषता यदि अभेदवादकी स्थापना मानी जाय, तो टीकाकारकी विशेषता इस प्रमाणवादसंग्रहमें माननी चाहिए।

अनेकान्तकी खूबी और एकान्तकी खामी

अनेकान्तदृष्टिसे ज्ञेयतत्त्व कैसा होना चाहिए, इसकी चर्चा प्रधान रूपसे तीसरे काण्डमें है, परन्तु साथ-ही-साथ अनेकान्तवादका उपपादन किया जा सके ऐसे दूसरे भी अनेक विषय इसमे लिये गये हैं। जिस प्रकार गौतमने अपने न्याय-सूत्र ४.१ १४ से अभावकारणवाद, ईश्वरकारणवाद, आकस्मिकत्ववाद आदि आठ वादोकी चर्चा करके अन्तमे अपना मन्तव्य प्रकट किया है, और जिस प्रकार समन्तभेदने आप्तमीमांसामे सप्तभगीके निरूपणका प्रसंग लेकर उसमे सत्-असत्, अद्वैत-द्वैत, एकत्व-पृथक्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, दैव-पुरुषार्थ आदि अनेक वादोकी चर्चा करके अन्तमे उनके विषयमे अनेकान्तदृष्टिसे अपना मन्तव्य स्थापित किया है, उसी प्रकार सिद्धसेनने भी सामान्य और विशेषवाद, अस्तित्व और नास्तित्ववाद, आत्मस्वरूपवाद, द्रव्य और गुणका भेदाभेदवाद, तर्क और आगमवाद, कार्य और कारणका भेदाभेदवाद, काल आदि पाँच कारणवाद, आत्मोके विषयमे नास्तित्व आदि छ और अस्तित्व आदि छ वाद इत्यादि अनेक विषयोका सूक्ष्म, विस्तृत तथा स्पष्ट निरूपण करते हुए एकान्त और अनेकान्तके उदाहरण देकर उनके गुण-दोष बतलाये हैं तथा एकान्तवादीकी विजयता और अनेकान्तवादीकी अजयता उन्होंने सूचित की है। उन्होंने उक्त वादोके अतिरिक्त कान्तके बहाने ही कतिपय साम्प्रदायिक परिस्थितिका निरूपण करनेका भी काण्डमे बलवान् प्रयत्न किया है। एकदेशीय सूत्राम्याससे या अर्थशून्य ही समझे पाठसे या बहुश्रुतत्व और परिवारके अभिमानसे कोई आगमन या भी अनेक यह उन्होंने बहुत ही भारपूर्वक कहा है, और तात्त्विक नहीं, अत्यन्त की जाय, यह भी उन्होंने बतलाया है। स्व-परदर्शनके न्तर्गत किया है।

कलाप व्यर्थप्राय है और ज्ञान एव क्रिया दोनों मिल करके ही कार्यसाधक होते हैं इत्यादि बातें कहकर अन्तमें उन्होंने अनेकान्तरूप जिनवचनकी कल्याणकामना करके ग्रन्थ पूर्ण किया है ।

तीसरे काण्डमें सिद्धसेनकी प्रतिभा अनेक रूपमें झलकती है, क्योंकि उसमें उन्होंने पर्यायार्थिककी भाँति गुणार्थिक नय भिन्न माननेके बारेमें जो चर्चा उठायी है, वह उनके पहलेके किसी आचार्यके ग्रन्थमें दृष्टिगोचर नहीं होती । विद्यानन्दीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसकी जो चर्चा उठायी है वह सन्मतिके ही आमारी है, ऐसा लगता है । श्रद्धावाद और तर्कवादके बीचके झगड़ेका निराकरण करनेके लिए उन्होंने अहेतुवाद और हेतुवादकी जो मर्यादा बाँधी है, वह अनेकान्तदृष्टिको शोभा देनेवाली है । अल्पश्रुतके अम्यासीको, थोड़े अम्यासमें बहुश्रुतता माननेवालेको, मात्र शिष्यपरिवारके कारण बडप्पन माननेवालेको, अर्थज्ञानके बिना मात्र सूत्रपाठके अम्यासीको, स्व-परदर्शनका अम्यास छोड़कर मात्र क्रियाकाण्डमें कृतार्थता माननेवालेको और केवल शासनभक्तिमें अनेकान्तकुशलता समझनेवालेको उन्होंने जो सच्ची और चोटदार बात कही है, वह उनका स्पष्ट ज्ञान और निडरता सूचित करती है ।

टीकाकारने तीसरे काण्डकी आठ गायत्रीकी व्याख्यामें अनेक प्रकारके वाद और शास्त्रार्थोंकी आयोजना की है; बाकीकी इकसठ गायत्रीकी व्याख्या तो विशद होनेपर भी वैसे शास्त्रार्थवाली नहीं है । उनचासवी गायत्रीकी व्याख्यामें सारा कणाददर्शन रखकर उसकी लम्बी समालोचना की गयी है, तथा सामान्य तत्त्वकी चर्चाके प्रसंगमें तत्त्वसंग्रह एवं प्रमेयकमलमोर्तण्डमें चर्चित ब्राह्मणत्व जातिकी चर्चा करके जातिवादका विरोध किया है । पचासवी गायत्रीकी व्याख्यामें न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और सांख्यके सत् एव असत्वादोंका विस्तारसे निरूपण करके अन्तमें स्वसम्मत सदसद्वादकी स्थापना की है । तिरपनवी गायत्रीकी व्याख्यामें काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुष इन पाँच ऐकान्तिक कारणवादोंका निरूपण एव उनका खण्डन करके अन्तमें कारणसमवायवाद स्थापित किया है । छप्पनवी चर्चागायत्रीकी व्याख्यामें हेत्वाभासकी सख्याके बारेमें दूसरे वादियोंके साथ विस्तारपूर्वक अक्षणिर्णय की है । साठवी गायत्रीकी व्याख्यामें पुनः एकान्त-क्षणिकत्व और एकान्त-सात तत्त्वाश्चकाशास्त्रार्थ छेड़ा है । तिरसठवी गायत्रीकी व्याख्यामें जैनदर्शनसम्मत दर्शनोके मान्यके निरूपणके प्रसंगमें जीव और अजीव दो तत्त्वोंमें कणाद आदि जैन दर्शनमें प्रसिद्ध पदार्थोंका कैसे समावेश हो जाता है, यह अत्यन्त स्पष्टतासे बताकर इसके बाद इसी गायत्रीचार ध्यान और उनके भेद-प्रभेदोंका सविस्तर वर्णन किया है ।

की व्याख्यामें वाच्यका स्वरूप निश्चित करनेके लिए लट्

आदिके अर्थविचारसे सम्बद्ध अनेक मीमांसक पक्षोंको रखकर उसपर विद्या-नन्दीने अष्टसहस्रीमें की है वैसी नियोगकी विस्तृत चर्चा की है। पैसठवीं गाथाकी व्याख्यामें दिगम्बरोके साथ मतभेदवाले निर्ग्रन्थ द्वारा वस्त्र-पात्र धारण करनेके, स्त्री-मुक्तिके और प्रतिमाको वस्त्रालंकार धारण करानेके वाद बहुत विस्तारसे दाखिल किये हैं। उनहत्तरवीं गाथाकी व्याख्यामें पुनः सप्तमगी आदिकी स्पष्ट चर्चा करके अनेकान्तकों स्वरूप दिखलाया है। अन्तमें निग्रहस्यानके स्वरूपकी बौद्ध और न्यायवादियोंके साथ दीर्घ चर्चा करके टीका पूर्ण की है।

प्रस्तुत टीकामें आये हुए वाद बहुधा तत्त्वसंग्रह, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेय-कमलमार्तण्ड, सिद्धिविनिश्चय आदि ग्रन्थोंमें हैं, परन्तु उन ग्रन्थोंकी अपेक्षा प्रस्तुत टीकाकी विशेषता भाषा, शैली, ग्रन्थ एव ग्रन्थकारोंके नाम तथा उद्धरणके विषयमें इस प्रकार अनेक प्रकारकी है।

मूल तीनो काण्डोंके विषयोक्त तथा टीकामें उल्लिखित शास्त्रार्थीय विषयोक्त यह अतिसक्षिप्त चित्रण है। इस ग्रन्थके विषयोक्त कर्मिक और अधिक ख्याल प्राप्त करनेकी इच्छावालेको यदि ग्रन्थका अध्ययन न करना हो, तो भी अनु-क्रमणिका देखनेसे बहुत कुछ ख्याल आ सकेगा।

४

बत्तीसियोंका परिचय

आचार्य सिद्धसेनकी उपलब्ध बत्तीसियाँ इक्कीस और उनमें न्यायावतारका समावेश किया जाय तो बाईस हैं। इन बत्तीसियोंके अवलोकनका सामान्य और सक्षिप्त सार यहाँ दिया जाता है। इसके तीन भाग हैं :

१. ग्रन्थकर्ता सिद्धसेनके युगकी कतिपय परिस्थितियाँ।

२. सिद्धसेनकी योग्यता और स्थिति।

३. बत्तीसियोंका परिचय।

१. सिद्धसेनके जीवनकी जानकारीका सच्चा आधार तो उनके ग्रन्थ ही समझे जा सकते हैं। उनके ग्रन्थोंमें बत्तीसियोंका स्थान सन्मतिकी अपेक्षा भी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वका है। अतः उनका अवलोकन यहाँ प्रस्तुत ही नहीं, अत्यन्त आवश्यक भी है। इसी दृष्टिसे यहाँ उनके विषयमें थोड़ा प्रयत्न किया है।

(१) वत्तीसियोंका वाचन एवं मनन करनेपर उनकी रचनाके युगके विषयमें मनपर ऐसी सामान्य छाप पड़ती है कि जिस समय मस्कृत भाषाका उत्थान और विकास खूब हुआ होगा, जिस समय दार्शनिक विचार मस्कृत भाषामें करनेकी और उन्हें पद्यतकमें गुफित करनेकी प्रवृत्ति जोर-शोरमें चलती होगी, जिस समय प्रत्येक सम्प्रदायके विद्वान् अपने-अपने सम्प्रदायकी स्थापना, पुष्टि और प्रचारके

हमारे समक्ष इस समय जैनधर्मप्रचारक सभा, भावनगरकी ओरसे प्रकाशित मुद्रित आवृत्ति है । उसमें जिस क्रमसे वत्तीसियाँ हैं उसी क्रमसे उनकी रचना हुई होगी, ऐसा नहीं लगता । पीछेसे लेखकोने श्रवण पाठकोंने वह क्रम निश्चित किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है । इन वत्तीसियोंमेंसे कुछके अन्तमें नाम छपा हुआ है, जब कि कुछके अंतमें नहीं है । इसपरसे सम्भवतो ऐसा लगता है कि पीछेसे किसीने वे नाम जोड़ दिये हैं । ये कही तो जाती हैं सभी वत्तीसियाँ, पर उनमें कहीं-कहीं पद्य कमोवेश भी हैं । वत्तीस-वत्तीसके हिसाबसे बाईस वत्तीसियोंके कुल ७०४ पद्य होने चाहिए, परन्तु उपलब्ध मुद्रित वत्तीसियोंमें उनकी कुल संख्या ६९५ है । २१वीं वत्तीसीमें एक पद्य अधिक है अर्थात् उसमें कुल तैंतीस पद्य हैं, जब कि ८, ११, १५ और १९ इन चारमें वत्तीसकी अपेक्षा कम पद्य हैं । पद्योंकी यह कमोवेश संख्या वत्तीसियोंके रचनान्तमयसे ही होगी, या पीछेसे कमोवेशी हुई होगी, या फिर मुद्रणकी आधारभूत प्रतियोंकी अपूर्णताके कारण मुद्रित आवृत्तिमें आयी होगी, यह इस समय कहना कठिन है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि कमो-वेशीकी यह गोलमाल पीछेसे ही किसी कारणवश हुई होगी ।

ये सभी वत्तीसियाँ सिद्धसेनके जैन दीक्षा अंगीकार करनेके पश्चात् ही लिखी गयी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । सम्भव है कि उन्होंने इनमेंसे कुछ वत्तीसियाँ पूर्वश्रममें भी रची हो और बादमें उन्होंने श्रवण उनके अनुगामी शिष्योंने उनकी इन सभी कृतियोंका संग्रह किया हो और वह सुरक्षित भी रहा हो ।

दार्शनिक विभागमें जैमिनीय जैसे प्रसिद्ध दर्शनकी वत्तीसी नहीं दिखायी पड़ती । इससे ऐसा सूचित होता है कि शायद लुप्त वत्तीसियोंमें वह भी रही हो ।

मुद्रित वत्तीसियाँ अत्यन्त अशुद्ध और सन्दिग्ध हैं । कई स्थानोंमें तो सैकड़ों बार प्रयत्न करनेपर भी अर्थ समझमें नहीं आता और अनेक स्थानोंपर वह सन्दिग्ध रहा है । अनेक पुरानी और लिखित प्रतियोंका संग्रह करके और पाठान्तरोकी मिलाकर यदि वे पढ़ी जायँ, तो बहुत अंशमें भ्रम और सन्देह दूर हो सकता है । इस समय तो वत्तीसियोंके बारेमें हमारा सारा कथन इस शुद्ध, अशुद्ध

लिए तर्क और खास करके वादशास्त्रको गहरा अभ्यास करके उसके द्वारा अपने मन्तव्यको समर्थन और परमन्तव्यको खण्डन करनेमें ही कृतकृत्यता मानते होंगे, जिस समय किसी भी विरोधी सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठित भावना और विचारसरणीके बलसे अपने सम्प्रदायकी नींव हिल उठनेकी सम्भावना उपस्थित होती है उन भावनाओं और विचारसरणियोंको अपने-अपने ढंगसे अपना लेनेकी और उन्हें अपने सम्प्रदायको रूप देनेकी विद्वानोंको अनिवार्य आवश्यकता मालूम हुई होगी, जिस समय वैदिक दर्शनकी प्रसिद्ध शाखाओं तथा महायान सम्प्रदायकी सभी बौद्धशाखाओंके (मात्र पुस्तके ही नहीं, परन्तु) अनुगामी प्रकाण्ड विद्वानोंका अस्तित्व होगा और वे अपनी-अपनी शाखाका महत्त्व प्रस्थापित करने तथा उसे सुरक्षित रखनेके लिए वादमें उतरते होंगे, जिस समय वादविवादके लिए राजसभा अथवा वैसी ही प्रभावशाली दूसरी सभाओंका आश्रय लिया जाता होगा और प्रभावशाली सभाध्यक्षको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए उसकी प्रशंसामे प्रशस्तिग्रन्थ रचनेकी अथवा वैसी दूसरी प्रवृत्ति चलती होगी, जिस समय न्याय अर्थात् प्रमाणचर्चा और उसमें भी खास करके परार्थानुमानचर्चा तथा उससे सम्बद्ध वादविवादके नियमोंकी विचारणा अधिक होती होगी और उस विषयके शास्त्रोंकी रचना करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता होगा, उस परिस्थितिमें प्रस्तुत बत्तीसियोंकी रचना हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

और अर्धशुद्ध पाठोंकी पूरी या अधूरी अबतककी हमारी समझके आधारपर हुआ है। इसमें फेरफार और सशोधनको काफी अवकाश है।

ऊपरका कथन सन् १९३२ तककी परिस्थितिको ध्यानमें रखकर लिखा गया है। इसके बाद अबतकमें बत्तीसियोंकी कई प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। उनमेंसे एक तो अतिजीर्ण ताडपत्रोय प्रति भी है। कागजपर लिखी हुई चार-पाँच प्रतियाँ और भी मिली हैं। इन सबका मुद्रित प्रतिके साथ मिलान करके प्रथम दृष्टिसे पाठान्तर भी लिख रखे हैं; परन्तु उन पाठान्तरोंकी भाषा, अर्थ, सन्दर्भ आदि दृष्टिसे अभी-तक विशेष जाँच हम कर नहीं सके हैं। यद्यपि प्रथम दृष्टिसे जो जाँच की गयी है, उससे मुद्रित प्रतिकी कई अशुद्धियोंका निवारण हुआ है और कई अशुद्धियोंके स्थानमें कल्पनासे उचित पाठ भी ध्यानमें आये हैं, तथापि इस समयतक हम बत्तीसियोंकी वाचना अन्तिम स्वरूपमें स्थिर नहीं कर सके हैं। अतएव ऊपरका कथन हमने ज्योंका त्यों रखा है।

(२) वत्तीसियोंके वाचनपरसे उसके प्रणेतार्थके बारेमें जो नौ बातें स्पष्ट होती हैं, वे इस प्रकार हैं .

(क) नाम वत्तीसियोंकी रचनाके समय कर्ताका सिद्धसेन नाम प्रसिद्ध था, क्योंकि पञ्ची वत्तीसीके अन्तमें इस नामका उल्लेख है ।

(ख) जाति श्रुति एवं उपनिषदोंका मौलिक अभ्यास तथा संस्कृत भाषापरका प्रभुत्व पूर्वश्रिममे उनके ब्राह्मणत्वकी सूचना देता है ।

(ग) सम्प्रदाय वह जैन सम्प्रदायके तो थे ही, परन्तु उसमें भी श्वेताम्बर थे, दिगम्बर नहीं, क्योंकि दिगम्बर परम्परामें अमान्य और श्वेताम्बर आगमोंमें निर्विवाद रूपसे मान्य ऐसी महावीरके गृहस्थाश्रम तथा चमरेन्द्रके शरणागमनकी बातका वे उल्लेख करते हैं^१ ।

(घ) अभ्यास और पाण्डित्य तत्कालीन सभी वैदिक दर्शनोंके, महायान सम्प्रदायकी सभी शाखाओंके एवं आजीवक दर्शनके गहरे और मौलिक अभ्यासके अतिरिक्त जैन दर्शनका उन्हें तलस्पर्शी अभ्यास था, क्योंकि वे सभी दर्शनोंके मन्तव्योंका संक्षेपमें किंतु स्पष्ट रूपमें प्रतिपादक पद्धतिसे छोटे-छोटे प्रकरणोंमें वर्णन करते हैं और ऐसा करके सभी विद्वानोंके लिए सब दर्शनोंका अभ्यास सुलभ करनेका लघु पथ तैयार करते हैं ।

(ङ) स्वभाव उनका स्वभाव सदा प्रसन्न और उपहासशील होगा, क्योंकि वे बहुत बार एक सामान्य वस्तुका इस ढंगसे वर्णन करते हैं कि उसे सुनते ही चाहे जैसा गम्भीर आदमी भी एक बार तो खिलखिलाकर हँसे बिना शायद ही रह सके^२ ।

(च) दृष्टि उनकी दृष्टि समालोचनाप्रधान थी, अतः तर्क द्वारा किसी भी वस्तुका निर्भय परीक्षण करनेपर भी वे साम्प्रदायिकतासे मुक्त नहीं थे, क्योंकि उनकी दृष्टि पर-सम्प्रदायपर आक्रमण करते समय तर्कका तीव्र अवलम्बन लेती है, जब कि स्वसम्प्रदायकी तर्कबलसे सिद्ध न हो सकनेवाली बातोंके विषयमें मात्र श्रद्धाका आधार लेकर उसपरसे तार्किक परवादियोंके सामने तर्कबलसे ही सिद्धान्त स्थापित करते हैं^३ । मतलब कि स्व-सम्प्रदाय और पर-सम्प्रदायकी बातोंकी परीक्षा करते समय उनकी तर्कबुद्धिकी तुला एक जैसी नहीं रहती ।

(छ) राजा, सभा और वादगोष्ठियोंका परिचय उन्हें किसी एक राजाका खास परिचय था, क्योंकि वह किसी राजाको उद्दिष्ट करके ही ११वीं गुण-

१. देखो वत्तीसी २.३; ५.६ ।

२. उदाहरणार्थ वत्तीसी ६.१, ८.१ तथा १२.१ ।

३. उदाहरणार्थ वत्तीसी १.१४ ।

वचनस्तुतिकी रचना करते हैं। राजसभाका परिचय भी उस स्तुतिपरसे तथा वादविषयक वत्तीसियोंके ऊपरसे स्पष्ट होता है। ऐसा लगता है कि वादगोष्ठीमें तो स्वयं उन्हें खड़ा रहनेका और दूसरोकी वैसी गोष्ठियोंको प्रत्यक्ष देखनेका असंग्रह बहुत बार मिला होगा, क्योंकि वे वादके नियमोंका और जल्प-वितण्डाके दोषोंका अपनी नजरसे देखा हो, वैसा तादृश वर्णन करते हैं।

(ज) प्रतिभा—उनकी प्रतिभा नवसर्जनकारिणी थी ऐसा लगता है, क्योंकि उन्होंने स्तुतियोंकी रचनामें पूर्वाचार्योंका अनुकरण करनेपर भी उनमें बहुत-सी नवीनताका समावेश किया है और दूसरोकी कहीं हुई वस्तुको एकदम नये ढंगसे कहा है। उनकी कृतियोंमें कई मन्तव्य तो सर्वथा अपूर्व दिखायी पड़ते हैं और चालू प्रयागके विरुद्ध विचार उपस्थित करनेका प्रतिभावल भी उनमें है।

(झ) तत्त्वज्ञभक्ति उनकी भगवान् महावीरके प्रति भक्ति मात्र एक श्रद्धालुकी भक्ति नहीं है, परन्तु तत्त्वज्ञकी भक्ति है, क्योंकि उन्होंने अपनी स्तुतियोंमें जो भक्तिभाव प्रदर्शित किया है, उसके पीछे प्रेरकतत्त्व मुख्यरूपसे महावीरके तत्त्वज्ञानका गहरा और मर्मग्राही भान ही है। महावीरके तत्त्वज्ञानकी जिन-जिन बातोंने उनके हृदयपर गहरा असर किया और जिनके कारण वे जैनदर्शन-रसिक बने, उन बातोंकी विशेषताका चमत्कारपूर्ण ढंगसे वर्णन करके महावीरके प्रति अपनी जाग्रत् एव सजीव श्रद्धा तथा भक्ति प्रकट करते हैं। वस्तुतः तो स्तुतिके वहाने वे महावीरके तत्त्वज्ञानकी उत्कृष्टता दिखलानेका प्रयत्न करते हैं।

(३) वत्तीसियोंके परिचयको बहिरंग और अन्तरंग इन दो भागोंमें विभक्त कर आगे चले।

बहिरंग परिचय वत्तीसियोंकी भाषा संस्कृत है, परन्तु वह साधारण कक्षाकी न होकर दार्शनिक, आलंकारिक और प्रतिभासम्पन्न विद्वान् कविके योग्य प्रौढ एव गम्भीर है। पद्योंका बन्ध कालिदासके पद्योंके जैसा सुश्लिष्ट और रीति वेदभीप्राय है। प्राप्त वत्तीसियोंमें प्राय १७ छन्दोंका उपयोग किया गया है। वादरहस्याका वर्णन करनेवाली सातवीं वत्तीसीके सिवा सभी दार्शनिक वत्तीसियोंमें केवल अनुष्टुप् छन्द है और उनमें आदि तथा अन्तमें छन्दोभेद भी नहीं है, जब कि स्तुति, समीक्षा और प्रशंसात्मक वत्तीसियोंमें अलग-अलग छन्द है और उनमें प्रारम्भ तथा अन्तमें प्राय छन्दोभेद भी है।

अन्तरंग परीक्षा—विषयकी दृष्टिसे स्थूल वर्गीकरण करें, तो प्राप्य वत्तीसियोंके मुख्य रूपसे तीन विभाग होते हैं। पहली पाँच, ग्यारहवीं और इक्कीसवीं ये सात स्तुत्यात्मक हैं, छठी और आठवीं समीक्षात्मक हैं और बाकीकी सब दार्शनिक और वर्णनात्मक हैं।

स्तुत्यात्मक वर्गमें जो ग्यारहवीं वत्तीसी है, वह किसी राजाकी और वाकीकी सब महावीरकी स्तुतिरूप है। इनमेंसे जो इक्कीसवीं महावीरद्वात्रिंशिका है, उसकी भाषा, रचना और वस्तुकी दूसरी वत्तीसियोंके साथ तुलना करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी दूसरे ही सिद्धसेनकी कृति है और चाहे जिस कारणसे दिवाकरकी मानी जानेवाली कृतियोंमें दाखिल होकर दिवाकरके नामपर चढ़ गयी है।^१ समीक्षात्मक वर्गमें छठी वत्तीसी शास्त्रके प्रणेताकी समीक्षा करती है, जब कि आठवीं वत्तीसी जल्पात्मक वादकयाके गुण-दोषोंकी समीक्षा करती है। दार्शनिक और वर्णनात्मक वर्गमें सातवीं वत्तीसी वादकया-विषयक नियमोंका वर्णन करती है, जब कि दूसरी सब दार्शनिक है। दार्शनिकमें छह वत्तीसियाँ तो इस समय स्पष्ट रूपसे जैनैतर दर्शनकी चर्चावाली हैं, जिनमेंसे वेद नामकी^२ वत्तीसी उपनिषद्मन्य सगुण-निर्गुण पुरुषतत्त्वका वर्णन करती है। बारहवीं न्यायदर्शनके, तेरहवीं सांख्यदर्शनके, चौदहवीं वैशेषिकदर्शनके, पन्द्रहवीं बौद्ध-दर्शनके और सोलहवीं कदाचित् नियति (आजीवक) (?) दर्शनके स्वरूपका आलेखन करती है। वाकीकी दसवीं, सत्रहवीं, अठारहवीं, उन्नीसवीं, बीसवीं तथा बाईसवीं ये छह तो केवल जैन दर्शनसे सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। इनमेंसे बाईसवीं न्यायावतार सिर्फ जैनसम्मत न्याय अर्थात् प्रमाणविद्या ही निरूपण करती है।

१. स्तुत्यात्मक—मयूरका सूर्यशतक, वाणका चण्डोक्तक, समन्तभद्र और जम्बूकविके जिनशतक तथा रामचन्द्र भारतीका बुद्ध-विषयक भक्तिशतक ये सब स्तुतिरूप हैं, परन्तु उनमें प्रस्तुत वत्तीसियोंकी भाँति तत्त्वज्ञानमूलक स्तुति नहीं है। इससे प्रस्तुत वत्तीसियोंके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती। ऐसी तुलनाके लिए योग्य तो समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र है। स्वयम्भूस्तोत्रमें किसी एककी नहीं, किन्तु चौबीसो तीर्थंकरोंकी स्तुति आती है, जब कि प्रस्तुत वत्तीसी-

१. उपलब्ध इक्कीसवीं और बाईसवीं वत्तीसीपर टीकाएँ लिखी गयी हैं और वे छपी भी हैं। इक्कीसवीं वत्तीसीपर सोलहवीं शताब्दीके उदयसागरसुरि (विधिपक्षीय आचलिक) की टीका है, जब कि बाईसवीं वत्तीसी न्यायावतारके ऊपर प्रसिद्ध आचार्य सिद्धार्थकी टीका है। दूसरी किसी भी वत्तीसीके ऊपर किसीकी टीका अबतक न तो सुनी है और न देखी ही है।

२. इस वेदवादद्वात्रिंशिकाका अर्थदर्शन, उपनिषदोंकी तुलनाके साथ, मैंने किया है, जो भारतीय विद्या (सिंधी स्मारक अंक) में तथा अलग पुस्तकाकार भी छपा है।

पचकमे केवल महावीरकी स्तुति है। स्वयम्भूस्तोत्रमे कुल १४३ पद्य है, जब कि प्रस्तुत वत्तीसियोंके कुल पद्य १६० होते हैं। इतने अन्तरके अतिरिक्त दोनोंमें अनेक प्रकारका अर्थसूचक साम्य भी है। इस साम्यमे छन्द, उपक्रम, उपसहार, कई खास शब्द, शैली तथा वस्तुकल्पना एव उपादान समानता मुख्य रूपसे तुलना करनेवालेका ध्यान आकृष्ट करती है।

स्वयम्भूस्तोत्रमे जैसे अनेक छन्दोकी पसदगी है, वैसे ही वत्तीसी-पचकमे भी है। स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ स्वयम्भू शब्दसे होता है और समाप्ति (श्लो० १०२) श्लेषमे कर्ताके समन्तभद्र नामके साथ होती है। वत्तीसी-पचकमे भी ऐसा ही है। उसमे भी पहला स्वयम्भू शब्द है और अन्तमे श्लेषमे (वत्तीसी ५, श्लो० ३२) कर्ताका सिद्धसेन नाम है। सिद्धसेन और समन्तभद्रसे पहले कनिष्कके समयमे होनेवाले बौद्ध स्तुतिकार मातृचेट^३ भी बुद्धको 'स्वयम्भू' पदसे

१. समान अर्थवाले पद्य

स्वयम्भूस्तोत्र

वत्तीसी

जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः	५	प्रपंचितक्षुल्लकतर्कशासनैः	१.९
समन्तभद्रम्	१४३	समन्तसर्वाक्षगुणम्	१.२
नैतत् समालोढपदं त्वदन्यैः	४१	परैरनालोढपयस्त्वयोदितः	१.१३
जिने त्वयि सुप्रसन्नमनस्स्थिता वयम् १२९		त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ।	
		त्वदाश्रयकृतादरास्तु वयमद्य वीर	
		स्थिताः	३.२
मयापि भक्त्या परिणूयसेज्ज	३५	न केवलं आद्धतयैव नूयसे	१.४
वाक्सिहनादः	३८	सुगर्दसिहनादः कृतः	३.२६

सिहनाद शब्द बौद्ध पिटकके मज्झिमनिकायके सिहनादसुत्तमें बहुत पहलेसे प्रसिद्ध है और अश्वघोषने भी इसे लिया है। 'नाद' सिहनाद (सर्ग ५, श्लो० ४८)। गीता (१.१२) में भी यह शब्द है।

पद्योंमें आये हुए समान शब्द

स्वयम्भू	स्वयम्भूस्तोत्र	१	वत्तीसी	१.१
वसुधावधू	"	३	"	५.५
इति निरूपम	"	१०२	"	५.३२

२. अध्वर्षशतक ८। विशेषके लिए देखो 'दर्शन अने चिन्तन' (गुजराती)

सम्बोधित करके नमस्कार करते हैं। दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसार (१. १५-६) में 'स्वयम्भू' शब्दका अर्थ जैन दृष्टिसे किया है।

इन दोनोंमें एक अथवा दूसरे रूपमें प्रयुक्त अनेक समान शब्द खास ध्यान आकर्षित करते हैं। तत्त्वज्ञानके द्वारा स्तुत्य देवकी महत्ता दिखलाते हुए अमुक प्रकारके तत्त्वका तूने ही प्रतिपादन किया है, दूसरे किसीने नहीं। ऐसी अन्ययोग-व्यवच्छेदकी शैली दोनोंमें एक-जैसी है। इसी शैलीको आगे जाकर विद्यानन्दीने आप्तपरीक्षामें तथा हेमचन्द्रने दूसरी द्वात्रिंशिकामें अपनाया है। "हे प्रभो! तेरी स्पृहसे तेरी तुलना करनेके लिए निकले हुए दूसरे तपस्वी अन्तमें हारकर तेरी शरणमें आये" यह समग्र वस्तु दोनोंकी स्तुतियोंमें जैसीकी तैसी है।^२ समन्तभद्र और सिद्धसेन दोनोंने अपनी-अपनी स्तुतिमें^३ इन्द्रकी सहस्राक्षताकी प्रसिद्धिके ऊपर जो कल्पना की है, वह विम्ब-प्रतिविम्ब जैसी है। दोनों स्तुतिकारोंकी स्तुतिका अर्थोपादान मुख्यतः तत्त्वज्ञान है। दोनों ही जैन तत्त्वज्ञानके आत्मारूप अनेकान्तकी विशिष्टता अनेक प्रकारसे दिखलाकर उसके द्वारा उसके प्ररूपकके रूपमें अपने-अपने स्तुत्य देवोंका महत्त्व गाते हैं। दोनोंकी स्तुतियोंमें यत्र तत्र स्तुतिके वहाने जैन तत्त्वज्ञानके विविध अंग और जैन आचारके विविध अंशोंकी ही विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः दोनों स्तुतियोका आर्थिक उपादान एकमात्र जैन तत्त्वज्ञान और जैन आचार है।

१. तुलना करो वत्तीसी १.२६-८ और ३.२० के साथ स्वयम्भू० १९, २५, ३३।

२. यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।

वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥

स्वयम्भू० १३४

अन्येऽपि मोहविजयाय निपीड्य कक्षा-

मन्युत्थितास्त्वयि विरुद्धसमानमानाः।

अप्राप्य ते तव गतिं कृपणावसाना-

स्त्वामेव वीर शरणं ययुर्ब्रह्मतः ॥ वत्तीसी २.१०

३. स्वयम्भू० ८९ और वत्तीसी ५.१५।

४. उदाहरणार्थ स्वयम्भू० १४, २२-५, ३३, ४१-४, ५२, ५४, ५९, ६०, ६१-५, ८२, ९८-९, १००, १०१, ११८-२० और वत्तीसी १२०, २४, २६, २८-९; २.२५; ३.३, ८, १०-१; ४.१९ आदि।

स्वयम्भू—ब्रह्मा, महेश्वर शिव और पुरुषोत्तम विष्णु इस पौराणिक त्रिमूर्तिकी देवके रूपमें जो भावना लोकमानसमें प्रतिष्ठित हो गयी थी और जिस भावनाको हम सद्धर्मपुण्डरीक^१ जैसे प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें बौद्ध विद्वानोंके द्वारा बुद्धके साथ जुड़ी हुई देखते हैं, उसी भावनाको उन्हीं पौराणिक शब्दोंमें लेकर सिद्धसेन^२ और समन्तभद्र^३ दोनोंने कमोवेश परिमाणमें अपने स्तुत्य देव तीर्थंकरमें जैन शैलीसे लागू करके लोगोको ऐसा सूचित करनेका प्रयत्न किया है कि तुम जिन ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको मानते हो वह त्रिमूर्ति तो वास्तवमें जैन तीर्थंकर ही हैं, दूसरे कोई नहीं। इसी प्रकार लोगोमें प्रतिष्ठाप्राप्त इन्द्र, सूर्य आदि वैदिक देवोंको, आदिसाख्य अर्थात् कपिल जैसे तत्त्वज्ञ महर्षिको तथा सद्धर्मके प्रचारकके रूपमें चारों ओर ख्यातिप्राप्त तथागत सुगतको इन दोनों स्तुतिकारोंने अल्पाधिक परिमाणमें अपनाकर और अपने स्तुत्य तीर्थंकरमें उनका वास्तविक अर्थ घटाकर^४ लोगोको उसीमें ही उनका साक्षात्कार करनेका सूचन किया है। यही बात भक्तामर (२३-२६) और कल्याणमन्दिर (१८) में हम देख सकते हैं।

उपनिषद् और गीताके अभ्यासकी गहरी छाप प्रस्तुत स्तुतिपत्रकमें ही नहीं, दूसरी अनेक वत्तीसियोंमें स्पष्ट परिलक्षित होती है^५, परन्तु स्वयम्भूस्तोत्रमें वैसी नहीं है।

१. एमेव हं लोकपिता स्वयम्भू चिकित्सकः सर्वप्रजान नाथः ।

राद्धर्मपुण्डरीक पृ० ३२६ ।

अमरकोशमें भी बुद्धके नामके रूपमें श्रद्धयवादी और विनायक शब्दका प्रयोग देखा जाता है। वस्तुतः ये दोनों शब्द वैदिक सम्प्रदायके हैं।

२. १.१; २.१; ३.१ ।

३. स्वयम्भू० १ ।

४. तुलना करो १.१; २.१, १९ और स्वयम्भू० ३.५ ।

५. वत्तीसी

गीता

अव्यक्तमव्याहृतविश्वलोकमनादि-

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं

मध्यान्तमपुण्यपापम् ।

१.१

शशिसूर्यनेत्रम् ।

अ० ११.१९

समन्तसर्वाक्षगुणिं निरक्षं स्वयंप्रभं

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

सर्वगतावभासम् ।

१.२

अ० १३.१४

श्वेताश्वतर अ० १३, १६-७ ।

ब्राह्मणधर्ममे प्रतिष्ठित आश्रमव्यवस्थाके अनुगामी कालिदासने लग्नभावना-
का औचित्य दिखलानेके लिए महादेव और अजके विवाहकालीन नगरप्रवेशका
प्रसंग लेकर उस प्रसंगसे हर्षोत्तुक स्त्रियोंके अवलोकनकौतुकका जैसा भाूमिक
शब्दचित्र अंकित किया है^१, वैसा चित्र अश्वघोषके काव्यमे^२ और सिद्धसेनकी
स्तुतिमे^३ भी है। अन्तर है तो वह केवल इतना ही है कि अश्वघोष और सिद्धसेन
दोनों श्रमणधर्ममे प्रतिष्ठित एकमात्र त्यागाश्रमके अनुगामी होनेके कारण उनका
वह चित्र वैराग्य और गृहत्यागके साथ मेल खाता है और इसीलिए उसमें बुद्ध
और महावीरके गृहत्यागसे खिन्न और निराश स्त्रियोंकी शोकजन्य चेष्टाओंका
सूचन है।

वसन्ततिलका छन्दवाली दूसरी वत्तीसी पढ़ते ही भक्तामर और कल्याण-
मन्दिरका स्मरण हो आता है। इन दोनोंमे शब्दविन्यास, शैली, प्रसादगुण और
कल्पनाका कुछ सादृश्य^४ होनेपर भी एक अंतर ध्यानमें आता है और वह यह कि

विद्यामहेश्वरम्	२.१	भायिनं तु महेश्वरम् ।—श्वेता० ४.१०
ब्रह्माक्षरम्	२.१	क०० १.२ और १५; गीता ८.१५
३.८		श्वेता० १.२; ६.१
१०. २३-४		गीता ६.११-३, श्वेता० ४.१०-१
१०.२८		गीता २.४०
१३.३२		क०० २.५

१. कुमारसंभव सर्ग ७, श्लो० ५६; रघुवंश सर्ग ७, श्लो० ५।

२. बुद्धचरित सर्ग ८, श्लो० २०।

३. वत्तीसी ५.१०-१। इनमेंसे दसवाँ श्लोक सौन्दरनन्दके ६.४ की छाया
है। जैसे कि

अपूर्वशोकोपनतपलमानि नेत्रोदकविलम्बविशेषकाणि ।

विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि ॥ ५.१०

सा खेदसस्विन्नललाटकेन निःश्वासनिष्पीतविशेषकेण ।

चिन्ताचलाक्षेण मुखेन तस्थी भर्तारिमन्यत्र विशंकमाना ॥

सौन्दरनन्द सर्ग ४, श्लो० ६

४. तुलना करो वत्तीसी 'चित्रं किमत्र' २.८; भक्तामर० १५, कल्याण० २०
तथा वत्तीसी क्षणेन २.२३, कल्याण० श्लोक ११, १५।

शैलीके लिए : वत्तीसी २.१५, भक्तामर० २९, कल्याण० ७।

कल्पनाके लिए : वत्तीसी २७-९, भक्तामर० १७-९।

उस बत्तीसीमें सिद्धसेनके तत्त्वज्ञानकी ऊर्मियाँ दृष्टिगोचर होती हैं^१, तो भक्तामर और कल्याणमन्दिरमें कहीपर तत्त्वज्ञानका उन्मेषतक नहीं है। कल्याणमन्दिर यदि सिद्धसेनकी कृति होती, तो उसमें उनका सहज तत्त्वज्ञान एकाध बार भी आये बिना न रहता, ऐसी भी कल्पना आती है।

तीसरी बत्तीसीके प्रारम्भमें पुरुषोत्तमत्वकी जो भावना महावीरमें आरोपित की गयी है, वह गीता (अ० १५) में आये हुए पुरुषोत्तमके और योगसूत्र (१ २४) में उल्लिखित पुरुषविशेषके वर्णनसे प्रभावित है, ऐसी कल्पना होती है।

वैतालीय छन्दमें चौथी स्तुति जब हम पढ़ते हैं, तब विषयभेद होनेपर भी शब्दबन्ध और नादकी समानताके कारण कालिदासके रतिविलाप (कुमारसम्भव सर्ग ४) और अजविलाप (रघुवंश सर्ग ८) का तथा अश्वघोषवर्णित नन्दके स्त्री-विधात (सौन्दरनन्द सर्ग ८) का स्मरण हुए बिना नहीं रहता।

यद्यपि पाँचो स्तुतियाँ एकके बाद एक इस तरह क्रमसे छपी हैं, इसलिए इस समय हमें अखण्ड एक स्तुतिके रूपमें ही प्राप्त होती है, फिर भी उनमेंसे प्रत्येकका आदि-अन्त देखनेपर ऐसा मालूम होता है कि वे सब अलग-अलग स्वतंत्र रूपसे ही रची गयी होगी और बादमें ही एक साथ रख दी गयी होगी। पाँचवी स्तुति यद्यपि बत्तीस श्लोक जितनी एक छोटी-सी कृति है, तथापि उसमें गृहस्थाश्रम, गृहत्याग, कठोर साधनाके लिए वनविहार, भयकर परीषद् और उनपर विजय, प्राप्त दिव्य ज्ञान और उसके द्वारा लोगोमें किया गया धर्मप्रचार इस प्रकार महावीरके जीवनकी बातोंका अत्यन्त सक्षेपमें क्रमिक वर्णन होनेसे उसे पढ़नेपर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो महावीरके जीवनका सक्षेपमें चित्रालेखन करनेवाला यह छोटा-सा काव्य ही न हो ? इस जगह आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्धके महावीर-जीवन-विषयक अंतिम नवम अव्ययनका स्मरण हो आता है।

स्तुतिपत्रकमें मुख्य वस्तु स्तुति है, और स्तुति यानी असाधारण गुणका कथन। इससे हमें यह देखना चाहिए कि सिद्धसेनने अपने स्तुत्य महावीरकी असाधारणताका किस-किस रूपमें वर्णन किया है। इस दृष्टिसे स्तुतिपत्रकको देखनेपर उसमें वर्णित असाधारणताको मुख्य रूपसे चार भागमें बाँट सकते हैं : (१) सम्प्रदायस्वीकृत शरीरके अतिशयोके वर्णन द्वारा^२, (२) जीवनमें घटित

१. बत्तीसी २.१९, २२, २५, ३१।

२. बत्तीसी १.१४।

घटनाके रूपमें शास्त्रमें उल्लिखित प्रसंगोंके वर्णन द्वारा,^१ (३) अन्य सम्प्रदायों तथा उनके मान्य आचार्योंका अधिक्षेप करके स्वसम्प्रदाय और उसके प्रणेता महावीरकी उत्कृष्टताके वर्णन द्वारा,^२ और (४) आचार, विचार, भाषा, दृष्टि और तात्त्विक सिद्धान्तके बारेमें अन्य प्रवादियोंकी अपेक्षा महावीरकी विशिष्टताके वर्णन द्वारा^३ ।

सिद्धसेनकी इन स्तुतियोंके साथ समन्तभद्रकृत युक्त्यनुशासन और आप्तमीमांसा तथा हेमचन्द्रका वीतरागस्तोत्र तथा अयोग एव अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकाएँ भी विषयकी दृष्टिसे सन्तुलनीय हैं ।

ग्यारहवीं वत्तीसीके अन्तमें 'गुणवचनद्वात्रिंशिका' नाम मुद्रित है । उसमें किसी राजाकी स्तुति है । इस स्तुतिको पढ़नेपर ऐसा मालूम होता है कि मानो स्तुतिकार उस राजाके सम्मुख रहकर^४ ही उसके तेज, पराक्रम आदि गुणोंका कवि-बुल में विविध कल्पनाओं और अलंकारोंके द्वारा भिन्न-भिन्न अनेक छन्दोंमें वर्णन कर रहे हों ।

२ समीक्षात्मक—छठी वत्तीसीमें आप्तकी समीक्षा है, जो समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा और विद्यानन्दीकी आप्तपरीक्षाकी याद दिलाती है । इन तीनोंमें आप्तका निर्धारण और आप्तकी अन्तिम पसन्दगी समान होनेपर भी तीनोंके मार्गमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर है । समन्तभद्र सामान्य जनवर्गमें आप्तत्वके साधन माने जानेवाले सभी ब्राह्मण लक्षणोंका निराकरण करके आप्तत्वके सच्चे साधक-हेतुके रूपमें एकमात्र वीतरागत्वको निश्चित करते हैं; और वैसा वीतरागत्व दूसरे किसीमें नहीं, किंतु जैन तीर्थंकरमें है, ऐसा प्रस्थापित करते हैं^५ और ऐसी प्रस्थापनाके लिए उनके अनेकान्तस्पर्शी शासनका मार्मिक वर्णन करते समय अपना जैन तत्त्वज्ञान उसमें नियोजित करते हैं । विद्यानन्दी जैन अरिहन्तका आप्तके रूपमें निर्धार करनेके लिए वस्तु तो समन्तभद्रकी लेते हैं, परन्तु नैयायिक आदिके द्वारा मान्य ईश्वर, सांख्यसम्मत कपिल और बौद्धसम्मत सुगतके आप्तत्वन को उनके मन्तव्योंमें विरोध दिखलाकर खण्डन करते हैं और मीमांसकसम्मत

१. चमरेन्द्रका प्रसंग २.३; सगमका परीषद् ५.१८ ।

२. वत्तीसी १.५, ६, ७, १२ ।

३. उदाहरणार्थ १.१८, २४ आदि ।

४. देखो श्लोक २२ ।

५. देखो आप्तमीमांसा श्लो० १-७ ।

वेदके अपौरुषेयत्व तथा असर्वज्ञवादको भी प्रमाणविरुद्ध बताते हैं। इस प्रकार वे अपनी आप्तपरीक्षामें विरोधी दर्शनोकी सविस्तर खण्डनात्मक समीक्षा नामनिर्देशपूर्वक करते हैं, तो सिद्धसेन अपनी छठी वत्तीसीमें यही वस्तु दूसरी तरह रखते हैं। वे देखते हैं कि महावीरको आप्तके रूपमें मान्य रखनेमें सबसे बड़ा व्यवधान पुरानेसे चिपके रहनेकी और पुरानेमें सत्य देखनेकी परीक्षाशून्य श्रद्धा है। इससे वे पहले पुरातनता क्या है और पुरातनके साथ सत्यका क्या सम्बन्ध है, इसकी कठोर एवं तलस्पर्शी समालोचना करते हैं। ऐसा करनेपर वे शत्रुओके बढ जानेकी, निन्दा होनेकी या अन्य किसी प्रकारकी परवाह किये बिना अपना तर्कप्रवाह बहाते जाते हैं, और सभी वस्तुका तर्कसे परीक्षापूर्वक स्वीकार या परिहार करना चाहिए, ऐसा सूचित करके अन्तमें तर्ककी कसीटीसे स्वयं महावीरको ही आप्तके रूपमें स्वीकार करते हैं। कालिदासने पुरानेमें गुण देखनेकी और नयेमें दोष देखनेकी अन्धश्रद्धाका तर्कपूर्वक निषेध किया है, परन्तु वह तो काव्यको उद्दिष्ट करके और वह भी अत्यन्त सक्षेपमें ही, जब कि सिद्धसेनने पुरातनता और नवीनताकी जो समीक्षा की है, वह अत्यन्त वैविध्यपूर्ण तथा सब विषयोमें लागू हो सके ऐसी है। इसीसे हम पहले भी कह चुके हैं कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इत्यादि कालिदासका पद्य छठी वत्तीसीमें भाष्यायमाण हुआ है। कालिदासके इसी पद्यका अन्तिम पाद उसी भावमें थोड़े शाब्दिक परिवर्तनके साथ पहली वत्तीसीमें दृष्टि-गोचर होता है।^१

आठवी वत्तीसीमें मात्र परपराजय और स्वविजयकी इच्छासे होनेवाली जल्प-कथाकी समीक्षा है। जल्पकथा करनेवाले सहोदर वादियोमें भी कैसी शत्रुता जमती है, जल्पकथा करनेवालोमें सत्य और आवेशका तथा त्याग और कुटिलताका कैसा विरोध आता है, इस कथाको करनेवाला वादी वादिका निर्णय देनेवाले सभा-पतिका कैसा खिलौना बनकर शास्त्रोको किस प्रकार उपहासास्पद बनाता है, कल्याण और वादके मार्ग किस प्रकार एक नहीं है, यूक उड़ानेवाली करोड़ो कलह-कथाकी अपेक्षा एक शान्तिकथा किस प्रकार उत्तम है, वादीकी नींद किस तरह हराम हो जाती है और वह हार-जीत दोनोंमें किस तरह मर्यादा खो बैठता है,

१. उदाहरणार्थ छठी वत्तीसी श्लो० १, ५, ८, १६।

२. 'परप्रणयाल्पमतिर्मवासनं.' (व० १.९) और 'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' (मालविकां० अ० १, प्रस्तावना)।

कथाकलहको घूर्त विद्वानोंने किस तरह मीमांसा जैसे सुन्दर नाममें रूपान्तरित कर दिया है इत्यादि अनेक प्रकारके जल्पकथाके दोषोका, उसकी समीक्षामें, मार्मिक और मनोरञ्जक उद्घाटन किया है।

३ दार्शनिक और वर्णनात्मक सातवीं वत्तीसीके अन्तमें 'वादोपनिषद्' ऐसा नाम है, जो विलकुल सार्यक है, क्योंकि उसमें वादकलाके रहस्यका ही संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वर्णन है। सुकरातके जमानेमें और उससे पहले भी प्राचीन यूनानमें वादकलाका विकास हुआ था। उस कलाके विद्वान् सोफिस्ट (Sophists) कहलाते थे और वे युवकोको लोगोंके समक्ष बोलनेकी तथा चर्चा करनेकी कला सिखलाते थे। इसी प्रकार आर्यावर्तमें भी ब्राह्मणकालके यज्ञवाटकोमें और उपनिषदोंकी ब्रह्मपरिषदोंमें भी मीमांसा होती थी। इस मीमांसासे चर्चा कथाका रूप निमित्त हुआ और उसके बाद, जल्प, वितण्डा जैसे प्रकार और उनके नियम बनाये गये। इसका विकास यहाँतक हुआ कि इस विषयके खास शास्त्र और खास प्रकरण रचे गये, जो ब्राह्मण एवं श्रमणोंके सम्प्रदायप्रचार तथा विजयकी भावनाके

१. वत्तीसी ८, १, २, ४, ७, ९, १२, १६, २४।

२. सातवीं वत्तीसीके पहले पद्यमें 'धर्मार्थकीर्त्यधिकृतानि' पद है। इसी प्रकार ग्यारहवीं राजप्रशंसा वत्तीसीमें 'महीपालोऽसीति' ऐसा २२वाँ पद्य है। प्रो० जेकोबीकी धर्मकीर्तिके बाद ही सिद्धसेनके होनेकी कल्पना जिसे ज्ञात हो, उसे ऊपरके पद्यको देखकर ऐसी कल्पना हो सकती है कि सिद्धसेनने अपने प्रतिपक्षी धर्मकीर्तिका सूचन तो इन पदोंसे नहीं किया होगा? कालिदासके समयका विचार करनेवाले कई विद्वान् उनके काव्यमेंसे स्कन्द कुमार, दिङ्नाग आदि शब्दोंको लेकर उनके आधारपर समयके विषयमें अनेक कल्पनाएँ करते हैं। किसी अन्यकारके समयके विषयमें अनुमान करनेमें ऐसी खास शब्द-विषयक पद्धति बहुत बार अनुपयोगी ही होती है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यहाँ तो इतना ही हमें कहना है कि दूसरे बलवत्तर प्रमाणोंके आधार-पर समयका निर्धारण हुआ हो, तभी ऐसी शब्दप्रयोगकी दलीलको उसके पोषकके रूपमें रखा जा सकता है; बाकी, ऐसी दलीलसे सर्वथा स्वतंत्र रूपसे समय-निर्णय कभी नहीं किया जा सकता। हमने दूसरे सबल प्रमाणोंसे यह बताया है कि सिद्धसेन धर्मकीर्तिसे पहले ही हुए हैं। इससे उक्त पद समय-विषयक कल्पनामें सहायक नहीं हो सकते।

द्योतक है।^१ प्रस्तुत वत्तीसीमे ऐसे ही साहित्य एवं भावनाकी प्रेरणा है। इसमें कर्तनि स्पष्ट कहा है कि यदि शोभास्पद फरमान प्राप्त करने हो, तो सभाओमें वादविवाद करके ही प्राप्त करने चाहिए। वादी सभामें जाकर पहले क्या जाँचे, उसके बाद क्या करे, किस तरह बोले, कौनसे गुण धारण करे और किस बातको जाने दें इत्यादि वादकथाके अनेक रहस्य इस वत्तीसीमें काव्यत्वके साथ उपलब्ध होते हैं।

नवी वेदवाद नामकी वत्तीसीमे^२ उपनिषद्का ब्रह्मतत्त्व प्राचीन पद्यवद्ध उपनिषदोंके ढगपर और प्रायः उन्हीके शब्दोंमें वर्णित है। इसमें खास करके श्वेताश्वतर उपनिषद्का आधार है और कहीं-कहीं ब्रह्मका वर्णन करनेवाली ऋग्वेदकी प्रसिद्ध ऋचाओंका भी सकलन किया गया है। यह सारा वर्णन इतना अधिक और ऐसा तो विरोधगर्भित है कि वह किसी विपक्षीके द्वारा खण्डन दृष्टिसे लिखा गया हो, तो वैसा भी सम्भव है और यदि वह किसी श्रद्धालु वेदान्तीके द्वारा लिखा गया हो, तो वह उसके गहरे तत्त्वज्ञानकी प्रतीति करा सके ऐसा है।

वारह्वीमे न्यायदर्शनका, तेरह्वीमे सांख्यदर्शनका, चौदह्वीमे वैशेषिकदर्शनका और पन्द्रह्वीमे बौद्धदर्शनकी शून्यवाद आदि शाखाओंका वर्णन है। अशुद्धियोंके आधिक्यके कारण इनका वक्तव्य एकदम स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आता, फिर भी इतना तो लगता ही है कि ये वत्तीसियाँ उस-उस दर्शनका प्रतिपादकसरणीसे वर्णनमात्र करती हैं। न्यायवत्तीसी और वैशेषिकवत्तीसी अनुक्रमसे गौतम और कणादके सूत्रोंके अम्यासकी साक्षी भरती हैं। सांख्यवत्तीसीको देखनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें पीछे ईश्वरकृष्णकी कारिकासे भिन्न अन्य किसी सांख्य ग्रन्थका अम्यास है, क्योंकि ईश्वरकृष्णकी कारिकामें प्रमाणोंकी जो सख्या और प्रत्यक्ष प्रमाणका जो लक्षण दिया गया है, वह उक्त

१. न्यायदर्शन २.१.१-३ तथा नागार्जुनकी विप्रहव्यावर्तनी, योगाचार-भूमिशस्त्र और प्रकरणार्थवाचा। (देखो 'Buddhist Logic before Dinnaga' ज० रो० ए० सो०, जुलाई १९२९, पृ० ४५७।)

२. यह सम्पूर्ण वेदवादद्वात्रिंशिका शुद्ध करके 'भारतीय विद्या' वर्ष ३, अंक १ में छपी है और इसी नामसे अलग पुस्तिकाके रूपमें गुजराती अनुवाद तथा वेद एवं उपनिषदोंके साथ तुलना करके विवेचनके साथ भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित भी की गयी है।

वत्तीसीमे नहीं है।^१ बौद्धदर्शनका वर्णन देखनेपर ऐसा मालूम होता है कि उसके पीछे नागार्जुनकी मध्यमककारिका जैसे शून्यवादी ग्रन्थोंके अतिरिक्त दूसरे विज्ञानवादी ग्रन्थोंका भी मार्मिक अभ्यास है।

दसवी वत्तीसीमे जिनोपदेशका वर्णन है। इसमे ससारके कारणभूत आर्त और रौद्र ध्यानका तथा मोक्षके कारणभूत धर्म और शुक्ल ध्यानका वर्णन है, परन्तु उस वर्णनमे श्वेताश्वतर^२ और गीतामे^३ प्रसिद्ध सर्वयोगिसाधारण योगकी स्थान, आसन, जप, प्राणायाम इत्यादि प्रक्रियाका दिग्दर्शन है और योगसूत्रप्रसिद्ध^४ अपर और पर वैराग्यका स्पष्ट पृथक्करण है। यह वर्णन है तो संक्षिप्त, पर उसमें बहुत गहराई भासित होती है।

सोलहवी वत्तीसी, उसमे छपे हुए नामके अनुसार, नियतिवादके विषयमे है, परन्तु उसमे क्या वस्तु है, यह अशुद्धिके कारण समझमे नहीं आती। इसके अतिरिक्त उसमे नियति शब्द भी नहीं दिखायी पड़ता, जब कि तीसरी वत्तीसीमे नियति शब्दका प्रयोग हुआ है, फिर भी दो बातें तो निश्चित प्रतीत होती हैं कि उसमे किसी दार्शनिक विषयकी चर्चा है और वह बहुत गूढ़ तथा तार्किक विश्लेषण-वाली है।

सत्रहवीसे लेकर बीसवीतककी चार वत्तीसियोंको, अत्यन्त अशुद्ध होनेसे, पूर्ण और यथार्थ रूपसे समझना कठिन कार्य है, फिर भी ये चारो जैन दर्शनके विषयमे हैं, इस बारेमें तो कोई शका नहीं रहती। सत्रहवी और अठारहवीके अन्तमे कोई नाम छपा नहीं है, जब कि उन्नीसवीके अन्तमे दृष्टिप्रबोध और बीसवीके अन्तमे निश्चयद्वान्निशिका नाम छपा है। बार-बार और बहुत परिश्रम-पूर्वक देखनेसे इन वत्तीसियोंके विषयमे जो कुछ ख्याल आ सका है, उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

सत्रहवी वत्तीसीमे आस्रव और सवर ये जैन पारिभाषिक शब्द आते हैं। मानो उसमे व्यवहार और निश्चयसे आस्रव एवं सवर तत्त्वको निरूपण किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। ससारके कारणका तथा मोक्षके उपायका निरूपण ही इस वत्तीसीका विषय ज्ञात होता है।

१. तुलना करो : ईश्वरकृष्णकारिका ३ और वत्तीसी १३.५।

२. वत्तीसी १०.२३-४।

३. योगदर्शन १.१५-६ यशोविजयजीकी वृत्तिके साथ वत्तीसी १.२१।

४. वत्तीसी ३.८।

- आर्य अर्थात् श्रेष्ठमति पुरुष दोषोको छोड़ते हैं, जब कि पृथग्जन अर्थात् साधारण मनुष्य घर आदि (स्वजन परिवार) का त्याग करके निकल जाते हैं, परन्तु परोपकारमग्न पुरुष तो इन दोनोंका अनुसरण करते हैं (१६)
इस उक्तिमें कर्ताने व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारकी प्रव्रज्याका समन्वय किया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें प्रयुक्त 'पृथग्जन' शब्द बौद्ध ग्रन्थोंमें अधिक प्रसिद्ध है, साथ ही इसमें परोपकारी सन्तका विशिष्ट लक्षण भी सूचित किया गया है।

कर्मका समान या असमान फल जिस निमित्तके समन्वयपर अवलम्बित है, उस निमित्तका ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए, क्योंकि वस्तुको जाननेवाला वादमे सन्ताप प्राप्त नहीं करता। जीव मनसे ही विषयोको भोगता है और मनसे ही छोड़ता है। ऐसा होनेसे कर्मका निमित्त शरीरमें है या बाहर है, बहुत है या थोड़ा है - यह किस तरह जाना जाय ? (१७-८) ऐसा कहकर ग्रन्थ-कर्ता 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो' इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करते प्रतीत होते हैं।

ममत्वसे अहंकार नहीं, परन्तु अहंकारसे ममत्व माना जाता है, क्योंकि सकल्प अर्थात् अहंकारके बिना ममता सम्भव ही नहीं है। अतः अहंकारमें ही अशिव यानी दुःखका मूल है। (१९) ऐसा कहकर सिद्धसेन अहंकारको ही सभी दोषोका मूल सूचित करते हैं और उसके उपायके रूपमें 'नाहमस्मीति'- मैं नहीं हूँ, ऐसी बौद्ध भावनाको लेकर और उसे जैन दृष्टिसे अपनाने हुए कहते हैं कि यह भावना अभावात्मक और भावात्मक उभय रूप है। ऐसा कहकर कर्ता सुख-दुःखके स्वरूपका वर्णन करते हैं। वे ज्ञान और क्रिया दोनोंकी सम्मिलित भावसे सार्यकता बताते हुए कहते हैं कि जैसे रोगका मात्र ज्ञान रोगकी शान्ति नहीं कर सकता, वैसे ही आचरणशून्य ज्ञानके बारेमें भी समझना चाहिए। (२७)

अठारहवीं वत्तीसीमें अनुशासन (शिक्षा) करते समय कित-कितनी बातों-पर ध्यान रखना चाहिए, यह बतलानेके लिए सिद्धसेनने देश, काल, परम्परा, आचार, वय और प्रकृतिकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। (१ !)

शासन करनेवालेमें कितने गुण होने चाहिए, यह बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि जिसमें अन्दरकी और बाहरकी शुद्धि हो, जिसमें सौम्यता हो जिसमें तेज और कर्षणा दोनों हो, जो अपने और दूसरोके प्रयोजनको जाननेके साथ-ही-साथ वाक्पटु भी हो तथा जिसने आत्माके ऊपर काबू प्राप्त किया हो, वही शासक हो सकता है। (२)

उन्होंने शैक्ष अर्थात् अध्येताके प्रकार बताते हुए कहा है कि कोई स्वतः उत्पन्न सन्देहसे युक्त होता है, तो कोई दूसरेके प्रयत्नसे सन्देहवाला होता है। किसीमें ग्रन्थ - शब्द धारण करनेकी शक्ति होती है, तो किसीमें अर्थधारणकी शक्ति होती है, जब कि दूसरे किसीमें ग्रन्थ और अर्थ दोनों धारण करनेकी शक्ति होती है। (५)

आचारका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि गिण्ण्योका आचार उनके प्रयोजनके अनुसार अनेक प्रकारका होता है..... (६) इसके बाद आनेवाले गीतार्थ और आसेवनपरिहार ये दो शब्द (१४-५) खास जैन परम्पराके ही बोधक हैं।

उन्नीसवीं वत्तीसीके प्रारम्भमें जैनदर्शनप्रसिद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यका मोक्ष-मार्गके रूपमें निर्देश है। (१) इसके पश्चात् सूक्ष्म ज्ञानमीमासा है। द्रव्यमीमासा भी इसमें यथाप्रसंग आयी है, जिसमें जैनशास्त्रप्रसिद्ध छ द्रव्योमेसे अन्तमें जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योंके अस्तित्वके ऊपर भार दिया गया हो, ऐसा आपाततः भान होता है। (२४-६) इसमें द्रव्यपर्याय, व्यजनपर्याय, सकलादेश, विकलादेश (३१) ये जैन पारिभाषिक शब्द हैं ही।

बीसवीं वत्तीसीमें महावीरका शासन कैसा है, यह बताते हुए सिद्धसेन कहते हैं कि जिसमें द्रव्य और पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका निरूपण हो वह सब वर्धमानका ही शासन है। (१)

इसमें उन्होंने विवाद करते हुए वादियोंको लक्ष्यमें रखकर कहा है कि सभी वादियोंके वक्तव्य-विषयमें प्रमाण तो होते ही हैं, फिर भी वे बेचारे नाम और आशय-भेदसे विवाद किया करते हैं। (४)

उन्होंने दोषोकी शान्तिके उपाय सूचित करते हुए कहा है कि जिन ज्ञान अर्थवां आचारसे दोष दूर हो, वे उनकी शान्तिके उपाय हैं। (६)

बँधनेके और छूटनेके प्रकार बताते हुए वे कहते हैं कि ससारके और मोक्षकी प्राप्तिके उपाय समान ही हैं, न कम न अधिक। सातवे श्लोकमें सन्मतिके तीसरे काण्डकी गा० ४८-९ के जैसा ही बौद्ध, साख्य और कणाद मतका निर्देश है। वारहवेंमें सकलादेश और विकलादेश शब्द भी आते हैं।

चाईसवीं छात्रिशिकामें प्रमाणकी चर्चा शुरू करके अन्तमें उसमें परार्थ-नुमानकीही विस्तारसे चर्चा आती है। उसमें जैन दृष्टिसे पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, हेतुभास इत्यादिके लक्षण हैं और अन्तमें उसमें नयवाद और अनेकान्तवादके बीचका अन्तर बहुत ही स्पष्ट रूपसे बताया गया है। ऐसा मालूम होता है कि

इस ग्रन्थकी रचना जैन न्यायका अभ्यास करनेके लिए की गयी होगी । यह न्यायावतार ग्रन्थ गुजराती विवेचन और प्रस्तावनाके साथ अलग भी प्रकाशित हो चुका है ।^१

उपलब्ध वत्तीसियोंमें अनेक स्थानोंपर ऐसे विचार हैं, जो सन्मतिके साथ बराबर मिलते-जुलते हैं^२ ।

गुल्लाल और बेचरदास

१. 'जैन' साहित्य संशोधक खण्ड ३ अंक १ ।

२. उदाहरणार्थ

वत्तीसी

सन्मति

१ २०

३.५०

३.८

३.५३

६.२८

३.६५

१ २७ और २९

३.६८

संपूर्ति

‘अनेकान्त’ पत्रके ‘सन्मति-सिद्धसेनाक’ (नवम्बर-दिसम्बर, १९४९, किरण ११-१२) में हमारे उन कतिपय मन्तव्योको समालोचना है, जो मन्तव्य हमने सिद्धसेन दिवाकर, उनके सन्मति-तर्क, सन्मतिके व्याख्याकार मल्लवादी तथा सिद्धमेनको द्वार्त्रिगिकाएँ इत्यादि मुद्दोपर सन्मति-तर्कके गुजराती विवेचनवाले सस्करणकी प्रस्तावनामें प्रकट किये थे। अब उसी गुजराती विवेचन तथा प्रस्तावनाका आवश्यक सशोषनके साथ हिन्दी रूपान्तर प्रकट किया जा रहा है। अतएव उक्त ‘सन्मति-सिद्धसेनाक’ के खास लेखमें वयोवृद्ध मुस्तार श्री जुगल-किशोरजीने हमारे मन्तव्योके ऊपर जो-जो आपत्ति उठायी है अथवा जो-जो सन्देह प्रकट किया है, उस सबका, यथासम्भव संक्षेपमें, यहाँ जवाब देना प्रस्तुत एवं आवश्यक है।

सिद्धसेनका समय और उनका सन्मतितर्क।

पहले हम सिद्धसेनके समय तथा उनकी कृति सन्मति-तर्कके बारेमें आजतकके अव्ययन-चिन्तनके फलस्वरूप जिस परिपक्व निश्चयपर पहुँचे हैं, उसे सप्रमाण संक्षेपमें लिखते हैं।

सिद्धसेनके सन्मति-तर्कके व्याख्याकार तार्किक मल्लवादी हुए हैं। मल्लवादीका समय, जो परम्पराप्राप्त है वह, है वि० स० ४१४ वाला उल्लेख। इस उल्लेखके साथ किसी भी प्रमाणका विरोध नहीं आता, प्रत्युत मल्लवादीके विक्रमीय पचम शताब्दी पूर्वार्धके समयके साथ पूरी तरहसे मेल खानेवाले अनेक सवादी प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे कि, मल्लवादीकी स्वोपज्ञ नयचक्रवृत्तिमें दिङ्मनागतकके ही बौद्ध विद्वानों तथा उनकी कृतियोंके निर्देश हैं, इतना ही नहीं, बल्कि बौद्धेतर दर्शनोकी अनेक परम्पराओंके जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका मल्लवादीने सूचन या निर्देश किया है, उनमेंसे एक भी विक्रमीय पचम शताब्दीसे वादका नहीं है। मल्लवादीकी स्वोपज्ञवृत्तिके विस्तृत टीकाकार एवं मल्लवादीके ही वृत्तिगत सक्षिप्त निर्देशोको विस्तारसे अवतरणपूर्वक दरसानेवाले सिंहगणिकमाश्रमणकी न्यायागमानुसारिणी टीकामें भी दिङ्मनागके समयतकमें होनेवाले ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका सूचन है। जिस बौद्ध परम्पराके साथ मल्लवादीका खास सघर्ष हुआ था, उसके प्रखर तार्किक धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थका या उनके नामका उल्लेख नहीं और धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती दिङ्मनागका ही ‘विद्वन्मन्य अद्यतन’ विशेषणसे उल्लेख है। यह असन्दिग्ध रूपसे

सूचित करता है कि मल्लवादी और उनके टीकाकार सिंहगणिकमाश्रमणके सम्मुख दिङ्नागसे उत्तरवर्ती किसी धर्मकीर्ति जैसे प्रखर तार्किकका साहित्य न था। सिंहगणिकमाश्रमणने कुमारिलका सूचन भी कही नहीं किया है, जब कि वैदिक पूर्वमीमांसाके मन्तव्योके वर्णन-प्रसंगमें कुमारिल जैसे धुरन्धर पूर्वपक्षीका उल्लेख आना क्रमप्राप्त है।

इम विचारसरणीसे मुनि श्री जम्बूविजयजीने^१ तथा प० श्री दलसुख मालवणियांने^२ अपने-अपने लेखोंमें मल्लवादीका अस्तित्व-समय विक्रमीय पचम शताब्दीका पूर्वार्ध स्थिर किया है, जैसा कि हमने बहुत वर्षोंके पहले ही सन्मतिकी गुजराती प्रस्तावनामें लिखा था।

मल्लवादी सन्मतिके वृत्तिकार हैं और उन्होंने अपनी नयचक्रपरकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें सन्मतिकी गाथा भी उद्धृत की है।^३ सन्मति सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है। इसलिए सिद्धसेन दिवाकरका समय विक्रमकी चौथी शताब्दीका उत्तरार्ध और पाँचवी शताब्दीका पूर्वार्ध, जो हमने पहले सन्मतिकी गुजराती प्रस्तावनामें सूचित किया था वह, निर्वाध है।

प० श्री दलसुख मालवणियांने अपने 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' के सत्करण (सिधो सिरीज) में 'न्यायावतारकी तुलना' शीर्षक प्रथम परिशिष्टमें जो न्यायो-

१. देखो 'आत्मानन्द प्रकाश'में प्रकाशित लेख (१) 'श्री द्वादशारनयचक्र : महाशास्त्र' के अन्तर्गत 'आ० श्री मल्लवादी क्षमाश्रमणनो समय' (पृ० १८८ से, पृ० ४५, अ० १०, जून १९४८); (२) 'नयचक्र ग्रन्थ अने बौद्ध साहित्य' (पृ० ९ से, पृ० ४९, अं० १, १५ अगस्त, १९५१ तथा अं० २, पृ० १८, १५ सितम्बर, १९५१) ।

२. देखो 'राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ' में 'आचार्य मल्लवादीका नयचक्र' नामक लेख, पृ० २१०; तथा प० श्री दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित 'धर्मोत्तर-प्रदीप' (प्रकाशक : काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन-संस्था) की प्रस्तावनामें पृ० ५४ पर 'मल्लवादीकृत धर्मोत्तरदिप्पण ।'

३. देखो मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित सवृत्तिक नयचक्र, पृ० ३५ । वह गाथा इस प्रकार है

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा ।

ते पुण अदिदंसमओ विभजइ सव्वे व अलिं वा ॥ १.२८ ॥

वतारकी अनेक बौद्ध ग्रन्थोंके साथ विस्तृत एव मार्मिक तुलना की है, उस तुलनापर अगर कोई भी गम्भीर दार्शनिक विचार करेगा, तो उसे न्यायावतारका दिङ्मागके प्रमाण-ग्रन्थोंके साथ आन्तरिक सम्बन्ध विदित हुए बिना न रहेगा।

एक बात और भी महत्त्वकी है। नयचक्रशास्त्र रचनेका क्या प्रयोजन है, इसको स्पष्ट करते हुए स्वोपज्ञ नयचक्रवृत्तिके व्याख्याकार सिंहगणिकमाश्रमणने कहा है कि 'सन्मति', 'नयावतार' जैसे ग्रन्थ तथा 'सप्तशतारनयचक्र' जैसा आर्ष अध्ययन ग्रन्थ पूर्वाचार्यविरचित रहे, फिर 'द्वादशारनयचक्र' रचनेका प्रयोजन क्या है? जवाबमें मल्लवादीके अभिप्रायको सिंहगणिकमाश्रमणने इस प्रकार प्रकट किया है कि वे पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थ विस्तृत हैं, अतएव विस्तररश्चि नहीं रखनेवाले जिज्ञासुओंको सक्षेपमें नय-विषयक ज्ञान करानेके लिए मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र रचा है।^१ सिंहगणिकमाश्रमणके इस कथनमें ऐतिहासिक महत्त्वकी बात यह है कि मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र रचा, तब सन्मति और नयावतार ही नहीं, बल्कि सप्तशतारनयचक्र जैसा आर्ष अध्ययन भी मौजूद था।

सिंहगणिकमाश्रमण कुमारिल और धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती तो हैं ही, पर श्री जिनमद्भगणिकमाश्रमणके पूर्ववर्ती भी सम्भवतः जान पड़ते हैं। अतएव मल्लवादीका समय विक्रमीय पाँचवीं शताब्दी माननेमें न तो कोई बाधक है और न कोई असंगति। श्रीयुत मुस्तारजीको मल्लवादीके समयके बारेमें जो भ्रम हुआ है, उसका कारण दो मल्लवादियोंका एकीकरण है। न्यायविन्दुकी धर्मोत्तरीय वृत्तिके टिप्पणकार मल्लवादी नयचक्रके रचयिता मल्लवादीसे भिन्न और बहुत पीछेके हैं। इस तथ्यको प० श्री दलसुख मालवणियाने काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पटनासे प्रकाशित 'धर्मोत्तरप्रदीप' की प्रस्तावनाके पृ० ५५ पर स्पष्ट रूपसे दर्साया है।

१. नयचक्रवृत्तिके अन्तर्गत: "अधुना तु शास्त्रप्रयोजनमुच्यते सत्त्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु सन्मतिनयावतारादिषु नयशास्त्रेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येक-शतसंख्यप्रभेदात्मकसप्तशतारनयचक्राध्ययनानुसारिषु तस्मिंश्च आर्षे सप्तशतारनयचक्राध्ययने च सत्यपि द्वादशारनयचक्रोद्धरणं विस्तरग्रन्थमीरुन् सक्षेपाभि-वाञ्छितः शिक्षकजनाननुग्रहीतुं 'कथं नामाल्पीयसा कालेन नयचक्रमधीयेरन् इमे सम्प्रदृष्टयः' इत्यनयानुक्रम्यया संक्षिप्तग्रन्थं वक्ष्यमिदं नयचक्रशास्त्रं श्रीमच्छ्वेत-पटमल्लवादिकमाश्रमणेन विहितं...।"

सन्मति-तर्ककी रचनाका आधार

सिद्धसेनने सन्मतितर्ककी रचना श्वेताम्बरीय परम्परामें आजतक सर्वसम्मत आगम-ग्रन्थोंके आधारपर एव आगमिक परिभाषाका अवलम्बन लेकर की है। यद्यत् सन्मतिके तीनों काण्डोंमें चर्चित विषयक्रम एव प्रयुक्त परिभाषासे निःसन्देह जानी जा सकती है। उदाहरणार्थ पहले काण्डमें जहाँ भंगोका वर्णन है, वहाँ 'भगवतीसूत्र' गत आगमिक परिभाषा एव आगमिक क्रमका उपयोग किया है, जैसा कि वाचक उमास्वातिने 'अपितानपितसिद्धे' (तत्त्वार्थ ५ ३१) सूत्रके भाष्यमें किया है। वाचक उमास्वाति अपने दीक्षागुरुको 'एकादशांगवित्' कहते हैं। इसी तरह सिद्धसेन नयकाण्डके अन्तमें 'एगे आया' इत्यादि स्थानागसूत्रगत पाठको अवलम्बित कर अपना विधान करते हैं। दूसरे काण्डमें सिद्धसेनने अपना उपयोगाभेदवाद स्थापित करनेके लिए जिस-जिस आगमिक सूत्रको लेकर आलोचना की है, वे सब सूत्र 'पन्नवणा' और 'भगवती' के हैं। तीसरे काण्डमें सिद्धसेनने गुण-

१. देखो सिंधी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' की प्रस्तावनामें 'स्याद्वादके भंगोका प्राचीन रूप' (पृ० ४४) ।

तुलना करो 'सन्मतितर्क' का० १, गा० ३४ ४१ तथा तत्त्वार्थाधिगम-सूत्रके अ० ५ सू० ३१ (अपितानपितसिद्धेः) का स्वोपज्ञ भाष्य ।

२ भाष्यके अन्तकी प्रशस्तिमें

शिष्येण धोषनन्दसमणस्यैकादशांगविदः ॥ १ ॥

३. एव 'एगे आया एगे वडे य होइ किरिया य ।' सन्मतितर्क, १.४९ इसके साथ तुलनाके लिए देखो 'एगे आया । एगे वडे । एगा किरिया । स्थाना० सू० २-३-४ ।

४. सन्मतिकी गाथा इस प्रकार है—

केई भणति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति ।

सुत्तमवलम्बमाणा तित्थयरासायणाभीरु ॥ २.४ ॥

पन्नवणाका पाठ इस प्रकार है

"से केणट्ठेण भत्ते ! एवं वुच्चति केवली ण इमं रयणप्पन्न पुढवि आगारेहिं ज समय जाणति नो त समय पासति, ज समय पासति नो तं समयं जाणति ?"

"गोयमा ! सागारे से नाणे भवति, अणागारे से दसणे भवति, से तेणट्ठेणं जाव णो त समयं जाणति ... ।"

प्रज्ञापना ३०, ३१९, पृ० ५३१

पर्यायिका विचार करते समय एकगुणकालक, दशगुणकालक इत्यादिका जो निर्देश किया है, वह 'भगवतीसूत्र'गत पाठ है।' और भी ऐसे आगमावलम्बी निर्देश सन्मतिमे सुलभ हैं।

जब सन्मतिकी रचना उपलब्ध सर्व श्वेताम्बरसम्मत आगमोंके आधारपर निश्चित रूपसे हुई जान पड़ती है, तब हमने सिद्धसेनका श्वेताम्बरीय रूपसे जो निर्देश किया है, उसका भाव स्पष्ट हो जाता है। मूलाचार, धवला आदि दिगम्बर ग्रन्थोमे सिद्धसेन और उनको कृतियोंमेसे उल्लेख आते हैं। उसका कारण यही है कि सन्मतितर्क और वत्तीसी जैसी सिद्धसेनको कृतियाँ बहुत प्रभावक मानी जाती रही। दोनों परंपराके ग्रन्थोमे प्रभावक आचार्योंका परस्पर निर्देश आदरसह देखा जाता है, जैसे कि समन्तभद्र, अकलक जैसोका निर्देश श्वेताम्बरीय ग्रन्थोमे है ही। सिद्धसेन उन आगमोंको व्याख्यामे मतभेद रखते हैं और कभी-कभी आगमिक पाठोमे जो सीधा अर्थ निकलता है, उससे विपरीत मान्यता भी रखते हैं, किंतु उन पाठोका स्वसम्मत अर्थ करके भी अपने मतके साथ आगमोंकी सगति दिखाते हैं, पर आगमके उन पाठोका निराकरण नहीं करते या उन्हें अमान्य नहीं करते। यह इस बातका प्रमाण है कि सिद्धसेनके लिए वे आगम प्रमाणमूल थे।

निर्युक्तिकार और क्रमवाद

श्रीयुत मुख्तारजीने मुनिश्री पुण्यविजयजीके लेखके आधारपर मान लिया है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रमकी छठी शताब्दीके हैं, परन्तु मुनिश्री पुण्यविजयजीके उसी लेखके इतर अंशपर उनका ध्यान नहीं गया। मुनिश्री पुण्यविजयजीने उसी लेखमें स्पष्ट कहा है कि विक्रमीय पांचवी सदीमे गोविन्द भिक्षु नामक

इस प्रकारके अनेक सूत्र भगवतीसूत्रके १४वें शतकके दसवें उद्देशमें तथा १८वें शतकके आठवें उद्देशमें भी आते हैं।

१. देखो सन्मतितर्कके तीसरे काण्डकी गायार्णै

जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ।

पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

जंपत्ति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणतगुणो ।

रुवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

एकगुणकालक, दशगुणकालक आदिका सूचक भगवतीसूत्रका पाठ इस प्रकार है—'एगगुणकालए दुगुणकालए' - (शत० ५, उ० ७, सू० २१७) इत्यादि ।

दूसरे एक निर्युक्तिकार हुए हैं। स्वयं श्रीपुण्यविजयजीने अपने मतका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए वृहत्कल्पके छठे भागकी प्रस्तावनामें निर्युक्तियोंकी परम्परा छठी शताब्दी पहलेसे चली आ रही थी, ऐसा स्पष्ट विधान किया है। इसीसे विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें होनेवाले अनुयोगद्वारके कर्ता श्री आर्यरक्षितसूरिने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्तिका (अनु० सू० १५५) उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अनुयोगद्वारमें कुछ गाथाएँ (अनु० सू० १५६) भी उद्धृत की हैं, जो आगे जाकर छठी शताब्दीवाले भद्रबाहुकी निर्युक्तियोंमें शामिल हुई हैं। इसके सिवा अभी जो अगस्त्यसिंहरचित दशवैकालिकचूर्णि प्राप्त हुई है, उसमें व्याख्यात अनेक निर्युक्तिगाथाएँ पाँचवीं सदीके आसपासकी हैं, क्योंकि अगस्त्यसिंह द्वारा स्वीकृत दशवैकालिकसूत्रकी वाचना उपलब्ध सर्वविदित दशवैकालिकसूत्रकी वाचनासे भिन्न है। वस्तुतः जैसे चूर्णि नामक व्याख्या-स्वरूप मात्र जिनदासगणीसे ही शुरू नहीं हुआ है, उनके पहले ही से चूर्णि-व्याख्याकी परम्परा प्रचलित रही, इसी तरह निर्युक्ति नामक व्याख्यास्वरूप भी बहुत पुराना है, जो सम्भवतः चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुतक जाता है। इसीसे आर्य-रक्षितसूरिके अनुयोगद्वारमें 'सुतफासियनिज्जुत्ति' जैसे पद आते हैं। इसीसे गोविन्दमिश्रकी निर्युक्तिका सम्भव हुआ है। छठी शताब्दीवाले भद्रबाहु अन्तिम निर्युक्तिकार हैं। उन्होंने पूर्वकालीन परम्पराप्राप्त निर्युक्ति गाथाओंको अपनी नयी रचनामें सम्मिलित कर लिया है। इतना ही छठी शताब्दीकी निर्युक्ति रचनाका अर्थ समझना चाहिए।

अगर हम दुर्जनतुष्टि-न्यायसे सब निर्युक्तियोंको पूर्णरूपेण छठी शताब्दीकी रचना माने, तो अनुयोगद्वारगत 'निज्जुत्ति' पदका तथा अनुयोगद्वारमें आयी हुई निर्युक्तिगत गाथाओंका एव गोविन्दमिश्रकृत निर्युक्तिके प्राचीनतर विश्वस्त उल्लेखका खुलासा किसी तरह हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह भी सोचनेकी है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें प्राप्य निर्युक्तिगत गाथाएँ, शिवार्थकृत भगवती-आराधना-में प्राप्य वीसियों निर्युक्तिगत गाथाएँ एव वट्टकेरके मूलाचारमें प्राप्य शताधिक निर्युक्तिगत गाथाएँ आयी कहांसे? क्योंकि कुन्दकुन्द आदि आचार्योंको निर्युक्तिकार भद्रबाहुसे पहले माना जाता है। सच बात इतनी ही है कि निर्युक्तिकी रचना बहुत पुरानी है। उस रचना पद्धतिका सिलसिला अन्तिम भद्रबाहुके पहले-हीसे चला आ रहा था। जब एक परम्पराने मोथुरी-वाचनाके समयसे उपलब्ध आगमोंको विलकुल मानना छोड़ दिया, तब भी पूर्व परम्परासे प्राप्त निर्युक्तिके अमुक भागको समान विरासतके रूपसे जरूरतके अनुसार उसने सँभाल रखा और उसका उपयोग कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें किया।

जब निर्युक्ति केवल छठी शताब्दीके भद्रबाहुकी पूर्ण रचना नहीं है, तब निर्युक्तिके समर्थको लेकर उपयोगके क्रमवादको छठी शताब्दीके साथ जोड़ना एकागिता है।

अगर हम भगवती, पन्नवणा आदि मूल आगमोको देखे, तो स्पष्ट जान पड़ेगा कि उक्त आगमोमे ही उपयोगके क्रमवादका स्पष्ट आदिम वर्णन है। आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे निस्सन्देह युगपद् उपयोगद्वयका स्पष्ट वर्णन है; परन्तु यह विचार कितना ही पुराना क्यों न माना जाय, फिर भी यह आगमगत क्रमिक उपयोगद्वयके विचारके बाद कभी जैन परम्परामे अस्तित्वमे आया है। सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतिमे उपयोगाभेदवादका जो सबल स्थापन किया है और जो आगमिक क्रमवादी सूत्रोंको अपने पक्षमे घटाया है, वह सूचित करता है कि सिद्धसेन उपलब्ध आगमोको प्रमाणरूपसे मानते रहे। इसीसे उन्होंने तर्कबलसे सूत्रोंका अर्थान्तर सूचित किया, न कि सूत्रोंका अस्वीकार या अप्रामाण्य।

सिद्धसेन और उनकी परिस्थिति

अनेकान्तदृष्टिमूलक सत्यके चाहक एव शास्त्रोके सतत व्यासगी श्रियुक्त मुस्तारजीके द्वारा वत्तीसियोंके कुछ पद्योका अर्थ करनेमे जाने-अनजाने जो विपर्यय हुआ है, उसे भी यहाँ संक्षेपमे दर्शा देना क्रम एव न्यायप्राप्त है।

पचम द्वात्रिंशिकाके छठे पद्यमे स्तुतिकारने भगवान् महावीरको 'यशोदाप्रिय' विशेषणसे सम्बोधित किया है। इसपर श्री मुस्तारजी कहते हैं कि श्वेताम्बरी परम्परामे भी महावीरका विवाह मान्य नहीं है, फिर स्तुतिकार सिद्धसेन श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार महावीरको 'यशोदाप्रिय' कैसे कह सकते हैं। अच्छा, तो फिर इस स्तुतिकारने 'यशोदाप्रिय' कैसे कहा, क्योंकि आपके मतसे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे महावीर कुमार अर्थात् अविवाहित ही है। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि स्तुतिकार महावीरको खामखाह झूठे ही 'यशोदाप्रिय' विशेषणसे सम्बोधित करते हैं? अगर मुस्तारजी श्वेताम्बर परम्परामे प्रचलित महावीरके विवाहको मान्यतावाले उल्लेखोपर भी ध्यान देते, जो ऐतिहासिक विद्वान् प० कल्याणविजयीकी 'श्रमण भगवान् महावीर' नामक पुस्तक (पृ० १२) में तथा प० श्री दलसुख मालवणियाद्वारा सम्पादित स्थानाग-समवा-यागके टिप्पणो (पृ० ३२९-३० और ७३५-८) में निर्दिष्ट है, तो उस पद्यके अर्थमे उन्हें कोई विरोध नहीं दिखाई देता।

दूसरी द्वात्रिंशिकाके तीसरे पद्यके अर्थमे विरोध बतलानेके लिए उन्होंने

आगमिक परम्पराको शायद जान-बूझकर ही ढाल दिया है। भगवतीसूत्रमे चमरेन्द्रके द्वारा भगवान् महावीरकी शरण लिये जानेका वर्णन है। उसे परवक्तव्य कहना परम्परागत अर्थका विपर्यास नहीं तो क्या है? कवि जब स्तुति करता है, तब वह स्तुत्य व्यक्तिका उत्कर्ष बतलानेके लिए परम्परागत चमत्कारों और मान्यताओंको भी कवित्वमय शैलीसे प्रतिपादित करता है।

दूसरी द्वात्रिंशिकाके ५२वें पद्यका जो अर्थविपर्यास किया है, उसे पढ़ करके तो शायद ही कोई विचारक मुस्तारसाहबके विचारको मान ले। वे कहते हैं कि 'स्त्रीचेतसः' अर्थात् स्त्री-जैसा चित्त रखनेवाले पुरुष भी महावीरके मार्गको पाकर मोहको जीत सकते हैं। यहाँ कोई भी प्रश्न कर सकता है कि जब स्त्री-जैसे चित्तवाले पुरुष भी महावीरके मार्गपर चलकर मोक्ष पा सकते हैं, तो फिर पुरुष-जैसा पराक्रमी चित्त रखनेवाली स्त्रियाँ मोक्ष क्यों नहीं पा सकती? ; दरअसलमें मुस्तारजीके मतमें दिगम्बरीय परम्परानुसारी स्त्रीजातिका मोक्षविरोधी मन्तव्य दृढमूल है। इसीके वशीभूत होकर उन्होंने 'स्त्रीचेतसः' पदका असम्बद्ध एवं दुराकृष्ट अर्थ किया है और कहा है कि स्तुतिकारका यह पद्य दिगम्बरीय परम्पराके अनुकूल है। कोई भी व्यंग्यविशारद काव्यज्ञ उस काल्पनिक अर्थको एकक्षणभरके लिए भी मान नहीं सकता। उसका सीधा, तात्त्विक एवं सर्वस्वीकार्य अर्थ तो इतना ही है कि—हे भगवन्! तुम्हारे मार्गपर स्थिर पुरुष स्त्री-परिवारमें रत अर्थात् कामुक हो, तब भी शीघ्र मोहविजयी होते हैं। स्तुतिकारका तात्पर्य पुरुषकी तरह स्त्रीके लिए भी मोहजय सूचित करनेमें है। जैसे स्त्री-आसक्त पुरुष, वैसे पुरुष-आसक्त स्त्री भी वीतरागमार्गके आलम्बनसे मोहजित हो सकती है।

प्रथम द्वात्रिंशिकाके ३२वें पद्यमें, द्वितीयके ३०वें पद्यमें और पचमके २१-२२वें पद्यमें 'युगपत्' पद आता है। इसे देखकर मुस्तारजी यहाँतक कल्पना करते हैं कि 'युगपत्' पद एक समयमें उपयोगद्वयके अर्थका सूचक है। श्रीमान् मुस्तारजीको ध्यानमें रखना चाहिए था कि उक्त तीनों स्थलोंमें 'युगपत्' पद केवल एक समयमें त्रैकालिक अनन्त नाना भावोंका प्रकाशन सूचित करनेके लिए प्रयुक्त हुआ है। उन स्थलोंमें न तो उपयोगक्रमकी बात है, न उपयोगद्वययोगपद्यकी बात है और न उपयोगाभेदका कोई संकेत है। सर्वज्ञत्व माननेवाले स्तुतिकारको जुदे-जुदे शब्दोंमें जुदी-जुदी भागीसे कवित्वमय शैलीमें इतना ही कहना है कि सारा सूक्ष्म-स्थूल त्रैकालिक जगत् एक ही समयमें सर्वज्ञको अवगत हो जाता है।

उन्नीसवीं द्वात्रिंशिकाके प्रथम पद्यमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य तीन उपाय

मोक्षके हेतुरूपसे निर्दिष्ट है'। इस कथनमें विरोध बतलानेके लिए श्री मुस्तारजीने जो युक्ति लड़ायी है, वह अनोखी है। वे कहते हैं कि तीन उपायोको उमास्वातिके तत्त्वार्थगत मोक्षमार्गसूत्रकी तरह एकवचनसे निर्दिष्ट क्यों नहीं किया ? तीन उपायोको 'शिवहेतव' ऐसे बहुवचनमें निर्दिष्ट करना शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि तत्त्वार्थमें 'मोक्षमार्गः' इस एकवचनसे निर्दिष्ट है एवं अन्य द्वात्रिंशिकाओंमें क्रिया और ज्ञान दोनोंको मोक्षका हेतु कहा है, तब इस जगह एक ही स्तुतिकार तीन उपायोका कथन क्यों करे ? यह नहीं कि श्री मुस्तारजी उक्त बहुवचनान्त प्रयोगको एव क्रिया-ज्ञान-युग्मके स्थानमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य त्रिकके प्रयोगका मर्म समझ न सके हो, पर उन्हें येन केन प्रकारेण विरोध दिखलाना है। इसीमें वे वैयाकरणिय नियम तथा अपेक्षाभेदकी ओर बिना ध्यान दिये लिख गये, ऐसा लगता है। वैयाकरणोंकी परिपाटी है कि वे एक वस्तुमें कभी बहुवचन और कभी बहु वस्तुओंमें एकवचन तथा बहुवचनके प्रयोगको भिन्न-भिन्न तात्पर्यमें अविरुद्ध मानते आये हैं। जैन परम्परामें जिसे अपेक्षाविशेष कहते हैं उनी आश्रयको आलंकारिक, दार्शनिक आदि सभी ग्रन्थकार अपने-अपने ग्रन्थोंमें समर्थित करते रहे हैं। सामग्रीप्राप्तफलोपवायककारणता विवक्षित होतव एकवचनका प्रयोग सम्मत है और सामग्री घटक प्रत्येक कारणकी स्वरूपयोग्यकारणता विवक्षित होतव अनेकवचन विवक्षित है।

इसी पद्यके उत्तरार्धमें 'अन्योन्यप्रतिपक्षत्वात्' पाठ छपा है। छपे पाठका सीधा अर्थ करके मुस्तारजीने विरोध दर्साया है, पर वे यदि सोचते कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य तीनोंको मोक्षका कारण कहनेवाले स्तुतिकार तीनोंको परस्पर प्रतिपक्षी कैसे कह सकते हैं ? क्या स्तुतिकारको इतना भी भान न रहा कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य ये तीन उपाय परस्पर प्रतिपक्षी होकर भी एक ही मोक्षके साधक कैसे हो सकते हैं, तो उन्हें शुद्ध पाठ अवश्य सूझ जाता। वस्तुतः यहाँ 'अन्योन्याऽप्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ चाहिए।

१९वीं द्वात्रिंशिकाने 'सर्वोपयोगद्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम्' ऐसा नवम पद्यका उत्तरार्ध है। यद्यपि उस द्वात्रिंशिकामें सब पद्योंका ग्रन्थकार-विवक्षित अर्थ पूरी तरहमें अद्यापि स्पष्ट नहीं होता, उक्त नवम पद्यकी भी करीब यही स्थिति है, तथापि इसे कहनेमें कोई सकोच नहीं होता कि मुस्तारजीने जो अर्थ निकाला है

१. ज्ञानदर्शनचारित्र्याण्युपायाः शिवहेतवः ।

अन्योन्यप्र(त्याऽप्र)तिपक्षत्वाच्छ्रद्धावगमशक्तयः ॥ १९.१ ॥

वह नितान्त मिथ्या है। उस स्यानमे सब उपयोगोके द्वैविध्यको अनक्षर अर्थात् अस्थिर या अगदत (शब्दके बिना सूचित) यही हो सकता है, न कि जैसा मुस्तारजीने अनक्षरका अर्थ अविनश्वर अर्थात् नित्य किया है, वह। शायद उस पद्यमे ग्रन्थकारने प्रतिमानके अर्थावग्रह एव व्यजनावग्रह जैसे उपयोग द्वैविध्यको अस्थिर बतलाया है।^१ जो कुछ हो, पर 'अनक्षर' पदका अविनश्वर अर्थ करना यह तो निरी भ्रान्ति है। श्री मुस्तारजीने मति-श्रुत तथा अवधि-मन पर्याय ज्ञानकी अभिन्नताका विरोध सम्मति और न्यायावतारके भेद-वर्णनके साथ बतलाया है, परन्तु यह समझना चाहिए कि गम्भीर चिन्तक तार्किक शास्त्रकार जुदे-जदे ग्रन्थोमे भिन्न-भिन्न दृष्टिसे एक ही वस्तुका विविध रूपसे प्रतिपादन करता है।

समन्तभद्र

तपागच्छकी पट्टावली पन्थास श्री कल्याणविजयजीकी सम्पादित है, जिसमे 'समन्तभद्र' का उल्लेख है और जिसका समय विक्रमीय दूसरी शताब्दी उसमे आया है। पट्टावलीके इस निर्देशको देखकर मुस्तारजीने लिख दिया है कि इतिहासके विद्वान् पन्थास कल्याणविजयजी भी समन्तभद्रको दूसरी सदीका बतलाते हैं। परन्तु मुस्तारजीको उस पट्टावलीके सम्पादक कौन हैं, वे इतिहासज्ञ हैं, या मात्र परम्पराप्राप्त ग्रन्थके सम्पादक हैं, इसमे भ्रान्ति हुई है। असलमे उक्त तपागच्छपट्टावलीके अनुवादक-सम्पादक पन्थास कल्याणविजयजी हैं, पर वे इतिहासकोविद पन्थास कल्याणविजयजीसे भिन्न हैं। श्रीमान् मुस्तारजीको इतिहासकोविद पन्थास कल्याणविजयजीका कथन गिरोधार्य है, ऐसा तो उनके नामके आधारसे अपने मन्तव्यका समर्थन करनेसे सूचित होता है। अगर ऐसी दृष्टि हो, तब तो मुस्तारजीको इतिहासज्ञ पन्थास कल्याणविजयजीका 'श्रमण भगवान् महावीर' गत 'जिनकल्प-स्यविरकल्प'^२ नामक परिशिष्ट आदरके साथ पढ़ना चाहिए, जिसमे उन्होंने स्वामी समन्तभद्रको सातवी सदीका मानकर आचार्योंकी ऐतिहासिक शृंखला बतलायी है।

१. समग्र पद्य इस प्रकार है

अर्थव्यजनयोरेवमर्थस्तु स्मृतिचक्षुषोः ।

सर्वोपयोगद्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम् ॥ १९.९ ॥

२. देखो 'श्रमण भगवान् महावीर' में 'जिनकल्प और स्यविरकल्प' लेख, पृ० ३३१ से ।

मैं तो अनेक वर्षोंसे निश्चिततया मानता तथा कहता आया हूँ कि स्वामी समन्तभद्र धर्मकीर्ति और अकलक के बीच कभी भी हुए हैं। शायद वह समय ईसवी ७वीं का उत्तरार्ध और ८वीं का प्रारम्भ तक हो सकता है। मेरे इस मन्तव्य के अनेक अकोट्य प्रमाण और भी उपलब्ध हुए हैं। जैसे-जैसे बौद्ध-दर्शन के नये-नये ग्रन्थ प्रकट होने लगे हैं और जैन ग्रन्थों के साथ उनकी तुलना की जाती है, वैसे-वैसे सिद्धसेन और समन्तभद्र के समय का प्रश्न अधिकाधिक सुलझता जाता है। परन्तु यहाँ इसका विस्तार अनावश्यक है।

स्वामी समन्तभद्र पहली शताब्दी के हो या सातवीं शताब्दी के, इससे उनकी असाधारण योग्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी तरह सिद्धसेन दिवाकर विक्रमीय पंचम शताब्दी के हो या उत्तरवर्ती, तो भी उनकी योग्यता घटने-बढ़ने-वाली नहीं। हम तो समय का विचार केवल ऐतिहासिक शृंखला को ठीक से समझने के लिए करते हैं, न कि योग्यता एव महत्ता की कसौटी के तौर पर। बुद्ध और महावीर के समय में भी उनके अनेक शिष्य सामान्य कोटि के और कभी-कभी अयोग्य भी हुए ऐसा हम जानते हैं, और १९वीं-२०वीं सदी के कई स्त्री-पुरुष असाधारण बौद्धिक एव चारित्रिक योग्यतावाले हुए या हो सकते हैं, यह भी हम जानते हैं। फिर समय के पौर्वापर्य के साथ महत्ता एव साम्प्रदायिक श्रेष्ठता का आभिमानिक सम्बन्ध जोड़कर हम जान-बूझकर सत्य की उपेक्षा क्यों करें? आज जो मैं मान रहा हूँ, उसे भी बलवत्तर प्रमाणसामग्री मिलने पर छोड़ देने में मुझे सकोच के बजाय और भी प्रसन्नता होगी।

सरित्कुंज, अहमदाबाद ९

१५-१२-६१

सुखलाल

प्रथम काण्ड

असाधारण गुणोंके कथन द्वारा शासनका स्तुतिमगल

सिद्धं सिद्धत्याणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।

कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥ १ ॥

अर्थ - भवको अर्थात् राग-द्वेषको जीतनेवाले जिनोंका अरिहन्तोका शासन यानी द्वादशांग शास्त्रसिद्ध अर्थात् अपने गुणसे ही प्रतिष्ठित है, क्योंकि वह अबाधित अर्थोंका स्थान अर्थात् प्रतिपादक है, पासमें आनेवालोंके लिए अर्थात् शरणार्थियोंके लिए वह सर्वोत्तम सुखकारक है और एकान्तवादरूप मिथ्या मतोंका निराकरण करनेवाला है।

विवेचन—यहाँ शासनके चार असाधारण गुणोंका निर्देश किया गया है, १ गुणसिद्धता, २ यथार्थवस्तु-प्रतिपादकता, ३ शरणार्थीको सुखप्रदान और ४ मिथ्या मतोंकी निवारकता।

उद्देश्य वतानेके साथ-साथ प्रकरण रचनेकी प्रतिज्ञा

समयपरमत्थवित्थरविहाडजणपज्जुवासणसयत्तो ।

आगममलारहियओ जह होइ तमत्थमुत्थेसुं ॥ २ ॥

अर्थ आगमको समझनेमें गलिये बैलकी भाँति सुस्त मनवाला भी जिस अर्थका प्रतिपादन करनेसे शास्त्रके वास्तविक पदार्थोंको विस्तारसे प्रकाशित करनेवाले शास्त्रज्ञ लोगोंकी उपासना करनेके लिए तत्पर हो, उस अर्थका मैं प्रतिप्रादन करूँगा।

विवेचन - ग्रन्थकार अपनी रचनाका उद्देश्य सूचित करते हुए कहते हैं कि कई लोगोंको आगमोंका अभ्यास करनेमें रस नहीं आता और इसीलिए वे उस ओर आकर्षित नहीं होते। ऐसे लोग भी शास्त्रीय रहस्यको प्रकाशित करनेवाले श्रुतधरोकी उपासना करने और वैसे करके उनके वक्तव्योंको समझनेके लिए लालायित हो, इस दृष्टिसे प्रस्तुत प्रकरणकी रचना की जाती है।

प्रकरणके प्रतिपाद्य मुख्य विषयका निर्देश

तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी ।

द्ववट्टिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सि ॥ ३ ॥

अर्थ तीर्थकरोके वचनोकी सामान्य एव विशेषरूप राशियोंके मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है । वाकीके सब इन दोनोंके ही भेद है ।

विवेचन यहाँ तीन बातें कही गयी हैं १ ग्रन्थका मुख्य विषय, २ अन्य नयोंका मुख्य नयोमें समावेश, और ३ मुख्यनयों का स्वरूप ।

समग्र ग्रन्थमें भिन्न-भिन्न अनेक विषयोंकी चर्चा आती है, परन्तु वह तो प्रसंग-शात् । मुख्य प्रतिपादन तो अनेकान्तदृष्टिका ही है ।

अनेकान्तका स्पष्टीकरण नयोंके निरूपणसे ही हो सकता है । नय अनेक है, परन्तु उन सबका समावेश संक्षेपमें दो नयोंमें हो जाता है । वे मुख्य दो नय हैं १ द्रव्यास्तिक, और २ पर्यायास्तिक ।

द्रव्यार्थिक नय यानी अभेदगामी दृष्टि और पर्यायास्तिक नय यानी भेदगामी दृष्टि । मनुष्य जब कुछ भी सोचता या कहता है, तब या तो अभेदकी ओर झुककर या फिर भेदकी ओर झुककर । अभेदकी ओर झुककर किये गये विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तुको 'संग्रह' या 'सामान्य' कहते हैं । भेदकी ओर झुककर किये गये विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तुको 'विशेष' कहते हैं । अवान्तर दृष्टिसे सामान्य और विशेषके चढते-उतरते क्रमसे चाहे जितने भेद किये जायँ, पर वे सभी भेद संक्षेपमें दो राशियोंमें समाविष्ट होते हैं । वे ही दो राशियाँ अनुक्रमसे संग्रहप्रस्तार और विशेषप्रस्तार हैं । शास्त्रके वचन मुख्य रूपसे इन दो ही राशियोंमें आ जाते हैं, क्योंकि उनमेंसे कुछ सामान्यबोधक होते हैं, तो कुछ विशेषबोधक । इन दो राशियोंमें समाविष्ट होनेवाले सभी शास्त्रीय वचनोंकी प्रेरक दृष्टि भी मुख्य रूपसे दो है १ सामान्य वचनराशिकी प्रेरक अभेदगामी दृष्टि द्रव्यास्तिक नय है, और २ विशेष वचनराशिकी प्रेरक भेदगामी दृष्टि पर्यायास्तिक नय है । ये दोनों नय ही समग्र विचार अथवा विचारजनित समग्र शास्त्र-वाक्यके आधारभूत होनेसे इन्हें शास्त्रके मूल वक्ता कहा गया है । इन दो नयोंके निरूपण और इनके समन्वय में ही अनेकान्तवादका पर्यवसान होता है, अतः अनेकान्तवादके निरूपणके आधाररूप इन दो नयोंकी ही चर्चा सर्वप्रथम यहाँ उठायी गयी है ।

द्रव्याधिक नयके भेद

द्वद्विधनयपयडी सुद्धा संग्रहपरूपणाविसम्भो ।

पडिरुवे पुण वयणत्यनिच्छम्भो तररा ववहारो ॥ ४ ॥

अर्थ 'द्रव्यास्तिक नयकी शुद्ध प्रकृति संग्रहकी प्ररूपणाका विषय है और प्रत्येक वस्तुके बारेमें होनेवाला शब्दार्थ-निश्चय तो संग्रहका व्यवहार है ।

विवेचन यहाँ दो बातें कही गयी हैं १ द्रव्यास्तिकके भेद, और २ उनका परस्पर सम्बन्ध । नैगमके अतिरिक्त वाक्यके छ मैसे संग्रह और व्यवहार ये प्रथम दो नय द्रव्यास्तिक नयके भेद हैं ।

जगत् किसी भी प्रकारके ऐक्यसे रहित केवल, अलग-अलग कडियोंकी भाँति, भेदरूप भी नहीं है और तनिक भी भेदके स्पर्शसे रहित अखण्ड अभेदरूप भी नहीं है, परन्तु उसमें भेद और अभेद दोनोंका अनुभव होता है । जब दृष्टि वस्तुओंके पारस्परिक भेदका परित्याग कर केवल उनके अभेदका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होती है, तब उसे सब कुछ सिर्फ सत् रूप भासित होता है । सत्-ग्राहक दृष्टि चाहे जितनी विशाल हो, परन्तु लेना-देना आदि लोक-व्यवहार तो भेदके कारण ही होता है । इससे जब कोई भी व्यवहार करना होता है, तब दृष्टि कुछ भेदकी तरफ झुकती है, और पहले ग्रहण किये हुए सत् रूप अखण्ड तत्त्वके, प्रयोजनके अनुसार, जीव, अजीव आदि भेदोंका अवलम्बन लेती है । यहाँ सत्तारूप तत्त्वको अखण्ड-रूपसे ग्रहण करनेवाली प्रथम दृष्टि संग्रह नय है । यही शुद्ध द्रव्यास्तिक नय है । और सत्ताको जीव, अजीव आदि रूपसे खण्डित करके उसके द्वारा व्यवहार चलानेका प्रयत्न करनेवाली परिमित अभेदस्पर्शी दूसरी दृष्टि व्यवहार नय है । व्यवहार परिमित होनेसे अपरिमित संग्रहका ही अंश है । इसलिए यद्यपि वह शुद्ध द्रव्यास्तिकका एक परिमित खण्ड है, फिर भी संग्रह और व्यवहार इन दोनोंको द्रव्यास्तिकनयके अनुक्रमसे शुद्ध-अपरिमित और अशुद्ध-परिमित अंश कह सकते हैं । ऋजुसूत्रके भेद

मूलणिमेणं पज्जवणयररा उज्जुसुयवयणविच्छेदो ।

तररा उ सद्दाईआ साहपसाहा सुहुममेया ॥ ५ ॥

१. प्रस्तुत ४, ५ और ६ गाथाके साथ विशेषावश्यकभाव्यकी ७५वीं गाथाकी तुलना करो ।

अर्थ ऋजुसूत्र नयका अर्थात् तदनुसारी जो वचन-विभाग वह पर्यायनयका मूल आधार है, और शब्द आदि नय तो उस ऋजुसूत्रकी ही उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेदवाली शाखा-प्रशाखाएँ हैं।

विवेचन यहाँ दो बातें कही गयी हैं : १ पर्यायास्तिकके भेद और २ उनका परस्पर सम्बन्ध । सग्रह और व्यवहारके वादके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवम्भूत इन चार नयोंको पर्यायास्तिकके भेद कहा है ।

किसी भी सामान्य तत्त्वका अवान्तर जाति या गुण आदिकी विशेषताओंको लेकर विभाग किया जा सकता है, परंतु जबतक उस विभागमें कालकृत भेदका तत्त्व नहीं आता तबतक वे सब विभाग व्यवहार नयकी कोटिमें रखे जाते हैं । कालकृत भेदका अवलम्बन लेकर वस्तुविभागका आरम्भ होते ही ऋजुसूत्र नय माना जाता है और वहीसे पर्यायास्तिकका आरम्भ समझा जाता है । इसीसे यहाँ पर ऋजुसूत्र नयको पर्यायास्तिक नयका मूल आधार कहा है । वादके शब्द आदि जो तीन नय हैं वे यद्यपि ऋजुसूत्र नयका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होनेसे उसीके भेद हैं, तथापि ऋजुसूत्र आदि चारो नय पर्यायास्तिकके प्रकार माने जा सकते हैं ।

जो दृष्टि तत्त्वको केवल वर्तमान काल तक ही मर्यादित मानती है और भूत एव भविष्यकालको कार्यके असावक मानकर उनका स्वीकार नहीं करती ऐसी क्षणिक दृष्टि ऋजुसूत्र नय कहलाती है । इस दृष्टि द्वारा मान्य वर्तमानकालीन तत्त्वमें भी जो दृष्टि लिंग और पुरुष आदिके भेदसे भेदकी कल्पना करती है वह शब्द नय है । शब्द नय द्वारा मान्य समान लिंग, वचन आदिवाले अनेक शब्दोंके एक अर्थमें व्युत्पत्तिके भेदसे पर्यायके भेदसे जो दृष्टि अर्थभेदकी परिकल्पना करती है वह समभिरूढ नय है । समभिरूढ नय द्वारा स्वीकृत एक पर्याय शब्दके एक अर्थमें भी जो दृष्टि क्रियाकाल तक ही अर्थतत्त्व मानती है और क्रियाशून्य कालमें नहीं, उसे एवम्भूत नय कहते हैं । इस प्रकारका चारो नयोंका स्वरूप है । इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द आदि तीन नय मात्र वर्तमानकालस्पर्शी ऋजुसूत्र नयके आधार पर उत्तरोत्तर सूक्ष्म विशेषताओंको लेकर प्रवृत्त होते हैं, और इसीलिए वे सब उसीके विस्तार हैं । ऋजुसूत्र नय एक वृक्ष जैसा है, तो शब्द नय उसकी शाखा डाल है, समभिरूढ उसकी प्रशाखा टहनी है और एवम्भूत उस टहनीकी भी प्रतिशाखा सबसे छोटी और पतली शाखा है ।

निक्षेपोमे नययोजना

नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियरा निवलेवो ।

भावो उ पज्जवट्ठियरा परवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥

अर्थ नाम, स्थापना और द्रव्य ये द्रव्यास्तिकके निक्षेप^१ है और भाव तो पर्यायास्तिक नयकी प्ररूपणा है। यही परमार्थ है।

विवेचन यहाँ निक्षेपके अवश्य होनेवाले प्रकार और उनमें नयका विभाग ये दो बातें कही गयी हैं। निक्षेपके जो कमसे कम चार प्रकार सर्वत्र सम्भवित हैं और किये जाते हैं वे ही यहाँ गिनाये गये हैं। किसी भी सार्थक शब्दका अर्थ विचारना हो तब वह कमसे कम चार प्रकारका ही हो सकता है। वे प्रकार शब्द-वाच्य अर्थसामान्यके निक्षेप^१ विभाग कहलाते हैं। जो नाममात्रसे राजा हो वह नाम-राजा, राजाका जो चित्र या दूसरी कोई प्रतिकृति हो वह स्थापना-राजा, जो आगे जाकर राजा होनेवाला हो अथवा जो इस समय राजा न हो, किन्तु पहले कभी राजा रहा हो वह द्रव्य-राजा, और जो इस समय राजपदका अनुभव करता हो वह भाव-राजा। राजा शब्दके ये चार निक्षेप हुए।

इनमेंसे प्रथमके तीन निक्षेपोंमें किसी-न-किसी प्रकारका अभेद अर्थात् द्रव्य होनेसे वे तीनों द्रव्यास्तिक नयके विषय माने गये हैं, और भावनिक्षेपमें भेद अर्थात् पर्याय होनेसे वह पर्यायास्तिक नयका विषय माना गया है। जिस व्यक्तिको नाम राजा हो उस व्यक्तिको देखकर और उसके नामके साथ उसका अभेद करके लोग कहते हैं कि 'यह राजा है।' इसी प्रकार चित्रको देखकर और उसके साथ असली राजाका अभेद करके लोग चित्रको उद्दिष्ट करके कहते हैं कि 'यह राजा'।

१ शब्दका अर्थ करनेमें गोलमाल न हो और वक्ताका अभिप्राय ठीक-ठीक समझमें आ जाय, इस साधनासे निर्युक्तिकारोंके समयमें निक्षेपका विचार स्पष्टरूपसे शास्त्रमें गूँथ लिया गया है। किसी भी शब्द या वाक्यका अर्थ करते समय उस शब्दके जितने अर्थविभाग शक्य हों, उन्हें सूचित करके उनमेंसे प्रस्तुतमें वक्ताको कौन-सा अर्थ विवक्षित है और कौनसा अर्थ सगत है, यह निश्चित करनेमें ही निक्षेपविषयक विचारसरणीकी उपयोगिता है। उदाहरणार्थ 'जीवके गुण ज्ञान आदि हैं' ऐसा एक वाक्य है। इसमें सन्देह हो सकता है कि 'जीव' शब्दसे यहाँ क्या विवक्षित है? उस समय विचारक हमें यह बतलाता है कि यहाँ जीव नामका कोई व्यक्ति, जीवकी स्थापना या द्रव्यजीव विवक्षित नहीं है, परन्तु चैतन्य धारण करनेवाला तत्त्व अर्थात् भावजीव ही विवक्षित है और वही प्रस्तुत वाक्यमें सगत है। इस तरह प्रत्येक शब्दके अर्थके बारेमें गड़बड़ उपस्थित होनेपर निक्षेपवादी स्पष्टरूपसे विवक्षित अर्थ सूचित करके अर्थभ्रान्ति दूर कर सकता है, और यही निक्षेपके विचारकी उपयोगिता है। अनेकार्थक शब्द आने पर विवक्षित अर्थका निर्णय करनेके लिए बहुतसे उपाय अलंकारशास्त्र में बताये गये हैं, किन्तु जैन निर्युक्तिग्रन्थोंके अतिरिक्त किसी भी वैदिक या बौद्ध-ग्रन्थमें निक्षेप जैसी विचारसरणी देखनेमें नहीं आती।

है।' इसी तरह वर्तमान में राजा न होने पर भी भूत और भावीका वर्तमानके साथ अभेद करके और भूत एव भावी राजाको देखकर लोग कहते हैं कि 'यह राजा है।' इन तीनों स्थानों पर अभेदका विचार प्रचलन है, परन्तु भाव-निक्षेपमें ऐसा नहीं है। उसमें तो वर्तमान में राजपदका अनुभव करनेकी विशेषताके कारण भेद ही मुख्य है। इसीसे चार निक्षेपोंमें नयका उपर्युक्त विभाग किया गया है। दोनों नयोंका विषय एक-दूसरेसे भिन्न नहीं है ऐसी चर्चाका उपक्रम। वचन-प्रकारोंमें नययोजना—

पञ्जवणिरसामण्यं वयणं दण्डियरा 'अस्ति' ति ।

अवसेसो वयणविही पञ्जवमयणा सपडिवक्खो ॥ ७ ॥

अर्थ पर्याय अर्थात् विशेषसे सर्वथा मुक्त सामान्यका प्रतिपादक जो अस्ति 'है' ऐसा वचन है वह द्रव्यास्तिक नयका है, अर्थात् उस नय पर वह आश्रित है। बाकी के सब वचन-प्रकार पर्यायका स्पर्श करनेसे प्रतिपक्षसहित अर्थात् द्रव्यारिक्त एवं पर्यायास्तिक उभय नय पर आश्रित हैं ।

विवेचन राग्रह एव विशेषरूप दो प्रस्तारोंमें विभक्त शास्त्रीय एव लौकिक वाक्योंमें नयकी अवतारणा करके ऐसा बताया गया है कि किस प्रकारका वाक्य किस नयका विषय हो सकता है। जिसमें किसी भी प्रकारका विशेष, परिमितता, खण्ड या विभाग नहीं है ऐसा सत्तासामान्य ही महासामान्य है। ऐसे सामान्य अथवा उसके विचारके प्रतिपादक जो 'अस्ति' अथवा तत्सदृश 'सत्' इत्यादि वचन हैं उन सबको द्रव्यास्तिक नयके वचन समझना चाहिए। इनके अलावा जीव, अजीव, मुक्त, ससारी, परमाणु, रक्त्व, गुण आदि जैसे दूसरे जो वचन हैं वे सब किसी-न-किसी प्रकारके मर्यादित सामान्यके ही बोधक होनेसे उनके अर्थमें विशेषका, विभागका, खण्डका या भेदका स्पर्श आ ही जाता है। अतः वे केवल द्रव्यास्तिक नयावलम्बी नहीं, बल्कि द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक उभयनयावलम्बी हैं, क्योंकि उनके प्रतिपाद्य जीवत्व आदि अर्थ अमुक रूपमें सामान्य होने पर भी अपनी अपेक्षा विस्तृत सामान्यके एक विभाग ही हैं।

यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि 'अस्ति' आदि महाव्यापक सामान्य-वाची वचन मात्र द्रव्यास्तिक नयावलम्बी हैं, तो किसीका भी सामान्य न बन सके ऐसे अन्तिम अविभाज्य विशेषके वाचक वचन भी मात्र पर्यायास्तिक नयावलम्बी हैं। बीचके सभी वचन सामान्यरूप विशेषके प्रतिपादक होनेसे उभयनयाश्रित हैं।

एक नयके विषयमे दूसरे नयके प्रवेशका स्वरूप

पञ्जवण्यवोक्तं वस्तुं द्वावद्वियरत्नं वयणिज्जं ।

जाव दविश्रोवश्रोगो अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥ ८ ॥

अर्थ जिसके पश्चात् विकल्पज्ञान और वचनव्यवहार नहीं है अर्थात् सबसे अन्तका द्रव्योपयोग सामान्य बोध जहाँतक प्रवृत्त होता है वहाँतक की वस्तु द्रव्यास्तिक नयकी वाच्य है, और वह पर्यायास्तिक नयके द्वारा आक्रान्त है ।

विवेचन जिसमे पर्यायास्तिक नयका प्रवेश सम्भव है ऐसी द्रव्यास्तिक नयके विषयकी मर्यादा यहाँ बतलायी है । जहाँ-जहाँ सामान्य बुद्धि होती है, वे सब द्रव्यास्तिकके विषय हैं । उपान्त्य विशेषसे लेकर क्रमशः चढते-चढते सर्वव्यापक सत्ता सामान्य तक सामान्य-उपयोग होता है । अतः वह सारा विषय द्रव्यास्तिकका वक्तव्य है और वही सारा विषय पर्यायाक्रान्त होनेसे पर्यायास्तिक नयका भी ग्राह्य बनता है । अर्थात् अन्तिम विशेषके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ द्रव्यास्तिकका वक्तव्य हैं, क्योंकि उन सबमे सामान्य उपयोगकी प्रवृत्ति होती है । ऐसा होने पर भी उन सब वस्तुओंके विषयमे पर्यायास्तिक नयकी भी गति है, क्योंकि द्रव्यास्तिक नयने जिस-जिस वस्तुको सामान्यरूपसे जाना होता है उसी वस्तुको पर्यायास्तिक नय विशेषरूपसे जानता है, अतः द्रव्यास्तिकका सारा विषय पर्यायास्तिकका विषय बनता ही है । परन्तु पर्यायास्तिक नयके बारेमे ऐसा नहीं है, क्योंकि दूसरे सब विषयोंमें उभय नयकी प्रवृत्ति होने पर भी एक विषय ऐसा है कि जहाँ केवल पर्याय नयकी ही प्रवृत्ति होती है । वह विषय यानी अन्तिम विशेष । अन्तिम विशेषमे सामान्य-उपयोग सम्भव नहीं है, जबकि पर्यायबुद्धि तो होती ही है । इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अन्तिम विशेषके अतिरिक्त सभी विषय उभय-नयसाधारण हैं ।

दोनों नयोंके विषयोंकी मिश्रितताकी चर्चाका उपसंहार

द्वावद्विश्रोतितम्हान्तियणश्रो नियमसुद्धजाईश्रो ।

ण य पञ्जवद्विश्रोणाम कोइ भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

अर्थ अतः द्रव्यास्तिक नय नियमत विशुद्धजातीय अर्थात् विरोधी नयके विषयस्पर्शसे मुक्त नहीं है । इसी तरह कोई पर्यायास्तिक

नय भी विशुद्ध जातीय नहीं है। विवक्षाको लेकर ही दोनोंका भेद है।

विवेचन द्रव्यास्तिक एव पर्यायास्तिकके रूपमें नयके दो भेद करनेसे तथा उनका सामान्य एव विशेषके रूपमें विषय-विवेक करनेसे सम्भवतः ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इन दोनों नयोंका तथा इनके विषयोंका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इस आन्तिको दूर करके वस्तुस्थिति यहाँ स्पष्ट की गयी है। वस्तुतः कोई सामान्य विशेषरहित और कोई विशेष सामान्यरहित होता ही नहीं। एक ही वस्तु अमुक अपेक्षासे सामान्यरूप, तो दूसरी अपेक्षासे विशेषरूप होती है। इसीसे द्रव्यास्तिक नयका विषय पर्यायास्तिक नयके विषयस्पर्शसे और पर्यायास्तिक नयका विषय द्रव्यास्तिक नयके विषयस्पर्शसे मुक्त नहीं हो सकता। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी दो नयोंका जो भेद किया जाता है उसका तात्पर्य विषयके गौण-प्रधान भावमें ही है। जब विशेष रूपको गौण रखकर और मुख्य रूपसे सामान्य रूपका अवलम्बन लेकर दृष्टि प्रवृत्त होती है तब वह द्रव्यास्तिक है, और जब सामान्य रूपको गौण बनाकर तथा विशेष रूपको प्रधान भावसे ग्रहण कर दृष्टि प्रवृत्त होती है तब वह पर्यायास्तिक है ऐसा समझना चाहिए।

दोनों नय एक-दूसरेके विषयको कैसे देखते हैं इसका कथन

द्वन्द्वव्यवत्तत्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयररा ।

तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव द्वन्द्वव्यनयररा ॥ १० ॥

अर्थ द्रव्यारितकका वक्तव्य पर्यायास्तिककी दृष्टिमें नियमसे अवस्तु है। इसी तरह पर्यायास्तिककी वक्तव्य-वस्तु द्रव्यास्तिककी दृष्टिमें अवस्तु ही है।

विवेचन विवक्षासे दोनों नयोंके विषयका जो भेद कहा गया है उसीका स्पष्टीकरण यहाँ किया है। द्रव्यास्तिक नय वस्तुको मात्र सामान्यरूप ही देखता है, जब कि पर्यायास्तिक नय उसी वस्तुको मात्र विशेष रूपसे देखता है। फलतः एक नयका वक्तव्य-स्वरूप दूसरे नयकी दृष्टिमें अवस्तु है। यही एक विषयमें प्रवर्तमान दोनों नयोंका तथा उनके प्रतिपाद्य अशोका भेद है। दोनों नय एक ही वस्तुके किन-किन भिन्न रूपोंका स्पर्श करते हैं इसका कथन

उप (प्य) ज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयरत्ता ।

दव्वट्ठियरस सव्वं सया अणुप्पन्नमविण्हं ॥ ११ ॥

अर्थ पर्यायारितककी दृष्टिमें सभी पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं । द्रव्यास्तिककी दृष्टिमें सभी वस्तुएँ सर्वदाके लिए उत्पत्ति एवं विनाशरहित ही हैं ।

विवेचन एक नय वस्तुके स्थिर रूपका ग्राहक है, जबकि दूसरा उसके अस्थिर रूपका है ।

सत् अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुका लक्षण

दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।

उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलवखणं एयं ॥ १२ ॥

अर्थ- उत्पाद एवं नाशरूप पर्यायोसे रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवाशसे रहित पर्याय नहीं होते, क्योंकि उत्पाद, नाश ए स्थिति ये तीनों द्रव्य सत्का लक्षण हैं ।

विवेचन लक्षण द्वारा वस्तुका यथार्थ एवं पूर्ण रूप यहाँ बतलाया है । कोई भी वस्तु उत्पाद-विनाशरहित और मात्र स्थिर नहीं है । इसी तरह कोई भी वस्तु स्थिरतारहित और मात्र उत्पाद-विनाशवाली नहीं है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह मूल रूपमें स्थिर रहने पर भी निमित्तके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें बदलती रहती है । इसीलिए एक ही वस्तुमें स्थिरत्व एवं अस्थिरत्व विरुद्ध नहीं है, किन्तु वास्तविक है । इन दोनों रूपोंके होनेपर ही वस्तु पूर्ण बनती है । दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि कैसे बनते हैं इसका स्पष्टीकरण—

एए पुण संगहओ पाडियकमलवखणं दुवेहं पि ।

तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥

१ तुलना करो पञ्चास्तिकाय १ १२ तथा तत्त्वार्थसूत्र ५ २९ ।

जैन-ग्रन्थों में उत्पाद-स्थिति-भंगका जो समर्थनात्मक विचार देखा जाता है उसके सामने नागार्जुन जैसेकी विरुद्ध विचार-परम्परा थी । नागार्जुनकी मध्यमककारिकामें 'संस्कृतपरीक्षा' नामका एक प्रकरण (पृ ४५-५७) आता है । उसमें वस्तुके लक्षणके रूपमें माने जानेवाले उत्पाद-स्थिति-भंगका निरास किया गया है । ऐसा निरास उसके पीछेके दूसरे बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी आता है । ऐसी विरुद्ध परम्पराके सामने अपने पक्षका बचाव करनेके लिए जैनतार्किक विद्वानोंने उत्पादादि त्रिपदी के समर्थनका सर्वत्र प्रयत्न किया है ।

अर्थ—ये उत्पाद, व्यय एवं स्थिति तीनों एक-दूसरेके साथ मिल करके ही रहते हैं, अतः दोनों नयोका भी अलग-अलग विषय सत्का लक्षण नहीं होता। इसीलिए ये दोनों मूल नय अलग-अलग मिथ्या-दृष्टि हैं।

विवेचन दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि इसलिए हैं कि दोनोंमेंसे किसी भी एक नयका विषय सत्का लक्षण नहीं बनता। द्रव्याधिकका विषय सामान्य लें या पर्यायाधिकका विषय विशेष लें, परन्तु इनमेंसे एक भी सत्का लक्षण नहीं है। सत्का लक्षण तो सामान्य एवं विशेष दोनों मिलकर ही बनता है। अतएव यदि कोई एक नय अलग होकर वस्तुके सम्पूर्ण स्वरूपके प्रतिपादनका दावा करे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

दोनों नयोमें यथार्थता कैसे आती है इसका स्पष्टीकरण

ण य त इ ओ अ ति ण ओ ण य सा मा तं ण ते सु प डि पु ण्णं ।

जे ण दु वे ए गन्ता वि भ ज्ज मा णा अ णे गन्तो ॥ १४ ॥

अर्थ तीसरा नय नहीं है। उन दो नयोंमें यथार्थताका समावेश नहीं होता ऐसा भी नहीं है; क्योंकि दोनों एकान्त विशेष रूपसे गृहीत होते ही अनेकान्त बनते हैं।

विवेचन सत् सामान्य-विशेष उभयात्मक है। इसका ग्राहक यदि कोई नय हो तो सम्पूर्ण वस्तुग्राही होनेसे उसे सम्यग्नय कह सकते हैं, परन्तु ऐसा नय तो सम्भवित ही नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण सत्को ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय नहीं, किन्तु प्रमाण हो सकता है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि यदि तीसरा नय नहीं है और दोनों नयोको मिथ्यादृष्टि कहते हों, तो क्या नयज्ञान सम्यग्रूप नहीं हो सकता? इसका उत्तर यह है कि हो सकता है, परन्तु 'वह किस तरह?' यही समझना चाहिए। जिन दो नयोको मिथ्यादृष्टि कहा गया है, उन्हीं दोनोंमें सम्यक्पना भी है ही। मिथ्यापना और सम्यक्पना ये दोनों विरुद्ध धर्म एक आश्रयमें कैसे सम्भव हैं? इसका उत्तर यह है कि जब ये दोनों नय एक-दूसरेसे निरपेक्ष होकर केवल स्वविषयको ही सद्-रूपसे समझनेका आग्रह करते हैं, तब अपने-अपने ग्राह्य एक-एक अंशमें सम्पूर्णता मान लेते हैं और इसीलिए ये मिथ्यारूप हैं, परन्तु जब ये ही दोनों नय परस्पर सापेक्ष रूपसे प्रवृत्त होते हैं अर्थात् दूसरे प्रतिपक्षी नयका निरसन किये बिना उसके विषयमें मात्र तटस्थ रहकर जब

नय अपने वक्तव्यका प्रतिपादन करते हैं, तब दोनोंमें सम्यक्पत्ता आता है, क्योंकि ये दोनों नय एक-एक अशग्राही होने पर भी एक-दूसरेकी अवगणना किये बिना अपने-अपने प्रदेशमें प्रवर्तित होनेसे सापेक्ष हैं और इसीलिए ये दोनों यथार्थ हैं। मूल नयोके साथ उत्तर नयोकी समानताका कथन

जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।

हंदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा ते वि ॥ १५ ॥

अर्थ जिस तरह ये दोनों नय उसी तरह दूसरे सब नय भी अलग-अलग दुर्नय हैं, क्योंकि वे भी मूल नयोके ज्ञेय विषयके प्रतिपादनमें संलग्न हैं।

विवेचन निरपेक्षभावसे प्रवृत्ति ही नयोके दुर्नयत्वका बीज है। यह बीज यदि उत्तर नयोमें हो तो उन सबको भी दुर्नय अर्थात् मिथ्या समझना चाहिए, क्योंकि सग्रह आदि उत्तर नयोकी प्रतिपाद्य वस्तु भिन्न नहीं होती, वे भी मूल नयोके प्रतिपाद्य विषयकी ही प्ररूपणा करनेमें प्रवृत्त होते हैं। अतएव यदि वे भी विरोधी नयके विषयकी अवगणना करके अपने विषयमें ही पूर्णता मान लें तो मिथ्यारूप बनें, यह स्वामाविक है।

उत्तर नयोमें सम्पूर्ण सद्ग्राही कोई एक नय नहीं है ऐसा पुनः कथन

सव्वणयसमूहि ॥ वि णत्थि णओ उभयवायपण्णवओ ।

मूलनयाण उ आणं पत्तेय विसेसियं बिति ॥ १६ ॥

अर्थ सब नयोके समूहमें भी उभयवाद सामान्य-विशेष उभय रूपको जतानेवाला नय नहीं है, क्योंकि वह प्रत्येक नय मूल नयके द्वारा गृहीत विषयको ही विविध रूपसे कहता है।

विवेचन मूल दो नयोके अलावा तीसरा कोई मूल नय तो उभयग्राही सम्भव ही नहीं है, किन्तु दो नयोके उत्तर भेदरूप जो सग्रह आदि छ नय हैं उनमें भी कोई ऐसा नहीं है जो वस्तुके सामान्य-विशेष उभयात्मक स्वरूपका प्रतिपादन करे। इसका कारण यह है कि प्रत्येक उत्तर नय, स्वयं जिस-जिस मूल नयको भेद है उस-उस मूल नयके ग्राह्य विषयका ही भिन्न-भिन्न रूपमें वर्णन करता है। उत्तर नयोका कार्य मूल नयोके प्रदेशसे बाहर नहीं है। वे तो केवल अपने-अपने मूलनयगृहीत

अगकी ही कुछ अविक वारीकीसे चर्चा करते हैं। अतः उनमें उभयवादकी जायकता हो ही नहीं सकती।

किसी भी एक नयके पक्षमें संसार, सुख-दुःखसम्बन्ध एवं मोक्ष नहीं घट सकते ऐसा कथन

ण य दव्वद्वियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स ।

सासयवियत्तिवायो जम्हा उच्छेअवाइआ ॥ १७ ॥

सुख-दुःखसम्पन्नो गो ण जुज्जए णिज्जवायपक्खम्मि ।

एगंतुच्छेयगिा य सुह-दुःखवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

काः जोगनिमित्तं वज्झइ बन्ध-द्विइ कसायवसा ।

अपरिणंउच्छिण्णोसु य बंध-द्विइकारणं णत्थि ॥ १९ ॥

बंधगिा अपूरन्ते संसारमओधदंसणं भोज्झं ।

बन्धं व विणा मोक्खसुहपत्यणा णत्थि मोक्खो य ॥ २० ॥

तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा ।

अण्णोण्णणिस्सिया उण हवन्ति सामत्तसम्भावा ॥ २१ ॥

अर्थ द्रव्यास्तिक पक्षमें संसार नहीं घट सकता और पर्यायास्तिक पक्षमें भी नहीं घट सकता, क्योंकि एक शाश्वत या नित्यव्यवित्तवादी है तो दूसरा उच्छेद या नाशवादी है।

नित्यवाद पक्षमें सुख-दुःखका सम्भव नहीं घटता, एकान्त उच्छेदवादमें भी सुख-दुःखकी विकल्पना नहीं है।

योग—(मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति) के कारण कर्मका बन्ध होता है और कषायके कारण वद्ध कर्म में स्थिति निमित्त होती है, परन्तु मात्र अपरिणामी और मात्र क्षणनष्टमें बन्ध और स्थितिका कारण नहीं है।

बन्ध न होता हो तो संसारमें भयप्राचुर्यका दर्शन मूढतामात्र है और बन्धके विना मोक्षसुखकी अभिलाषा तथा मोक्ष नहीं है।

अतएव मात्र अपने-अपने पक्षमें -संलग्न सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु ये ही नय यदि परस्पर सापेक्ष हो तो सम्यग्रूप बनते हैं।

विवेचन निरपेक्ष रहने पर दोनों नयोके पक्षमें अनुभवसिद्ध एव शास्त्रीय प्रवृत्तिमें कैसे बाध आता है, यह यहाँ आत्माको लेकर बताया गया है । यदि केवल द्रव्यास्तिक पक्ष ले, तो उसके मतमें आत्मतत्त्व एकान्त नित्य होनेसे अपरिवर्तनशील है, और यदि केवल पर्यायास्तिक पक्ष ले, तो उसके मतमें वह मात्र क्षणभंगुर है । इन दोनों पक्षोंमें ससार, सुख-दुःखका सम्बन्ध, सुखकी प्राप्ति और दुःखके त्यागके लिए प्रयत्न, कर्मका बंध, उसकी स्थिति, मोक्षकी इच्छा और मोक्ष इनमेंसे कुछ भी घट नहीं सकता, क्योंकि एकान्तनित्य पक्षमें कूटस्थताके कारण आत्मा में कपायविकार या लेपका सम्भव ही नहीं है और अनित्यपक्षमें क्षणभंगुरताके कारण आत्मा प्रत्येक क्षणमें नष्ट होकर नया-नया पैदा होता रहता है, इसलिए ध्रुवत्वके साथ मेल खाये ऐसे अनुसन्धान, इच्छा, प्रयत्न आदि कोई भाव घट ही नहीं सकते । इसीलिए यदि ये दोनों नय निरपेक्ष रूपसे अपने-अपने विषयमें प्रवृत्त हो तो वे मिथ्या-दृष्टि हैं और यदि परस्पर सापेक्ष रूपसे प्रवृत्त हो तो सम्यग्दृष्टि है ।

ये ही नय कभी सम्यग्दृष्टि नहीं होते और कभी होते हैं, इसके कारणका दृष्टान्तके द्वारा समर्थन—

जहऽण्येयलक्षणगुणा धेरलियाई मणी विसंजुता ।
 रयणावलिववएसं न लहंति महग्धमुल्ला वि ॥ २२ ॥
 तह गिययवायसुविणिच्छया वि अण्णोणपक्खणिरवेक्ख ।
 सम्मदंसणसदं सच्चे वि णया ण पावेति ॥ २३ ॥
 जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसंभागपडिबद्धा ।
 'रयणावलि' ति भण्णइ जहंति पाडियफसण्णाउ ॥ २४ ॥
 तह सच्चे णयवाया, जहाणुरुवविणिउत्तवत्तव्वा ।
 सम्मदंसणसदं लहन्ति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

अर्थ जिस तरह अनेक लक्षण और गुणवाले वैडूर्य आदि रत्न बहुत मूल्यवान् होने पर भी बिखरे हुए हो तो रत्नावली या हारका नाम नहीं पाते,

उसी तरह सभी नय अपने-अपने पक्षमे अधिक निश्चित होनेपर भी आपसमे एक-दूसरेके साथ निरपेक्ष होनेसे 'सम्यग्दर्शन' व्यवहार नहीं पा सकते ।

और, जैसे वे ही मणि डोरेमे खास-खास भाग करके उसके अनुसार पिरोये जायँ तो 'रत्नावली' कहलाते हैं और अपना भिन्न-भिन्न नाम छोड़ देते हैं,

वैसे ही सभी नयवाद यथोचित रूपसे सुसंकलित होकर व्यवस्थित अर्थवाले हो तो 'सम्यग्दर्शन' व्यवहार पाते हैं, विशेष संज्ञा नहीं पाते ।

विवेचन रत्न चाहे जितने पानीदार और कीमती हो, पर जबतक अलग-अलग और बिखरे हुए होते हैं तबतक वे हार नहीं कहलाते और हारका मूल्य भी नहीं पा सकते । वे ही रत्न जब योग्य रूपसे पिरोकर सुचारु रूपसे बिठाये जाते हैं, तब वे अपना खास नाम छोड़कर 'हार' नाम धारण करते हैं और योग्य मूल्य भी पाते हैं । यही प्रकार नयोका है । प्रत्येक नयवाद अपने-अपने पक्षमे चाहे जितने मजबूत हो, पर जबतक वे दूसरे पक्ष की परवाह नहीं करते, तबतक परस्पर निरपेक्ष होनेसे वे सब वाद सम्यग्दर्शन नहीं कहलाते, परन्तु जब उन सबका विषय आपसमे एक-दूसरेके साथ योग्य रूपसे संकलित हो जाता है और भिन्न-भिन्न विषयके प्रतिपादक होने पर भी जब वे सब सापेक्ष रूपसे मुख्यतया एक ही वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं, तब प्रत्येक नय अपना खास नाम छोड़कर 'सम्यग्दर्शन' नाम धारण करता है ।

रत्नोका हारपना जैसे सूत्रमें पिरोये जाने पर और विगिष्ट प्रकारकी संयोजना पर अवलम्बित है, वैसे ही नयवादोका सम्यग्दृष्टिपना उनकी परस्पर अपेक्षा पर अवलम्बित है ।

दृष्टान्त देनेकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए उसके गुणोंका कथन
लोड्यपरिच्छयसुहो निच्छयवयणपडिवत्तिमगो य ।

अह पण्णवणाविसउ त्ति तेण वोसत्यमुवणीओ ॥ २६ ॥

अर्थ दृष्टान्त^१ लौकिक अर्थात् व्यवहारज्ञ और परीक्षक अर्थात् शास्त्रज्ञकी सरलतासे समझमे आ सके ऐसे निश्चयकारी वचनके बोधका

उपाय और स्थापनाका विषय है, अतः निःशकभावसे उसकी यहाँ योजना की है।

विवेचन दृष्टान्तमें व्यवहार और शास्त्र दोनोंमें कुशल जनोको सरलतासे समझानेका गुण है। उसमें साध्यका निश्चय करनेमें उपयोगी होनेका अर्थात् व्याप्तिज्ञान प्रकट करनेका सामर्थ्य है और उसके बिना पक्षकी स्थापना नहीं हो सकती। इसीलिए यहाँ ग्रन्थकारने निःसकोच रूपसे रत्नावलीका दृष्टान्त दिया है। सापेक्षता न हो तो मिथ्यादृष्टि ही है, इस बातका कतिपय प्रसिद्ध वादो द्वारा स्पष्टीकरण

इहरा समूहसिद्धो परिणामकश्चोऽव जोर्जहि अत्यो ।

ते तं च ण तं तं चेव व त्ति नियमेण मिच्छत्तं ॥ २७ ॥

अर्थ पहले^१ कहा उससे उल्टा माने, अर्थात् अवयवीरूप अथवा परिणामरूप जो कार्य जिस कारणमें होता है वह कार्य उस कारणरूप ही है, अथवा वह कार्य कारणरूप ही नहीं है, अथवा कार्य-कारण अभिन्न ही है, ऐसा एकान्तसे मानना मिथ्यात्व है।

विवेचन भिन्न-भिन्न नयवाद यदि सापेक्ष प्रतिपादन करे, तभी वे सम्यग्दृष्टि वनते हैं, ऐसा रत्नावलीके दृष्टान्तके द्वारा कहा गया है। इसी कथनको दृढ़ करनेके लिए कतिपय प्रचलित वादोको लेकर यहाँ विचार किया गया है।

कार्यकारणभावका जो दार्शनिक सिद्धान्त है उसमें साध्य आदि कई वादी कार्यको सत् मानते हैं, क्योंकि वे परिणामवादी होनेसे कहते हैं कि 'स्वयं कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है।' वैशेषिक आदि कई वादी कार्यको असत् कहते हैं, क्योंकि वे आरम्भवादी होनेसे ऐसा मानते हैं कि अवयवों द्वारा अवयवीरूप कार्यका आरम्भ होता है। इनके अतिरिक्त अद्वैतवादी जैसे कई वादी मात्र एक द्रव्य स्वीकार करते हैं, इससे उनका मानना है कि कार्य और कारण जैसा कुछ है ही नहीं। परिणामवादके अनुसार दही दूधका परिणाम मात्र है और इसीलिए इन दोनोंमें भेद ही नहीं है। अवयवी-कार्यवादके अनुसार कपडा सूत्रसमूह परसे बना एक कार्य है और इसलिए वह कारणसे भिन्न ही है। अद्वैतवादके अनुसार

कार्य या कारणकी कल्पना ही झूठी है, सब-कुछ मात्र द्रव्यरूप ही है। इन तीनों वादोको लेकर ग्रन्थकार कहते हैं कि ये वाद यदि अपने-अपने पक्षका एकान्त रूपसे समर्थन करे और दूसरा पक्ष मिय्या है ऐसा कहे, तो सापेक्ष प्रतिपादन न करनेसे मिय्या ही है।

सापेक्ष प्रतिपादन अर्थात् अपने पक्षका इस तरह प्रतिपादन करना जिससे दूसरे पक्षकी मर्यादाका भग न हो और अपने पक्षकी मर्यादा भी सुरक्षित रहे। अनेकान्तज्ञ मर्यादा और उसकी व्यवस्था कैसे करे इसका कथन

णिययवयणिज्जसञ्जा सव्वनया परविद्यालणे सोहा ।

ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिं ए वा ॥ २८ ॥

अर्थ सभी नय^१ अपने-अपने वक्तव्यमें सच्चे हैं और दूसरेके वर्तव्यका निराकरण करनेमें झूठे हैं, अनेकान्तज्ञास्त्रका जाता उन नयोका 'ये सच्चे हैं' और 'ये झूठे हैं' ऐसा विभाग नहीं करता।

विवेचन प्रत्येक नयकी मर्यादा अपने-अपने विषयका प्रतिपादन करने तक ही परिसीमित है। इस मर्यादाके जवतक वे रहते हैं तबतक सभी सच्चे हैं, किन्तु इस मर्यादाका उल्लंघन करके जब वे दूसरे प्रतिपक्ष नयके वक्तव्यका निराकरण करने लगते हैं, तभी मिय्या हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक नयकी मर्यादा समझनेवाला और उनका समन्वय करनेवाला अनेकान्तज्ञ सभी नयोके वक्तव्यको जानने पर भी 'यह एक नय सत्य ही है और दूसरा असत्य ही है' ऐसा विभाग नहीं करता। उल्टा, वह तो किसी एक नयके विषयको दूसरे विरोधी नयके विषयके साथ सकलित करके ही 'यह सत्य है' ऐसा निर्धारण करता है। इस तरह अनेकान्तज्ञ वादी कार्यको कथंचित् ही सत् या असत् कहे तथा द्रव्यको अद्वैत या द्वैत भी कथंचित् ही कहे। दोनों मूल नयोंकी विषयमर्यादा

दव्वद्वियवत्तव्वं सव्वं सव्वेण णिज्जमवियप्पं ।

आरद्धो य विभागो पज्जववत्तव्वमगो य ॥ २९ ॥

अर्थ राव, सब प्रकार से, सर्वदा जो भेदरहित हो वह द्रव्यास्तिकका वक्तव्य है, और विभाग या भेद का प्रारम्भ होते ही वह पर्यायास्तिकके वक्तव्यका मार्ग बनता है।

विवेचन जगत् तो भेदाभेद उभयरूप है, परन्तु उसमें जब किसी भी प्रकारके भेदके बिना सब-कुछ मात्र सद् रूप दिखाई पड़ता है, तब वह द्रव्यास्तिकका विषय है; अर्थात् अभेद तक ही द्रव्यास्तिक की मर्यादा है। और जब सत्के द्रव्य, गुण आदि अथवा भूत, वर्तमान आदि भेद किये जाते हैं, तभी पर्यायास्तिकके विषयका मार्ग शुरू होता है, अर्थात् भेदसे ही पर्यायास्तिकके विषयकी मर्यादा शुरू होती है।

भेदका विगोप वर्णन

जो उण समासओ ऽप्यय वंजणणिअओ य अत्थणिअओ य ।

अत्यगओ य अभिण्णो भइयव्वो वंजणविण्णो ॥ ३० ॥

अर्थ और, वह विभाग सक्षेपमें व्यजन-नियत अर्थात् शब्द-सापेक्ष और अर्थ-नियत अर्थात् शब्द-निरपेक्ष है। अर्थगत विभाग अभिन्न है और शब्दगत भेद भाज्य अर्थात् भिन्न तथा अभिन्न है।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ भेदाभेद उभयात्मक है। उसमें जब अभेदके ऊपर सूक्ष्म विचारणासे काल, देश आदिके कारण भेदोकी कल्पना की जाती है, तब वे भेद विचारकी सूक्ष्मताके अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। अभिन्न अर्थात् सामान्य स्वरूपके ऊपर कल्पित अनन्त भेदोकी इस परम्परामें जितना सदृश परिणाम-प्रवाह किसी भी एक शब्दका वाच्य बनकर व्यवहार्य होता है, उतना वह प्रवाह व्यजनपर्याय कहलाता है, और उक्त भेदोकी परम्परामें जो भेद अनभिलाष्य हो वह अर्थपर्याय कहलाता है। उदाहरणार्थ, चेतन पदार्थका 'जीवत्व' यह सामान्य रूप है, उसकी काल, कर्म आदि उपाविकृत ससारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व, बालत्व आदि अनन्त भेदवाली छोटी-बड़ी अनेक परम्पराएँ हैं। उनमें 'पुरुष, पुरुष' जैसी समान प्रतीतिका विषय और एक 'पुरुष' शब्दका प्रतिपाद्य जो सदृश पर्यायप्रवाह है वह व्यजनपर्याय है और जो पुरुषरूप सदृशप्रवाहमें दूसरे स्नात्य, यौवन आदि अथवा उनसे भी अधिक सूक्ष्मतरंग भेद रहे हुए हैं वे सब अर्थपर्याय हैं।

व्यजन पर्यायको अभिन्न-भिन्न कहा है। इसका भाव यह है कि पुरुषरूप पर्याय शब्दवाच्य सदृशप्रवाहकी दृष्टिसे यद्यपि एक है, फिर भी उसमें बाल्य आदि अनेक छोटे-बड़े भेद भासित होनेसे वह भेद्य भी है। इसी तरह बालपर्याय शब्दवाच्य सदृशप्रवाहके रूपमें एक होनेसे अभिन्न होने पर भी उसमें तत्कालजन्म, स्तनन्धयत्व आदि दूसरे भेदोके कारण वह भेद्य होनेसे भिन्न भी है। इसी तरह

प्रत्येक व्यजनपर्याय अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य अभिलाष्य पर्यायके वारेमे घटाना चाहिए। अर्थपर्यायको जो अभिन्न कहा है, उसका भाव यह है कि भेदोंकी परम्परामे जो भेद अन्तिम होनेसे अभेद्य होता है, वह स्वयं तो यद्यपि दूसरेका अग और दूसरे भेदोंसे भिन्न होता है, फिर भी उसमे कोई अन्य भेदक अश नहीं होता और इसीलिए वह अभिन्न कहलाता है।

एक ही द्रव्य अनेक कैसे बनता है इसका स्पष्टीकरण—

एगदवियम्मि जे अत्यपज्जया वयणपज्जया वा वि ।

तीयाणागयमूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

अर्थ—एक द्रव्यके भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थ-पर्याय तथा गण्ड अर्थात् व्यजनपर्याय होते हैं, वह द्रव्य उत्तना होता है।

विवेचन कोई भी परमाणु, जीव आदि मूल द्रव्य वस्तुतः अखण्ड होनेसे व्यक्तिके रूपमे भले एक ही हो, परंतु उसमे तीनो कालोंके गण्डपर्याय और अर्थ-पर्याय अनन्त होते हैं। इसलिये वह एक द्रव्य भी प्रतिपर्याय अर्थात् पर्यायभेदसे भिन्न-भिन्न भासमान होनेसे और भिन्न-भिन्न माना जानेसे पर्यायोंकी सख्याके अनुसार अनन्त बनता है। अर्थात् अमुक एक पर्यायसहित उस द्रव्यकी अपेक्षा दूसरे विवक्षित पर्यायसहित वह द्रव्य और उसकी अपेक्षा तीसरे विवक्षित पर्यायसहित वह द्रव्य भिन्न है। इस तरह विगोप्यभूत द्रव्यके एक होने पर भी विशेषण-भूत पर्यायोंके भेदके कारण उसे भिन्न-भिन्न मानने पर वह जितने पर्याय होते हैं उतनी सख्यावाला बनता है।

व्यजनपर्यायका उदाहरण

पुरिससिग पुरिससद्धो जम्माई मरणकालपज्जन्तो ।

तरा उ वालाईया पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥ ३२ ॥

अर्थ जन्मसे लेकर मरणकाल पर्यन्त पुरुषमे 'पुरुष' ऐसे शब्दका प्रयोग होता है, और उसीके वाल आदि अनेक प्रकार के पर्याय अर्थात् अग है।

विवेचन पुरुषके रूपमे जन्म लिया तबसे लेकर मरणपर्यन्त वह जीव 'पुरुष पुरुष' ऐसे समान शब्दसे व्यवहृत होता है और 'पुरुष पुरुष' ऐसी समान प्रतीतिका विषय बनता है। अतः जीवको यह पुरुषरूप सदृशपर्यायप्रवाह व्यजनपर्याय है।

उत्तमे जो दूसरे वाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अनेक प्रकारके स्थूल पर्याय या उनसे भी दूसरे सूक्ष्म पर्याय भासित होते हैं वे सब पुरुषरूप व्यजनपर्यायके अवान्तर पर्याय हैं। अर्थात् कोई भी एक व्यजनपर्याय ले, तो उसके दूसरे भेद शक्य होनेसे उसके अनेक पर्याय सम्भव ही हैं।

व्यजनपर्यायमे एकान्त अभिन्नता मानने पर क्या दोष आता है इसका कथन

अत्यस्ति णिविविप्यं पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्भि ।

सो बालाइविविप्यं न लहइ तुलं व पावेज्जा ॥ ३३ ॥

अर्थ जो वक्ता पुरुषको उसकी पुरुषदशामे विधिरूपसे मात्र अभिन्न कहता है वह बाल आदि भेद नहीं जान पाता। इससे वह तुल्य ही प्राप्त करता है।

विवेचन यदि पुरुषरूप व्यजनपर्यायको एकान्त रूपसे अभिन्न माना जाय, तो इसका अर्थ यही होगा कि उसके अवान्तर पर्याय नहीं हैं, और ऐसा माने तो परिणाम यह होगा कि वह पुरुषरूप पर्याय भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि पुरुषत्वका अर्थ ही यह है कि अनेक अवान्तर पर्यायोंका समुदाय। अब यदि अवान्तर पर्याय ही न हो, तो उनका समुदायरूप पुरुषपर्याय भी नहीं हो सकता। अतः एकान्त अभिन्न मानने पर अवान्तर पर्यायोंका लोप हो जानेसे व्यजनपर्याय भी अन्ततोगत्वा अवान्तर पर्यायकी तुल्य कोटिमें अर्थात् लोप दशामे रखा जायगा।

प्रस्तुत उदाहरणमें व्यजनपर्याय और अर्थपर्यायका स्पष्ट रूपसे पृथक्करण

वंजणपज्जायस्स उ 'पुरिसो' 'पुरिसो' त्ति णिच्चमविविप्यो ।

बालाइविविप्यं पुण पासई से अत्थपज्जाओ ॥ ३४ ॥

अर्थ व्यजनपर्यायकी अपेक्षासे देखनेवालेको सर्वदा 'पुरुष, पुरुष' ऐसा निर्विकल्प अर्थात् अभिन्न भास होता है, और वह जिन बाल आदि विकल्पोंको देखता है वे तो उसके अर्थपर्याय हैं।

विवेचन एक ही पुरुष-व्यक्तिमें निर्विकल्प अर्थात् अभिन्न और सविकल्प अर्थात् भिन्न बुद्धि होती है। जब 'पुरुष' इस प्रकारकी निर्विकल्प बुद्धि होती है,

तब उसको विषय पुरुषपर्याय एक अमिश्र व्यजनपर्याय है; और उसी पुरुष व्यक्तिमे पुरुष प्रतीतिके समय जो बाल आदि अनेक विकल्प या भेद दिखाई पड़ते हैं वे सब पुरुषरूप व्यंजनपर्यायके अर्थपर्याय हैं; अर्थात् एकाकार बुद्धिसे गृहीत व्यजनपर्यायमे भासित होनेवाले भेद उस व्यजनपर्यायके अर्थपर्याय हैं।

एकान्त मान्यतावालेमे अशास्त्रज्ञत्व के दोषका कथन—

सवियप्प-णिच्चियप्पं इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं ।

सवियप्पमेव वा णिच्छएण ण स निच्छिओ समए ॥ ३५ ॥

अर्थ इस प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प उभयरूप पुरुषको जो मात्र निर्विकल्प कहता है, अथवा सविकल्प ही कहता है, वह शास्त्रमे अवश्य निश्चितबुद्धि स्थिरबुद्धि नहीं है।

विवेचन पुरुष तो केवल एक दृष्टान्तरूप है। वस्तुतः सभी व्यजनपर्याय, पुरुषकी भाँति, अमिश्र और मिश्र उभयरूप हैं। ऐसा होने पर भी जो उसे एकान्त अमिश्ररूप ही अथवा मिश्ररूप ही मानता है उसके बारेमें ऐसा निश्चयसे कहा जा सकता है कि वैसे एकान्तदृष्टिवाला अनेकान्तशास्त्रको मर्म नहीं जानता।

सात भंगोंका स्वरूप

अत्यन्तरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहि ।

वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥

अह देसो सव्भावे देसोऽसव्भावपज्जवे णियओ ।

तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा ॥ ३७ ॥

सव्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभयहा जररा ।

तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दविअं वियप्पवसा ॥ ३८ ॥

आइट्ठोऽसव्भावे देसो देसो य उभयहा जररा ।

तं णत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ ३९ ॥

सव्भावाऽसव्भावे देसो देसो य उभयहा जररा ।

तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं च दवियं वियप्पवसा ॥ ४० ॥

अर्थ अर्थान्तरभूत अर्थात् परपर्याय और निज अर्थात् स्वपर्याय इन दोनोंके द्वारा (अलग-अलग विवक्षित द्रव्य असत् और सत् है तथा)

एक ही साथ विवक्षित द्रव्य वचनविशेषसे अतीत होकर अवक्तव्य बनता है ।

जिसका एक देश अर्थात् भाग सद्भावपर्यायिमे नियत हो और एक देश असद्भावपर्यायिमे नियत हो, वह द्रव्य अस्ति और नास्तिरूप है, क्योंकि वह विवक्षासे विशिष्ट बनता है ।

जिसका एक भाग अस्तिरूपसे और दूसरा भाग उभयरूपसे विवक्षित हो, वह द्रव्य विकल्पके कारण अस्ति-अवक्तव्य बनती है ।

जिसका एक भाग नास्तिरूपसे और एक भाग उभयरूपसे विवक्षित है वह द्रव्य विकल्पके कारण नास्ति-अवक्तव्य बनता है ।

जिस द्रव्यका एक भाग अस्ति-नास्तिरूपसे विवक्षित हो और एक भाग उभयरूपसे विवक्षित हो वह द्रव्य विकल्पके कारण अस्ति-नास्ति और अवक्तव्यरूप बनता है ।

विवेचन किसी भी वस्तुका उसके एक धर्मको लेकर भाव या अभावरूपसे जो वास्तविक कथन किया जाता है उसे भग कहते हैं । ऐसे भग मूलमें दो और ज्यादा हुआ तो तीन है, परन्तु इन भगरूप वाक्योंके एक-दूसरेके साथके मिश्रणसे और सचारणसे अधिकसे अधिक सात वाक्य बनते हैं । यही सात प्रकारकी वाक्य-रचना सप्तभगी कहलाती है ।

जैसे कि आत्मा नित्य है, अनित्य है, अवक्तव्य है, नित्य तथा अनित्य है, नित्य तथा अवक्तव्य है, अनित्य तथा अवक्तव्य है और नित्य-अनित्य तथा अवक्तव्य है । (१) आत्मा चाहे जितनी भिन्न-भिन्न दशाओं का अनुभव करे, परन्तु तत्त्वरूपसे वह न तो कभी नया ही उत्पन्न होता है और न सर्वथा नष्ट ही होता है, अतएव द्रव्याधिक दृष्टि से वह नित्य ही है । (२) इसी प्रकार तत्त्वरूपसे वह अनादि-अनन्त होने पर भी निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न दशाओंका अनुभव करता है, अतः पर्यायाधिक दृष्टिसे वह अनित्य ही है । (३) एक-एक दृष्टि लेकर उसका विचार करने पर उसे नित्य भी कह सकते हैं और अनित्य भी कह सकते हैं, परन्तु इन दोनों दृष्टियोंसे एक ही साथ अक्रमसे उसका निरूपण करना हो तो शब्दके द्वारा ऐसा कहना शक्य ही नहीं है, अतः इस अपेक्षासे उसे अवक्तव्य ही कह सकते हैं ।

(४) दोनो दृष्टि साथ में लागू करके क्रममें निरूपण करना हो तो उसे हम अपेक्षासे नित्य तथा अनित्य ही कह सकते हैं । (५) एक व्यापिका दृष्टिको अलग लेकर और दोनो दृष्टियोंको अक्रममें एक साथ लेकर निरूपण करना हो तो नित्य तथा अवक्तव्य ही कह सकते हैं । (६) उसी प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टिको अलग लेकर और दोनो दृष्टियोंको अक्रमसे एक साथ लेकर विचार करने पर अनित्य तथा अवक्तव्य ही कह सकते हैं । (७) दोनो दृष्टियोंको क्रममें साथमें लेकर तथा अक्रममें साथमें लेकर विचार करने पर नित्य-अनित्य तथा अवक्तव्य ही कह सकते हैं ।

ऊपरके भगोमें यह देखा जा सकता है कि नित्य, अनित्य और अवक्तव्य ये ही तीन मुख्य भग हैं, बाकीके वाक्य तो इनके परस्पर उल्टे-मुल्टे मिश्रणमें बने हैं । अतः मूलभूत तीन भगोका स्वरूप समझ लेने पर बाकीके सभी भगोका स्वरूप समझमें आ सकता है । पहला भग आत्माके नित्यरूप होनेका विधान करता है और दूसरा इसमें उल्टा अर्थात् उस रूपमें न होनेका भी विधान करता है । ये दोनो विधान वास्तविक तभी कहे जा सकते हैं, जब वे वाधित न हों । तत्त्वस्वरूपमें आत्माकी शाश्वतता पूर्वापरके अनुसन्धानमें सिद्ध है और अवस्थाभेदसे अशाश्वतता भी अनुभवसिद्ध है । अतएव यदि तत्त्वस्वरूपसे अनित्यता और अवस्थाभेदस्वरूपसे नित्यता मानी जाय, तभी ये भग अवास्तविक सिद्ध हो सकते हैं । एक ही आत्माके विषयमें नित्य होनेका और नित्य न होनेका, ये दोनो विधान परस्परविरोधी होने पर भी असंदिग्ध हैं, क्योंकि ये दृष्टिभेदसापेक्ष होनेसे वस्तुतः अविरोधी ही हैं । इस भावका सूचन करनेके लिए ही प्रत्येक भगके साथ आरम्भमें 'अपेक्षाविशेष' और अन्तमें 'ही' शब्दोका प्रयोग होता है । इसीलिए पहले भगकी वाक्यरचना 'अपेक्षा-विशेषसे आत्मा नित्य ही है' ऐसी बनती है । इसी प्रकार आगेके भगोमें भी शब्द-योजनाकरनी चाहिए । सस्कृतमें 'कयचित्' या 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करके 'कयचित् नित्य एव' अथवा 'स्यान्नित्य एव' कहा जाता है । भिन्न-भिन्न अपेक्षा द्वारा विचार करने पर जो-जो स्वरूप सिद्ध होता हो वह स्वरूप योग्य शब्दसे जताया जा सकता है, पर उन सब अपेक्षाओं द्वारा एक साथ और अक्रमसे विचार करके स्वरूप जताना हो तो इसके लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल सकता और इसीलिए इस दृष्टिसे 'अवक्तव्य ही है' ऐसा कहना पड़ेगा । यही तीसरा भग है, और अपनी दृष्टिसे यह वास्तविक ही है ।

मनुष्यके वारेमें सात भग इस प्रकार बनेंगे अपेक्षाविशेषसे (१) मनुष्य ही है, (२) अमनुष्य ही है, (३) अवक्तव्य ही है, (४) मनुष्य तथा अमनुष्य ही है, (५) मनुष्य तथा अवक्तव्य ही है, (६) अमनुष्य तथा अवक्तव्य ही है, और (७) मनुष्य-अमनुष्य तथा अवक्तव्य ही है ।

मनुष्यपना अर्थात् अमुक निश्चित आकार और गुणधर्मका होना और दूसरे आकार तथा गुणधर्मका न होना । इससे ऐसा फलित होता है कि मनुष्य स्वरूपसे मनुष्य है, पर-रूपसे नहीं । स्वरूप एव पर-रूपसे उसका अक्रमसे अर्थात् एक साथ निरूपण करना हो तो उसे अवक्तव्य ही कहना पड़ेगा । इस तरह मनुष्य, अमनुष्य और अवक्तव्य ये तीन भग होते ही वाकी के भग भी बन जाते हैं ।^१

अर्थपर्याय तथा व्यजनपर्यायमे सात भगोका विभाजन

१ एवं सत्तवियप्पो वयणपहो होइ अत्यपज्जाए ।

वेंजणपज्जाए उण सवियप्पो णिव्वियप्पो य ॥ ४१ ॥

अर्थ इस तरह सात प्रकारका वचनमार्ग अर्थपर्यायमे होता है और व्यजनपर्यायमे तो सविकल्प और निर्विकल्प वचनमार्ग होता है ।

विवेचन पर्याय अर्थात् भेद या विशेष । भेद होनेके कारण वह (पर्याय) देश, काल और स्वरूपसे परिमित होता है और जो परिमित होता है वह अमुक स्वरूप धारण करने पर भी दूसरे स्वरूपसे व्यावृत्त ही होता है । इस तरह भेदमे अमुक स्वरूपसे अस्तित्व और दूसरे स्वरूपसे नास्तित्व सिद्ध होता है । इसी अस्तित्व और नास्तित्वके कारण कभी वह 'अस्ति' शब्दसे, तो कभी 'नास्ति' शब्दसे व्यवहृत होता है, और उसका यह अस्तित्व एव नास्तित्व अक्रमसे अर्थात् एक साथ न कहे जा सकनेके कारण वह भेद अवक्तव्य भी है । इस तरह अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य —ये तीन भग पर्यायमें सिद्ध होने पर वाकीके चार भी सिद्ध हो जाते हैं । सात भग

१ तत्त्वका जैसा सम्मवित हो वैसा स्वरूप शब्दके द्वारा कभी प्रतिपादित हो ही नहीं सकता, फिर भी मानवव्यवहार तो शब्दके द्वारा ही चलता है, अतएव शब्द संकेतके द्वारा वस्तुका आशिक व साकेतिक रूप प्रतिपादित भी कर सकता है । इस तरह तत्त्वके अनमिलाप्य (अवक्तव्य) और अभिलाप्य (वक्तव्य), ऐसे दो स्वरूप ध्यानमें आते हैं । ऐसे दो स्वरूपोंका सूचन उपनिषदों एव जैन आगमोंमें स्पष्ट है । अनमिलाप्यको अवक्तव्य शब्दसे भी सूचित किया जा सकता है, परन्तु अवक्तव्य शब्दका एक दूसरा भी अर्थ है जो सप्तमगीके तार्किक समर्थकोंने किया है और यहाँ विवेचनमें हमने उसीको लिया है ।

सप्तमगीकी क्रमविकासी एव ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक चर्चा विशेषरूपसे जानने योग्य है । ऐसी चर्चा 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति'की प्रस्तावनामें प० श्री दलमुखसाई मालवणियाने की है । स्याद्वाद, नयवाद तथा सप्तमगीके विशेष अम्थासीके लिए वह अवश्य पठनीय है । सरलतासे इतना भाग सुलभ हो इस आशयसे प्रस्तुत ग्रन्थके एक परिशिष्टमें उस चर्चाको अक्षरशः उद्धृत किया है ।

पर्यायमे होते हैं ऐसा जो कहा है, वहाँ पर्यायसे अभिप्रेत केवल अर्थपर्याय ही है, व्यजनपर्याय नहीं, क्योंकि व्यजनपर्याय यानी शब्दसापेक्ष शब्दप्रतिपाद्य पर्याय। जो पर्याय शब्द द्वारा प्रतिपाद्य होनेसे व्यजनपर्याय कहलाता हो वह वक्तव्य होनेसे अवक्तव्य कैसे कहा जा सकता है? इसीलिए अवक्तव्य और अवक्तव्यमिश्रित अन्तिम तीन भग व्यजनपर्यायमे सम्भव नहीं है। उसमे तो सिर्फ सविकल्प अर्थात् नास्ति और निर्विकल्प अर्थात् अस्ति ये दो भग ही हो सकते हैं और बहुत हुआ तो सविकल्प और निर्विकल्प उभयरूप तीसरा भग भी घटाया जा सकता है। इसी कारण सम्भवत अर्थपर्यायमे सात और व्यजनपर्यायमे दो भग कहे गये हैं।

पुरुष शब्दका व्यजनपर्याय पुरुषत्व और घट शब्दका घटत्व ये दोनों सदृश-पर्यायप्रवाहके रूपमे एक-एक होनेसे निर्विकल्प अर्थात् सामान्यरूप हैं, और प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न होनेवाले पर्यायोके द्वारा भिन्न होते रहनेसे सविकल्प अर्थात् विशेषरूप भी हैं। इस तरह ये दोनों पर्याय सविकल्प और निर्विकल्परूप होने पर भी अवक्तव्य नहीं हैं, क्योंकि ये पर्याय अनुक्रमसे पुरुष और घट शब्द द्वारा कहे जानेके कारण वक्तव्य हैं, परन्तु प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले जो शब्द-निरपेक्ष अर्थपर्याय हैं, उनमें तो अवक्तव्य आदि भग भी घटाये जा सकते हैं।

केवल पर्यायार्थिक नयकी देशना पूर्ण नहीं है ऐसा कथन

जह दवियमप्पियं तं तहेव अत्थि ति पज्जवणयररा ।

ण य ससमयपन्नवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥ ४२ ॥

अर्थ जो द्रव्य जिस प्रकारसे अपित अर्थात् उपस्थित हो वह द्रव्य वैसा ही है ऐसी पर्यायार्थिक नयकी देशना है, परन्तु द्रव्य-निरपेक्ष अर्थात् मात्र पर्याय नयमे पूर्ण होनेवाली वह देशना स्वसमयकी प्ररूपणा नहीं है।

केवल द्रव्यार्थिक नयकी देशनाका जो वक्तव्य है उसका युक्ति द्वारा कथन

१ यहाँ प्रस्तुत गाथाका जो अर्थ लिखा है वही ग्रन्थकारको विवक्षित है या नहीं, यह बहुत विचार करने पर भी निश्चित नहीं किया जा सक्ता है। टीकाकार श्री अमयदेवसूरि तथा श्री यशोविजयजी उपाध्यायने भी इस गाथाका अर्थ निश्चित रूपसे नहीं लिखा। उन्होंने भी कल्पनाएँ दौड़ाई हैं। अतः विचारकोंको परम्परा जाननेका प्रयत्न करना चाहिए। देखो 'द्रव्यगुणपर्यायनो रास' ढाल ४, दोहा १३।

पडिपुण्णजोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण ।

कुणइ य गुणपणिहाणं अणागयसुहोवहाणत्थं ॥ ४३ ॥

अर्थ युवावस्थाको प्राप्त पुरुष जैसे बचपनकी चेष्टासे लज्जित होता है, वैसे ही भावी सुख प्राप्त करनेके लिए गुणोंकी अभिलाषा करता है ।

विवेचन^१ पर्यायाधिक नय इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष रूपको ही स्वीकार करता है। अतः उसकी दृष्टिसे तीनो कालोमें स्थायी कोई तत्त्व नहीं है। वह केवल वर्तमान कालमें दीख पड़नेवाले स्वरूपको ही मानता है। इससे उसकी दृष्टिमें अतीत और अनागतके सम्बन्धसे रहित केवल वर्तमान वस्तु ही सत्य है, उसके मतमें प्रत्येक क्षणमें वस्तु भिन्न-भिन्न है। इससे उल्टा, द्रव्याधिक नय तीनो कालोमें स्थायी ऐसे एक ध्रुव तत्त्वको ही देखता है, फलतः उसकी दृष्टिमें त्रैकालिक भेद जैसी कोई वस्तु ही नहीं है ।

द्रव्याधिक नय एक त्रैकालिक स्थायी तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए युक्ति देकर कहता है कि जब कोई पुरुष युवावस्थाको प्राप्त होता है और गुण-दोषकी परीक्षा करने की बुद्धि उसमें आती है, तब उसे अपनी बाल्यावस्थाकी भूले याद आती है और उससे वह लज्जित होता है। इसी प्रकार उसका विवेक भावी सुख पानेकी दृष्टिसे उसे गुणकी उपलब्धि के लिए प्रेरित करता है। इस तरह युवावस्थामें भूतकालके दोषस्मरणसे होनेवाली ग्लानि और भावी सुखकी आशामेंसे उत्पन्न होनेवाली गुणरुचि ये दोनों युवावस्थामें विद्यमान पुरुषका भूत एव भविष्यके साथ सबब जोड़ती है, क्योंकि यदि वह पहले न होता और उसने भूल न की होती, तो आज वह लज्जित क्यों होता ? इसी प्रकार, यदि वह भविष्य में विलकुल रहनेवाला ही न हो, तो किसके सुखके लिए वह इस समय साधन-प्राप्तिकी इच्छा करता ? अतएव पुरुष तो ध्रुव ही है ।

इस तरह पहली देशना भेदस्पर्शी होनेसे मात्र ऊपर-ऊपरके बाल्य, जीवन आदि भावोंको अलग-अलग सत्य मानती है, और दूसरी देशना अभेदस्पर्शी होनेसे भीतरके त्रैकालिक ध्रुव अणुको सत्य मानती है। ये दोनों देशनाएँ अपने-अपने प्रदेशमें समर्थ होनेपर भी अलग-अलग रहें तो अवूरी ही है। इसीलिए यदि वे निरपेक्ष हों तो जैन प्ररूपणामें स्थान नहीं पा सकती ।

वस्तुतः पुरुष कैसे स्वरूपवाला है इसका कथन और उसके द्वारा जीवके स्वरूपका निश्चय

ण य होइ जोव्वणत्थो बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण ।

ण वि य अणागयवयगुणपसाहणं जुज्जइ विभत्ते ॥ ४४ ॥

जाइ-कुल-रूप-लक्षण-सण्णा-संबंधओ अहिगयस्स ।

बालाइभावदिट्ठविगयस्स जह तररा संबंधो ॥ ४५ ॥

तेहि अतीताणागयदोसगुणदुगुंछणऽब्भुवगमेहि ।

तह बन्ध-मोक्ख-सुह-दुक्खपत्थणा होइ जीवररा ॥ ४६ ॥

अर्थ युवावस्थामे विद्यमान पुरुष वालक नहीं है अर्थात् भिन्न है और वह मात्र भिन्न नहीं है, क्योंकि यदि वह भिन्न हो तो बालचरितसे लज्जित न हो । इसी तरह युवक और वृद्ध अत्यन्त भिन्न हो तो भावी आयुष्यके लिए गुणोंकी साधना भी नहीं घट सकती (अतः वे अभिन्न हैं) ।

जाति, कुल, रूप, लक्षण, नाम और सम्बन्धके द्वारा एकरूप ज्ञात होनेवाले और बाल आदि दृष्ट अवस्थाओंके द्वारा विनष्ट होनेवाले उस पुरुषको जिस तरहका संबन्ध घटित होता है;

तथा अतीत दोषकी जुगुप्सा एवं भावी गुणकी पसंदगीके द्वारा उस पुरुषका जिस प्रकारका सम्बन्ध घटित होता है, अर्थात् जिस तरह पुरुषमे भेदाभेदका सम्बन्ध निष्पन्न होता है, उसी तरह जीवमे बन्ध, मोक्ष, सुख एवं दुःखकी भावना होती है ।

विवेचन यहाँ पुरुषमे भेदाभेद दो तरहसे सिद्ध किया गया है । पहलेका ही उदाहरण ले । उसमे बालक और युवकके बीचका भेद स्पष्ट है । इस भेदके रहनेपर भी यदि भूत-वात्य एवं वर्तमान जीवनके बीच एक तत्त्व न हो, अथवा वर्तमान और भावी वृद्धत्वके बीच एक तत्त्व न हो, तो पूर्वके दोषके स्मरणसे युवावस्थामें जो लज्जा आती है और युवावस्थामे भावी सुखके लिए जो प्रयत्न देखा जाता है वह कभी सम्भव नहीं हो सकता । फलतः यही सिद्ध होता है कि पुरुष भेदाभेद उभयरूप है ।

जाति, कुल, रूप, तिल आदि लक्षण, नाम और दूसरे पुत्र-पिता आदिके सम्बन्ध पुरुषको अभिन्नरूप सिद्ध करते हैं, इसी भाँति बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जो कि एकके बाद एक जाकर चली जाती हैं, पुरुषको भिन्नरूप सिद्ध करती हैं। मात्र शरीरवर्ती जाति, कुल तथा बाल्य, यौवन आदि भाव ही पुरुषको भिन्नाभिन्नरूप सिद्ध करते हैं ऐसा नहीं है, परन्तु कतिपय आंतरिक भाव भी पुरुषका वैसा स्वरूप सिद्ध करते हैं। भूतकालीन दोषोंके प्रति धृणा और भावी गुणोंकी स्पृहा ये आन्तरिक भाव भी पुरुषका भिन्नाभिन्नरूप सिद्ध करते हैं।

पुरुषके भिन्नाभिन्न होने पर ही जैसे उक्त बाह्य और आन्तरिक सभी भावोंकी संगति हो सकती है, वैसे ही जीवतत्त्वको भिन्नाभिन्न माननेसे ही उसमें बन्ध और मोक्ष घटाये जा सकते हैं तथा उसमें दिखाई देनेवाली दुःखपरिहारकी एव सुख-प्राप्तिकी इच्छा और प्रवृत्ति भी घटाई जा सकती है। इसीलिए मनुष्यकी भाँति आत्मतत्त्व भी एकान्त भिन्न या एकान्त अभिन्न न होकर भिन्नाभिन्न उभयरूप है।

जीव एव पुद्गलके कथञ्चित् भेदाभेदका समर्थन

अण्णोण्णाणुगयाणं 'इमं व तं व' त्ति विभयणमजुत्तं ।

जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

रुआइ पज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।

ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्यम्मि ॥ ४८ ॥

अर्थ दूध और पानीकी तरह अन्योन्यमें ओतप्रोत पदार्थमें 'यह' और 'वह' ऐसा विभाग करना योग्य नहीं है। जितने विशेष पर्याय हो उतना अविभाग समझना चाहिए।

शरीरमें जो रूप आदि पर्याय हैं और जो पर्याय विशुद्ध जीवमें हैं उनका वर्णन अन्योन्यमें मिलित रूपसे ही ससारी जीवमें करना चाहिए।

विवेचन—'आत्मद्रव्यमें बन्ध-मोक्षका अधिकार और सुखप्राप्ति तथा दुःख-त्यागके प्रयत्नको घटानेके लिए पुरुषके दृष्टान्तसे भेदाभेद अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किया गया है, परन्तु यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि दार्ष्टान्तिक एक ही आत्मद्रव्य में भेदाभेद सिद्ध करनेका है। इसलिए दृष्टान्त भी भेदाभेदके निश्चय-वाला कोई एक ही तत्त्व होना चाहिए। किन्तु यहाँ तो उल्टा है। पुरुष मात्र देह या मात्र तद्गत जीव नहीं है, परन्तु वह तो जीव और देह उभयरूप है। बाल्य,

जीवन, वार्यस्य आदिभिन्न-भिन्न अवस्थाएँ जिस पुरुषमें भेद दिखलाने के लिए ली गई हैं वे तो देहगत होनेसे देहका भेद दिखला सकती हैं, और भूत दोषोंका स्मरण अथवा भावी गुणकी स्पृहा आदि जो भाव पुरुषमें अभेद दिखलानेके लिए लिये गये हैं, वे तो मात्र जीवके ही धर्म होनेसे उसीका अभेद दिखला सकते हैं। अतएव पुरुषके दृष्टान्तमें जो भेद कहा वह तो उसकी देहमें है और जो भेद कहा वह तो देहगत जीवमें है, परंतु किसी पुरुष नामक एक तत्त्वमें भेदाभेद नहीं है। तो फिर इस दृष्टान्तको लेकर आत्मद्रव्यमें भेदाभेद किस तरह सावित किया जा सकता है ?

ऐसी शकाका उत्तर देनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जीव और देह दूध-पानीकी भाँति एक-दूसरेमें ऐसे ओतप्रोत हैं और एक-दूसरेके प्रभावसे ऐसे वद्ध हैं कि उन दोनोंको 'यह देह और वह जीव' ऐसा देशकृत भाग करके अलग किया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, जिन बाल्य, जीवन आदि अवस्थाओंको और वर्ण, गन्ध आदि गुणोंको देहधर्म माना जाता है, वे मात्र देहके ही धर्म हैं और उन धर्मों पर जीवका कोई भी असर नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी तरह जिन ज्ञान, स्मरण, सुख, दुःख आदि भावोंको जीवके पर्यायके रूपमें लिया जाता है वे पर्याय मात्र जीवके हैं और उन पर देहका कोई भी असर नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ससारी जीवमें शरीरगत या आत्मगत जिन पर्यायोंका अनुभव होता है वे सब कर्मपुद्गल और जीव उभयके संयोगके परिणाम हैं। अतः उन्हें किसी एकके न मानकर उभयके ही मानना चाहिए। इसलिए तथ्याकथित देहगत पर्याय पुद्गलके अतिरिक्त जीवके भी हैं और तथ्याकथित जीवगत पर्याय जीवके होनेके अतिरिक्त देहके भी हैं। ऐसा होनेसे बाल्य, जीवन आदि भाव देहकी भाँति तद्गत जीवमें भी भेद दिखलाते हैं, और भूतस्मरण आदि भाव जीवके अतिरिक्त उसके आश्रय-भूत शरीरमें भी अभेद दिखलाते हैं। अतः जीव एव देह उभयरूप पुरुषमें भेदाभेद है, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है।

जीव और उसके आश्रयभूत देहका देशकृत विभाग शक्य न होने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे दोनोंके लक्षण भिन्न होनेसे दोनों भिन्न तो हैं ही। ससार-अवस्थाके सभी जीवपर्याय कर्मावीन होनेसे और सभी कर्मपुद्गलकृत सूक्ष्म-स्थूल पर्याय जीवाधीन होनेसे जीव एव कर्मशरीरके जितने पर्याय हो सकते हैं, वे सब अविभक्त रूपसे ओत-प्रोत जीव और कर्म दोनोंके मानने चाहिए।

इस कारण पुरुषरूप दृष्टान्त तथा आत्मद्रव्यरूप दार्ष्टान्तिकमें अपेक्षित साम्य है ही। आत्मा अमूर्त है, तो फिर मूर्त कर्मपुद्गलके साथ उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर वस्तुस्वभावमें है।

जीव और पुद्गल द्रव्यकी ओतप्रोतताके कारण कैसे कैसे शास्त्रीय व्यवहार होते हैं इसका कथन—

एवं 'एगे आया एगे दंडे य होइ किरिया य' ।

करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविच्छेदा ॥ ४६ ॥

अर्थ ऐसा होनेसे 'एक आत्मा, एक दण्ड और एक क्रिया' ऐसा व्यवहार सिद्ध होता है, तथा करणविशेषके कारण त्रिविध योगकी सिद्धि भी अविच्छेद है ।

विवेचन स्थानाग आदि शास्त्रोमे 'आत्मा एक है, दण्ड एक है, क्रिया एक है' ऐसा भी व्यवहार हुआ है । इसी तरह आत्मामे योग तीन प्रकार का है ऐसा भी शास्त्रकथन है । यह सब जीव और पुद्गल द्रव्यको अत्यन्त भिन्न माननेसे नहीं घट सकता, क्योंकि दण्ड अर्थात् मन-वचन-काया और ये तीन तो पुद्गल-स्कन्धरूप होनेसे वस्तुतः अनेक पुद्गल द्रव्य हैं । इसी भाँति क्रिया भी मन, वचन एव शरीरके आश्रित होनेसे अनेक है । अतः इन अनेकोको एक कैसे कह सकते हैं ? इसी प्रकार योग अर्थात् स्पन्दमान आत्मवीर्य, इसे त्रिविध भी कैसे कह सकते हैं ? यह वीर्य आत्मरूप होनेसे या तो एक कहा जा सकता है या फिर शक्तिके रूपमे अनन्त कहा जा सकता है, परन्तु उसे त्रिविध तो कैसे कह सकते हैं ?

परन्तु आत्मा और पुद्गल द्रव्य का परस्पर अभेद माननेसे ऊपरके प्रश्नमें सूचित विरोधके लिए अवकाश ही नहीं रहता । मानसिक, वाचिक एव कायिक द्रव्यके अनेक होनेपर भी तथा तदाश्रित क्रियाओके अनेक होनेपर भी एक आत्मतत्त्वके साथ सम्बद्ध होनेसे उन द्रव्यों एव क्रियाओको भी जो 'एक दण्ड, एक क्रिया' ऐसा कहा है, वह घटित होता ही है । इसी प्रकार मन, वचन एव शरीररूप त्रिविध पुद्गलात्मक करण— राधेनके सम्बन्धसे आत्मवीर्यको भी त्रिविध योगरूप कहनेमे कोई बाध नहीं है ।

अमुक तत्त्व बाह्य है और अमुक आभ्यन्तर है ऐसे विभागके बारेमे स्पष्टीकरण

ण य बाहिरओ भावो अब्भतरओ य अत्थि समयम्मि ।

णोइंदियं पुण पडुव्व होइ अब्भंतरविसेसो ॥ ५० ॥

अर्थ सिद्धान्तमे बाह्य और आभ्यन्तर भाव ऐसा भेद नहीं है, परन्तु नोइन्द्रिय अर्थात् मनके कारण आभ्यन्तरताका विगोप है ।

विवेचन— सुख, दुःख आदिका अनुभव करनेवाला कोई तत्त्व आन्तरिक ही है और रूप आदि गुणोको धारण करनेवाला पुद्गल बाह्य ही कहलाता है। अब यदि पहले कहा, उस तरह आत्मा और पुद्गलका परस्पर प्रवेश माना जाय, तो जीवमे प्रवेशके कारण पुद्गल आन्तरिक कहा जाना चाहिए तथा पुद्गलमे प्रवेशके कारण जीव बाह्य कहलाना चाहिए। और यदि ऐसा हो तो बाह्य-आन्तरिकताकी जो व्यवस्था है वह जैन शास्त्र में कैसे घटेगी? ऐसी शकाका उत्तर यहाँ दिया गया है।

जैन शास्त्रमे अमुक पदार्थ बाह्य ही है और अमुक नियत पदार्थ आन्तरिक ही है ऐसा कोई स्वाभाविक विभाग नहीं है। उसका ऐसा कहना है कि जो मात्र मनका विषय होनेसे बाह्य इन्द्रियो द्वारा ग्रहीत नहीं होता वह आन्तरिक और जो बाह्य इन्द्रियोसे ग्रहण किया जा सके वह बाह्य। इस व्याख्याके अनुसार पुद्गल भी आन्तरिक हो सकता है और जीव भी बाह्य कहा जा सकता है। जो कर्म आदि पुद्गल बाह्य इन्द्रियो के विषय नहीं हैं वे आन्तरिक ही हैं और आत्मा सूक्ष्म होने पर भी पुद्गल द्वारा उसकी चेष्टाएँ बाह्य इन्द्रियोसे जानी जा सकती हैं, अतः देह-धारीके रूपमे वह बाह्य भी है।

प्रत्येक नयकी देशनाके अनुसार क्या-क्या फलित होता है उसका कथन—

द्वद्विद्यस्स आया बंधइ कम्मं फलं च वेएइ ।

वीयन्स भावभेत्तं ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ ५१ ॥

द्वद्विद्यस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा ।

अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयरत्ता ॥ ५२ ॥

अर्थ—द्रव्यास्तिक नयकी दृष्टिसे आत्मा है, अतः वह कर्म बाँधता है और फलका अनुभव करता है। दूसरे पर्यायास्तिक नयकी दृष्टिसे सिर्फ उत्पत्ति है, इससे न तो कोई बन्ध करता है और न कोई फल भोगता है।

द्रव्यास्तिक नयकी दृष्टिसे जो करता है वही अवश्य भोगता है। पर्यायास्तिक नयकी दृष्टिसे करता है अन्य और भोगता है अन्य।

विवेचन—द्रव्यास्तिक नय स्थिर तत्त्व स्वीकार करता है। अतः उसकी देशनाके अनुसार कर्म बाँधनेवाला और भोगनेवाला कोई एक आश्रय है ऐसा कहनेके लिए तथा जो कर्म बाँधता है वही फल भोगता है ऐसा कहनेके लिये अवकाश है, परन्तु पर्यायास्तिक नयकी देशनाके अनुसार तो इतना भी कहनेके लिए अवकाश नहीं है, क्योंकि वह क्षणिकवादी होनेसे उसके मतमे वस्तु उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षणमे नष्ट

हो जाती है। अतः करनेवाला कौन और भोगनेवाला कौन ? यदि उत्पत्तिकालमें ही कर्तृत्व या भोक्तृत्व माने, तो भी अधिकसे अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि करनेवाला कोई एक है और भोगनेवाला कोई दूसरा है।

पहली देशनामें आश्रय स्थिर होनेसे एकमे कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी कल्पनाको स्थान है, फिर भी उसमें एक क्षति यह रहती है कि यदि आत्मा ऐकान्तिक कूटस्थ हो तो वह स्थिर होनेके कारण अवस्थाभेद कैसे प्राप्त कर सकता है ? और वैसे किये बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व कैसे घट सकता है ? इस क्षतिको दूर करनेके लिए उसे दूसरी देशनाका अवस्थाभेदवाद मानना चाहिए। दूसरी देशनामें कोई एक ऐसा स्थिर आश्रय ही नहीं है कि जहाँ भिन्न-भिन्न समयभावी कर्तृत्व-भोक्तृत्व घटाया जा सके। अतः उसे भी स्थिरतात्त्व स्वीकार करनेके लिए पहली देशनाका आश्रय लेना चाहिए। ऐसा होनेसे जैनशास्त्रमें इन दोनों देशनाओंको स्थान है।

जैन दृष्टिसे देशना कैसी है इसका कथन

जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जन्तेसु होन्ति एएसु ।

सा ससमयपण्णवणा तित्थयराऽऽसायणा अण्णा ॥ ५३ ॥

अर्थ—इन दोनों नयोंके संयुक्त होनेके कारण वक्तव्य वस्तुको जतानेवाले विचार एवं वाक्यके जो प्रकार होते हैं वे स्वसमय अर्थात् जैन दृष्टिको देशना है, दूसरी तीर्थंकरकी आशातना है।

विवेचन—द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों निरपेक्ष नयोंकी देशना वस्तुका सम्पूर्ण स्वरूप प्रकाशित नहीं करती, अतः वह अवूरी और मिथ्या है। इससे उल्टा, एक-दूसरेकी मर्यादाका स्वीकार करके प्रवृत्त होनेवाले इन दोनों नयोंकी सापेक्ष दृष्टि वस्तुका सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट करती है, अतः वह पूर्ण और यथार्थ है। ऐसी दृष्टिमेंसे जो विचार या वाक्य फलित होते हैं वे ही जैन-देशना हैं। जैसे कि आत्माके नित्यत्वके बारेमें वह अपेक्षाविशेषसे नित्य भी है और अनित्य भी है, मूर्तत्वके बारेमें वह कथंचित् मूर्त है और कथंचित् अमूर्त है, शुद्धत्वके बारेमें वह कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध है, परिमाणके बारेमें वह कथंचित् व्यापक और कथंचित् अव्यापक है, सख्याके बारेमें वह कथंचित् एक और कथंचित् अनेक है—ऐसे अनेक मुद्दोंके विषयमें वाक्य और विचार।

ऐसे समन्वयमूलक विचार और वाक्य यदि प्रमाणमूलक हों, तभी वे जैन देशनामें स्थान पाते हैं, मात्र भिन्न-भिन्न मतोंकी संग्राहक ऐसी प्रमाणविशुद्ध उदारता-के कारण नहीं। अतः ऐकान्तिक अथवा ऊपर-ऊपरसे समन्वयसूचक दिखाई देनेवाले

वाक्य भी प्रमाणवाधित होनेसे जैन दृष्टिको अवज्ञा ही करते हैं। जैसे कि 'आत्मा नित्य ही है' अथवा 'आत्मा अनित्य ही है' ऐसा ऐकान्तिक विचार तथा 'आत्मा स्व-भावसे मूर्त है और पर-भावसे अमूर्त है,' 'स्वामाविक रूपसे वह अशुद्ध है, परन्तु औपाधिक रूपसे वह शुद्ध भी सम्भव है' आदि मिथ्या अपेक्षावाले समन्वयामासी विचार।

जैन दृष्टिको देशनामे अपवादको भी स्थान है इसका कथन

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पणवेज्ज अण्णयरं ।

परिकम्मणाणिमित्तं दाएही सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

अर्थ अभिज्ञ वक्ता पुरुषसमूहको ध्यानमे रखकर दोमेसे किसी एक नयकी देशना करे, क्योंकि वह वक्ता श्रोताकी बुद्धिको संस्कारी बनानेके लिए विशेष भी बताएगा।

विवेचन जैन दृष्टिके अनुसार यह सच है कि अनेकान्तबोधक वाक्य कहने चाहिए, फिर भी बहुत बार श्रोताओका अधिकार देखकर एक नयाश्रित वाक्य भी कहनेमे कोई बाध नहीं है। अनेकान्तकुशल वक्ता जब ऐसा देखे कि भिन्न-भिन्न सस्कारवाले अनेक श्रोता हैं, अथवा ऐसा देखे कि अमुक श्रोता द्रव्यवादको तो अमुक श्रोता पर्यायवादको तो मानता ही है, तब वह अस्वीकृत अशका ही श्रोताके समक्ष प्रतिपादन करता है। इसलिए कभी वह द्रव्यवादी श्रोताके समक्ष मात्र पर्यायका और पर्यायवादी श्रोताके समक्ष मात्र द्रव्यका स्थापन करता है, क्योंकि वह ऐसा समझता है कि ऐसा करनेसे श्रोताकी एक देशना तरफ झुकी हुई एकांगी बुद्धि दूसरी तरफके ज्ञानसे सस्कारी होगी और इसके परिणामस्वरूप वह अनेकान्त-दृष्टिका स्पर्श करेगी। ऐसी समझसे की गई एक नयकी देशनाको भी जैनशास्त्रमे स्थान है ही।

द्वितीय पाण्ड

दर्शन और ज्ञानका पृथक्करण

जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।

दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्यपज्जाओ ॥ १ ॥

अर्थ— सामान्यका जो ग्रहण वह दर्शन है और विशेषका ग्रहण ज्ञान है । ये दोनों इन दो नयोके अलग-अलग अर्थबोध है ।

विवेचन यहाँ जैनशास्त्रसिद्ध दो बातें कही हैं १ दर्शन एवं ज्ञानकी व्याख्या, और २ उनका नयोमें बँटवारा । किसी भी वस्तुका बोध करनेमें प्रवृत्त होना उस वस्तुको सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे ग्रहण करती है । उसका वह सामान्यग्रहण जैन परिभाषामें दर्शनके नामसे तथा विशेषग्रहण ज्ञानके नामसे प्रसिद्ध है ।

सामान्यग्राही दर्शन नामका व्यापार द्रव्यास्तिक दृष्टिका प्रेरक है और विशेषग्राही ज्ञान नामका व्यापार पर्यायास्तिक दृष्टिका प्रेरक है । अतएव दर्शन द्रव्यास्तिक नयमें तथा ज्ञान पर्यायास्तिक नयमें माना जाता है ।

एक ही विषय के बारेमें दर्शनकालमें तथा ज्ञान कालमें क्या-क्या अन्तर होता है इसका कथन

द्व्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ ।

उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं ॥ २ ॥

अर्थ आत्मा दर्शनके समय द्रव्यास्तिक अर्थात् सामान्यरूपसे भासमान होने पर भी औपशमिक आदि भावोंकी अपेक्षासे पर्यायास्तिक अर्थात् विशेषरूप भी होता है । ज्ञानके समय तो इससे उल्टा है, अर्थात् विशेषरूपसे भासित होने पर भी वह सामान्यरूप होता है ।

विवेचन अन्य विषय होया आत्मा हो, पर वे सब सामान्य-विशेष उभयात्मक होते हैं । इससे प्रश्न होता है कि जब चेतना उस विषयको सामान्यरूपसे ग्रहण

करती है और जब उसीको विशेष रूपसे ग्रहण करती है, तब इन दो स्थितियोंके बीच कुछ अन्तर होता है या नहीं ? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है।

दर्शन और ज्ञानकालमें ग्राह्य वस्तुमें कुछ खास फर्क नहीं पड़ता। फर्क पड़ता हो तो वह इतना ही कि जब अमुक विषय दर्शनमें सामान्यरूपसे भासित होता है तब उसका विशेष रूप कायम होनेपर भी वह उस समय भासित नहीं होता। इसी तरह ज्ञानकालमें विशेष रूप भासित होता है और सामान्य रूप कायम होनेपर भी उस समय वह भासित नहीं होता। उदाहरणार्थ आत्माको ले। वह जब सामान्य-ग्रहणमें चैतन्य आदि सामान्य स्वरूपसे भासित होता है, उस समय भी वह औप-गमिक, क्षायिक आदि भिन्न-भिन्न विशेषोंकी अपेक्षासे विशेषात्मक तो होता ही है, मात्र वे विशेष उस समय भासमान नहीं होते। इससे उल्टा, जब उक्त विशेष विशेषग्रहण कालमें भासमान होते हैं तब भी चैतन्य आदि सामान्य रूप तो होता ही है, पर उस समय वह भासमान नहीं होता। सारांश यह है कि दर्शनकालमें विषयका विशेष अश भासमान होनेसे गौण होता है, तो ज्ञानकालमें उसका सामान्य अश गौण होता है।

दर्शन और ज्ञानके समयभेदकी मर्यादाका कथन

मणपञ्जवर्णाणंतो णाणरस य दरिसणरस य विसेसो ।

केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं ॥ ३ ॥

अर्थ ज्ञान और दर्शनका विश्लेष अर्थात् कालभेद मन पर्याय-ज्ञान तक है, परन्तु केवलज्ञानके विषयमें दर्शन और ज्ञान ये दोनों समान हैं अर्थात् ये दोनों समकाल हैं अथवा एक है।

विवेचन दर्शन और ज्ञानकी पूर्वोक्त (प्रस्तुत काण्डकी प्रथम गायामे आई हुई) पारिभाषिक व्याख्या देखनेपर तथा दर्शनमें विशेषका और ज्ञानमें सामान्यका भान नहीं होता ऐसा कथन देखनेपर तीन प्रश्न होते हैं (१) क्या दर्शन और ज्ञान ये दोनों एक ही चेतनाके भिन्न-भिन्न समयमावी व्यापार हैं ? या (२) क्या ये दोनों एकसमयमावी व्यापार हैं ? या (३) क्या वे एक ही चेतना-व्यापारके ग्राह्य सामान्य-विशेषरूप विषयके भेदकी अपेक्षासे दो भिन्न-भिन्न नाम हैं ?

इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए ग्रन्थकार पहले जिसमें मतभेद नहीं है ऐसी बात रखते हैं और बादमें मतभेदवाली बातके बारेमें अपना सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।

जैन शास्त्रमे पाँच ज्ञान और चार दर्शन प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे मन पर्यायज्ञान तकके चार ज्ञान दर्शनोसे भिन्न समयमे होनेवाले हैं और इसीलिए वे दर्शनकी अपेक्षा भिन्न ही हैं। इतनी बात तो निर्विवाद है। अतः इस परसे ऐसा फलित हुआ कि छादस्थिक अर्थात् सावरण उपयोगमें ज्ञान और दर्शन दोनो उपयोग परस्पर भिन्न हैं, इतना ही नहीं, वे भिन्न-भिन्न समयवर्ती भी हैं। परन्तु निरावरण उपयोगके विषयमें ग्रन्थकार प्रचलित परम्परासे अपना मतभेद प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि केवलोपयोगके वारेमे ऐसा नहीं है। उसमे तो ज्ञान कहो या दर्शन कहो, दोनोका अर्थ तुल्य ही है। इस कथनका फलितार्थ यह है कि निरावरण चेतनाका उपयोग छादस्थिक उपयोगकी अपेक्षा भिन्न प्रकारका होता है। वह सामान्य एव विशेष दोनोका ग्रहण करता है और इसीलिए सामान्यग्रहण अशको लेकर वह दर्शन तथा विशेषग्रहण अशको लेकर वही ज्ञान कहलाता है। इससे फलित यह हुआ कि कैवल्य अवस्थामे दर्शन और ज्ञान ये दोनो उपयोग न तो भिन्न-भिन्न समयमे होनेवाले हैं और न एक ही समय मे भिन्न-भिन्न होनेवाले।

समालोचनाके लिए आगमिक क्रमवादी पक्षका उल्लेख

केइ भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो'त्ति । '

सुत्तमवलम्बमाणा तित्ययरासायणाभीरू ॥ ४ ॥

अर्थ—तीर्थंकरकी आशातनासे भयभीत होनेवाले और इसीलिए सूत्रका अवलम्बन लेनेवाले कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ जब जानते हैं अर्थात् विशेषका ग्रहण करते हैं तब दर्शन अर्थात् सामान्यका ग्रहण नहीं करते।

विवेचन ग्रन्थकार केवलोपयोगके वारेमें पूर्व-प्रचलित दो पक्षोंमेंसे पहले क्रमवाद पक्षको यहाँ लेते हैं और वह क्या मानता है यह कहते हैं। क्रमवादी मानता है कि वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि चेतना सामान्य और विशेषका ग्रहण एकसाथ कर ही नहीं सकती। अतः वह चाहे छादस्थिक हो या निरावरण, उसके दर्शन और ज्ञान दोनो व्यापार क्रमवर्ती ही होंगे। ऐसा कहनेमे क्रमवादीको खास आचार सूत्रपाठका है। सूत्रके उपदेशक तीर्थंकरोके मन्तव्य का लोप होनेसे उनकी आशातना न हो इस भयसे सूत्रको जो परम्परागत शब्दार्थ चला आता है, उसके आधार पर वे अपना पक्ष प्रस्थापित करते हैं। अपने पक्षकी पुष्टिमे वे कतिपय सूत्र उपस्थित करते हैं। जैसे कि

“केवली णं भंते ! इमं रयणप्पम पुढवि आगारेहि हेतूहि उव-
माहि दिट्ठतेहिं वण्णेहि सठाणेहि पमाणेहिं पडोयारेहिं, ज समयं
जाणति त समयं पासइ ? ज समयं पासइ तं समय जाणइ ?”

“गोयमा ! तो तिणट्ठे समट्ठे ।”

“से केणट्ठेण भते ! एव वुत्थति केवली ण इमं रयणप्पमं
पुढवि आगारेहिं ज समय जाणति नो तं समय पासति, ज समय
पासति नो त समय जाणति ?”

“गोयमा ! सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दसणे भवति ।
से तेणट्ठेण जाव णो त समय जाणति । एव जाव अहे सत्तम । एवं
सोहम्मकप्प जाव अच्चुय गेविज्जगविमाणा अणुत्तरविमाणा ईसी-
पम्भार पुढवि परमाणुपोग्गलं दुपदेसियं खघ जाव अणतपदेसिय
खंधं ॥”

प्रज्ञापना पद ३०, सूत्र ३१९, पृष्ठ ५३१

प्रश्न हे भगवन् ! केवली आकार, हेतु, उपमा, दृष्टान्त, वर्ण, सस्यान,
प्रमाण और प्रत्यवतारोके द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वीको जिस समय जानता है
उस समय देखता है ? और जिस समय देखता है उस समय जानता है ?

उत्तर हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्रश्न हे भगवन् ! केवली आकार आदि द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वीको जिस
समय जानता है उस समय देखता नहीं है और जिस समय देखता है उस समय
जानता नहीं है, इसका क्या कारण ?

उत्तर हे गौतम ! उसको ज्ञान साकार है और उसका दर्शन निराकार है ।
अतः वह जिस समय जानता है उस समय देखता नहीं है, और जिस समय देखता
है उस समय जानता नहीं है । इस प्रकार अधः सप्तमी पृथ्वी तक, सीधर्म कल्पसे
लेकर ईषत्प्राग्भारपृथ्वी तक तथा परमाणु पुद्गलसे अनन्तप्रदेश स्कन्ध तक जाननेका
और देखनेका क्रम समझना चाहिए ।

भगवतीसूत्रके १४वें शतकके १०वें उद्देशमे तथा १८वें शतकके ८वें उद्देशमे
इस प्रकारके अनेक सूत्र आते हैं ।

समालोचनाके लिए सहवादी पक्षका उल्लेख

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं ।
 तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयरंते ॥ ५ ॥
 भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण सम्भवइ ।
 तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं नत्थि ॥ ६ ॥
 सुत्तागि चव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं ।
 सुत्तासायणभीरुहि तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥
 संतम्मि केवले दंसणगि णाणररा संभवो णत्थि ।
 केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाई ॥ ८ ॥

अर्थ केवलज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले केवलज्ञानका जिस तरह होना घटता है, उसी तरह अपने आवरणके क्षयके पश्चात् केवलदर्शनका होना भी घटता है ।

कहते हैं कि क्षीण-आवरणवाले केवलीमें जैसे मतिज्ञान सम्भव नहीं होता, वैसे ही क्षीण-आवरणवालेमें कालभेदसे दर्शन नहीं है ।

केवल सादि-अनन्त है ऐसा सूत्रमें ही कहा है । सूत्र की आशानासे डरनेवालेको उस सूत्र पर भी विचार करना चाहिए ।

केवलदर्शन होता है तब ज्ञानका सम्भव नहीं है तथा केवलज्ञानके समय दर्शनका भी सम्भव नहीं है । अतः ये दोनों अन्तवाले ठहरते हैं ।

विवेचन मुख्यतः युक्तिबलका अवलम्बन लेनेवाला एक दूसरा सहवादी पक्ष था । उसीको ग्रन्थकार यहाँ क्रमपक्षके सामने समालोचकके रूपमें रखकर उसके पाससे क्रमवादके विरुद्ध कहलाते हैं । यहाँ सहवादी क्रमवादीके सामने तीन दलीलें प्रस्तुत करता है । वे इस प्रकार हैं—

(१) जिस कारण अमुक क्षण में केवलज्ञान है उसी कारण उसी क्षण में केवलदर्शन होना ही चाहिए । केवलज्ञान होनेका कारण यदि उसके आवरणका क्षय है, तो आवरणक्षय समान होनेसे उसी क्षणमें केवलदर्शन क्यों नहीं हो सकता ? सच बात तो यह है कि जैसे वस्तुस्वभावके कारण अनावृत सूर्य एक ही साथ गरमी और प्रकाश फैलाता है, वैसे ही निरावरण चेतना एक ही साथ ज्ञान एवं दर्शन क्यों न प्रकट

करे ? (२) समग्र ज्ञानावरण कर्मों का क्षय करनेपर भी जैसे केवलीमें मति, श्रुत आदि ज्ञान केवलज्ञानसे भिन्न सम्भव नहीं है, वैसे ही दर्शनावरण कर्मका क्षय होनेपर भी केवलीमें ज्ञानसे भिन्न समयमें दर्शन नहीं हो सकता । (३) आगममें केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनोंको सादि-अनन्त कहा है और क्रमवादके अनुसार तो वे सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, क्योंकि क्रमवादमें केवलदर्शनके समय केवलज्ञानका और केवलज्ञानके समय केवलदर्शनका अभाव ही होता है । अतः उनके मतमें आगमविरोध स्पष्ट है । वह आगम इस प्रकार है

“केवलणाणी ण पुच्छा ।”

“गोयमा । सातिए अपज्जवसिए” ।

प्रज्ञापना पद १८, सूत्र २४१, पृ ३८९

प्रश्न है भगवन् । केवलज्ञानी केवलज्ञानी इस तरह कालकी दृष्टिसे कहाँसे कहाँ तक कहा जा सकता है ?

उत्तर है गौतम । केवलज्ञानी कालकी अपेक्षासे सादि और अपर्यवसित अविनाशी है ।

विरोधी पक्षको प्रश्न पूछकर सिद्धान्तका उपन्यास -

दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कररा पुव्वअरं ।

होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुए णत्थि उवओगा ॥ ६ ॥

अर्थ दर्शन और ज्ञानके आवरणका क्षय तुल्य होने पर भी दोनोंमेंसे प्रथम किसकी उत्पत्ति होगी ? ऐसा कोई पूछे तो जवाब यही देना पड़ेगा कि दोनोंकी साथमें उत्पत्ति होगी, तो उन्हें भी जानना चाहिए कि दो उपयोग नहीं है ।

विवेचन एकोपयोगवादी सिद्धान्ती सहवादीकी दलीलसे क्रमवादीको पराजित करनेके लिए प्रश्न पूछता है कि यदि केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण दोनोंका क्षय एक साथ ही हुआ है, तो प्रतिबन्धकका अभाव दोनोंके लिए समान होने पर तुम पहले किसकी उत्पत्ति मानोगे ? पहले केवलज्ञान और पीछे केवलदर्शन होगा ऐसा कहनेका कोई कारण नहीं है, फिर भी यदि तुम क्रमवादी ऐसा कहोगे, तो तुम्हारा प्रतिपक्षी ऐसा क्यों नहीं कहेगा कि पहले केवलदर्शन और पीछे केवलज्ञान प्रकट होगा । अतः तुम इस प्रश्नका स्पष्टीकरण करो कि दोनों उपयोगोंका कारण आवरणक्षय एक ही समयमें होनेपर भी उत्पत्तिमें क्रमका कारण क्या है ?

क्रमवादकी यह कठिनाई सहवादमे नहीं है, क्योंकि वह इन दोनों उपयोगोंकी उत्पत्ति एक ही क्षणमे तथा एक ही साथ स्वीकार करता है। फिर भी सहवाद भी युक्तिसंगत नहीं है, ऐसा सूचित करनेके लिए सिद्धान्ती उससे कहता है कि भले पुम्हारे पक्षमे क्रमवादकी तरह उत्पत्तिक्रमका दोष न हो, तथापि तुम जो उपयोग-भेद मानते हो वही गलत है। वस्तुतः केवलदर्शामे एक ही उपयोग है।

विरोधी पक्षके ऊपर सिद्धान्ती द्वारा दिये गये दोष—

जइ सव्वं सायारं जाणइ एकसमएण सव्वण्णु ।
 जुज्जइ सया वि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ ॥ १० ॥
 परिसुद्धं सायारं अवियत्तं दंसणं अणाधारं ।
 ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं ॥ ११ ॥
 अद्विद्धं अण्णायं च केवली एव भासइ सया वि ।
 एगसमयगिं हंदी वयणवियप्पो न संभवइ ॥ १२ ॥
 अण्णायं पासंतो अद्विद्धं च अरहा वियाणंतो ।
 किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णु त्ति वा होइ ॥ १३ ॥
 केवलणाणमणंतं जहेव तह दसणं पि पण्णत्तं ।
 सागारग्गहणाहि य णियमपरित्तं अणागारं ॥ १४ ॥

अर्थ यदि सर्वज्ञ एक समयमे सर्व साकार जानता है, तो उस तरह सदा ही होना चाहिए अथवा सब नहीं जानता है।

साकार अर्थात् ज्ञान परिशुद्ध व्यक्त होता है, जब कि अनाकार अर्थात् दर्शन अव्यक्त होता है। परन्तु क्षीण-आवरणवालेमे व्यक्त एवं अव्यक्तका भेद नहीं घट सकता।

केवली ही सदा अदृष्ट और अज्ञात बोलता है ऐसा प्राप्त होनेसे केवलीमे एक समयमे ही ज्ञात एवं दृष्ट वस्तुका उपदेश देनेकी मान्यता नहीं घटेगी।

अज्ञातको देखनेवाला और अदृष्टको जाननेवाला केवली क्या जाने और क्या देखे तथा वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?

जैसे केवलज्ञानको वैसे ही केवलदर्शनको भी अनन्त कहा है, परन्तु अनाकार अर्थात् दर्शन साकार ग्रहणकी अपेक्षा नियमत. अल्प विषयक ही ठहरेगा।

विवेचन सिद्धान्ती ग्रन्थकार अपना एकोपयोगवाद सिद्ध करनेके लिए दोनो पक्षोके ऊपर पाँच दोष एकसे देते हैं। वे इस प्रकार हैं

१ क्रमवाद हो या सहवाद, दोनोमे उपयोगभेदकी साम्यता समान होनेसे दोनोको इतना तो मानना ही पड़ेगा कि केवलज्ञानका विषय मात्र विगोप और केवलदर्शनका विषय मात्र सामान्य है, अर्थात् इन दोनो वादोमे केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप दोनो उपयोग, मति आदि ज्ञान की भाँति, सम्पूर्ण विषयमेसे सिर्फ एक-एक भागके ग्राहक होते हैं। इतना मानने पर इन दोनो वादोमे कोई भी एक उपयोग सर्वग्राहक न होनेसे इनके मतमे सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व किस तरह घट सकेगा? अब यदि इसे घटानेके लिए प्रत्येक समयमे सम्पूर्ण जगत्को हर एक उपयोग सामान्य-विगोप उभयरूपसे ग्रहण करता है ऐसा माना जाय, तो सर्वदाके वास्ते सर्वज्ञत्व एव सर्वदर्शित्व घटानेके लिए इसी प्रकार एक उपयोग द्वारा सर्व वस्तुओका ग्रहण मानना ही पड़ेगा, और ऐसा माननेपर एकोपयोगवादको स्वीकार हो जायगा।

२ साँकार ग्रहण और निराकार ग्रहणमें अंतर इतना ही है कि पहला व्यक्त होता है, जबकि दूसरा अव्यक्त। अब यदि केवलीमे आवरणका सर्वथा विलय हुआ है, तो उसके उपयोगमे व्यक्तता और अव्यक्तताका भेद कैसे हो सकता है? क्योंकि यह भेद तो आवरणकृत है।

३ आगममे केवलीके बारेमे कहा गया है कि वह प्रत्येक समयमे ज्ञात एव दृष्ट वस्तुका ही कथन करता है। यह आगमकथन क्रमवाद या सहवाद किसी भी एक पक्षमें सगत नहीं हो सकता। क्रमवादमे अमुक समयमे जो ज्ञात है वह उस समयमें दृष्ट नहीं है और दूसरे समयमे जो दृष्ट है वह ज्ञात नहीं है। अतः केवली जो जो भाषण करेगा वह अपने बोधके अनुसार ही करेगा। ऐसा होनेसे उसका भाषण अज्ञात और अदृष्टका होगा। सहवादमे दोनो उपयोग साथ ही प्रवृत्त होते हैं, तो भी दोनोकी विषयमर्यादा सामान्य एव विशेष रूपमे विभक्त होनेसे जो अज्ञात होगा वह दृष्ट नहीं होगा और जो दृष्ट होगा वह ज्ञात नहीं होगा। अतः इस वादके अनुसार भी केवली सर्वदा अदृष्ट एव अज्ञातभाषी ही सिद्ध होगा।

४ उपयोगभेद होनेसे क्रमवाद या सहवादमे ऐसा मानना पड़ेगा कि केवली अज्ञात अशको देखता है और अदृष्ट अशको जानता है। ऐसा माननेपर यही फलित

गेगा कि एक-एक भाग तो दोनो उपयोगोका विषय हुए बिना रह ही जाता है, तो फिर सर्वको जाननेसे सर्वज्ञत्व और सबको देखनेसे सर्वदर्शित्व जो माना जाता है वह कैसे पड़ेगा ? इससे तो उल्टा केवलीमे किञ्चिज्ज्ञत्व और किञ्चिद्दर्शित्व प्राप्त होगा ।

५ शास्त्रमे ज्ञान और दर्शन दोनोको अनन्त कहा है । अब यदि दोनो वादोके अनुसार उपयोगभेद माना जाय तो उपर्युक्त शास्त्रीय कथन सगत नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनाकारग्राही दर्शन साकारग्राही ज्ञानकी अपेक्षा अवश्य परिमित विषय-वाला ही होगा ।

एकोपयोग पक्षमे एक ही उपयोग सम्पूर्ण जगत्को सामान्य-विशेष उभयरूपसे प्रतिक्षण ग्रहण करता है । अतएव वही केवलज्ञान और वही केवलदर्शन कहलायेगा, जिससे उपर्युक्त एक भी दोष उसमे नहीं आता ।

क्रमवादी पक्ष द्वारा किया गया बचाव और उसका सिद्धान्ती द्वारा दिया गया उत्तर

भण्णइ जह चउणाणी जुज्जइ णियमातहेव एयं पि ।

भण्णइ ण पंचणाणी जहेव अरहा तहेयं पि ॥ १५ ॥

अर्थ क्रमवादी कहता है कि जिस तरह चतुर्जानी सिद्ध होता है उसी तरह यह भी समझना । सिद्धान्ती कहता है कि जिस तरह सर्वज्ञ पंचज्ञानी नहीं कहलाता उसी तरह यह भी समझना ।

विवेचन क्रमवादी कहता है कि जैसे कोई चार ज्ञानवाला छद्मस्य क्रमसे उपयोगमे प्रवृत्त होने पर भी चारो ज्ञानकी शक्ति सतत होनेके कारण सादि-अपर्यवसित ज्ञानवाला, सदा ज्ञानोपलब्धवाला, व्यक्त बोधवाला, ज्ञातदृष्टमापी तथा ज्ञाता एव द्रष्टा कहलाता है, वैसे ही उपयोगका क्रम होनेपर भी केवली भी शक्तिकी अपेक्षासे अपर्यवसित ज्ञान-दर्शनवान्, सदा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, व्यक्तबोधवान्, ज्ञात-दृष्टमापी, ज्ञाता एव द्रष्टा कहलायेगा । तो फिर उक्त दोष क्रमवादमे कैसे सम्भव हो सकते हैं ?

क्रमवादीके इस बचावका खण्डन करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि शक्तिकी अपेक्षासे केवलीमे विचार करना ठीक नहीं है, अन्यथा शक्ति होनेपर भी केवली पंचज्ञानी क्यों नहीं कहलाता ? इससे ऐसा मानना चाहिए कि सादि-अपर्यवसित

ज्ञान तथा सर्वज्ञ-सर्वदर्शित्व आदिका केवलीमे जो व्यवहार होता है वह लब्धि अर्थात् शक्तिकी अपेक्षासे नहीं, परन्तु उपयोगकी अपेक्षासे ही घटाना चाहिए।

पूर्वोक्त दृष्टान्तका विशदीकरण और उपसंहार

पण्णवणिज्जा भावा समत्तसुयणाणदंसणाविसओ ।

ओहिमणपज्जवाण उ अण्णोण्णविलक्खणा विसओ ॥ १६ ॥

तम्हा चउव्विभागो जुज्जड ण उ णाणदंसणजिणाणं ।

सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं जम्हा ॥ १७ ॥

अर्थ समस्त श्रुतज्ञानरूप बुद्धिका विषय शब्दप्रतिपाद्य भाव है और अवधि तथा मन-पर्यायिका विषय परस्पर विलक्षण ऐसे पदार्थ है।

अतएव जिनोके ज्ञान-दर्शनमें चार ज्ञानकी भाँति विभाग नहीं घटता, क्योंकि वह केवल, सर्वज्ञ, अनावरण, अनन्त और अक्षय है।

विवेचन छठी गायामे कहा गया है कि यदि केवलज्ञान और केवलदर्शनको मति आदिकी भाँति क्रमवर्ती माना जाय, तो वे अनुक्रमसे मात्र विशेषग्राही और मात्र सामान्यग्राही होनेसे असर्व-विषयक सिद्ध होंगे, और जो उपयोग असर्व-विषयक हों वह तो क्षीण-आवरणवालेमे, मति आदि की भाँति, सम्भव ही नहीं हो सकता।

इस कथनमें मति आदि के दृष्टान्त द्वारा क्रमवर्ती केवलोपयोगके असर्वार्यपनेकी आपत्ति सर्वज्ञमे दी गई है। अतः इस दृष्टान्तमे असर्वार्यपना किस तरह है यह बतलानेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि मति और श्रुतका विषय सिर्फ अमिलाप्य पदार्थ है, क्योंकि वे दोनों ज्ञान परिमित पर्यायसहित ही सर्व द्रव्योको जान सकते हैं। इसी तरह अवधिका विषय सिर्फ पुद्गल और मन पर्यायिका विषय मात्र चिन्तनोपयोगी मनोद्रव्य है, सभी द्रव्य नहीं। अतः चारो क्रमवर्ती ज्ञानोका परिमितविषय-ग्राहित्व स्पष्ट है।

असर्वार्यताके कारण तथा क्षयोपशम आदि कारणभेदसे मति आदि चार ज्ञानोमे जैसा परस्पर भेद है वैसा केवलज्ञान और केवलदर्शनमे क्रमसहित या क्रमरहित किमी भी तरहका परस्पर भेद नहीं हो सकता, क्योंकि वह न तो है असर्वार्य और न उसमे है क्षयोपशम आदि उक्त कारणभेद। अतएव सामान्य-विशेष उभयग्राही एक ही केवलबोध मानना चाहिए।

आगमविरोधका परिहार

परवत्तव्वयपक्ख। अविंसिद्धा तेसु तेसु सुत्तेसु ।

अत्यगईअ उ त्तैस विअंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

अर्थ उन उन सूत्रोमे परवक्तव्यके पक्ष जैसे ही अभ्युपगम अर्थात् वचन भासित होते हैं, अतः ज्ञाता पुरुष अर्थकी संगतिके अनुसार ही उन सूत्रोकी व्याख्या करे ।

विवेचन पूर्वोक्त युक्तियोंसे केवलज्ञान और केवलदर्शनका अभेद तो सिद्ध होता है, पर सूत्रके पाठोके साथ विरोध आता है उसका क्या करना ? क्योंकि केवलीमें उपयोगभेदके प्रतिपादक सूत्र स्पष्ट हैं। इस शकाका निवारण करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि एक बार वस्तु प्रमाणसे अमुकरूप सिद्ध होती हो और पीछेसे कुछ शास्त्रविरोध दिखाई पड़े, तो वैसे स्थान पर शास्त्रकी व्याख्या अन्य प्रमाणोके साथ विरोध न आये इस तरह करनी चाहिए । प्रस्तुतमे अनेक युक्ति-प्रमाणोसे अभेद सिद्ध होनेसे भेदप्रतिपादक शास्त्रीय वाक्योंकी व्याख्या कुशल पुरुष युक्ति-प्रमाणोको बाध न आये इस तरह करे । इसलिए जिन-जिन सूत्रोमे ज्ञान-दर्शनके भेदवोधक वचन हैं वे सब कणोद आदि अन्य दर्शनोंके मन्तव्य जैसे हैं । वे अन्य दर्शन असर्वज्ञमे ज्ञानोका जैसा अयुगपत्पना मानते हैं, वैसा ही भाव जैन सूत्रोमें भी वर्णित है । इससे 'ज समय जाणइ' आदि सूत्रमे केवलीपदका सर्वज्ञ अर्थ न करके श्रुतकेवली, अवचिकेवली और मन पर्यायकेवली ऐसा त्रिविध अपूर्ण-केवली अर्थ करना चाहिए । ऐसा अर्थ करनेपर उक्त सूत्रका भाव यो फलित होता है कि उक्त तीनों केवली जिस समय दर्शन करते हैं उस समय ज्ञान नहीं करते और जिस समय ज्ञान करते हैं उस समय दर्शन नहीं करते ।

अपने पक्षमे आनेवाली शकाका सिद्धान्ती द्वारा समाधान—

जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाण ।

तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्धि ॥ १९ ॥

अर्थ चूंकि मन-पर्यायज्ञानके विषयभूत द्रव्यसमूहोका दर्शन नहीं है, अतः मन पर्यायज्ञानको नियमसे ज्ञान ही कहा है ।

विवेचन यदि केवलोपयोग एक ही हो और उस एकमे ही ज्ञान-दर्शन दोनों शब्दोंका व्यवहार माना जाय, तो एक ही मन पर्याय-उपयोगमे भी इन दो शब्दोंका व्यवहार स्वीकार करके, केवलज्ञान और केवलदर्शनके भेदव्यवहारकी भाँति, मन - पर्यायज्ञान और मन पर्यायदर्शन ऐसा भेदव्यवहार क्यों नहीं किया गया ? इस आशंकाका उत्तर यहाँ सिद्धान्ती देता है।

मन पर्याय-उपयोगका विषय मनमे उपयोगी होनेवाले मनोवर्गणोंके स्कन्व है। यह उपयोग अपने ग्राह्य स्कन्वोंको विशेषरूपसे ही जानता है, सामान्यरूपसे नहीं। मन पर्याय द्वारा उक्त द्रव्योंका सामान्यरूपसे भान नहीं होता। इसीलिए शास्त्रमे उसे ज्ञान कहा है, दर्शन नहीं। केवलोपयोगके वारेमे इससे उल्टा है। वह एक होने पर भी जेय पदार्थोंको सामान्य और विशेष उभयरूपसे ग्रहण करता है। इसलिये उसमे दर्शन और ज्ञान दोनों शब्दोंका व्यवहार सगत है।

एक होने पर भी भिन्न कहनेका दूसरा कारण

चक्षु-अचक्षु-अवहिकेवलाण समयगिा दंसणवियप्पा ।

परिपट्टिया केवलणाणदंसणा तेण ते अण्णा ॥ २० ॥

अर्थ शास्त्रमे चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल रूपसे दर्शनके भेद कहे गये हैं, अतः केवलज्ञान और केवलदर्शन भिन्न हैं।

विवेचन युक्तिसे केवलोपयोग एक ही है ऐसा सिद्ध होनेपर भी केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों भिन्न हैं ऐसी मान्यताके रूढ़ होनेका कारण सिर्फ शास्त्र-व्यवहार ही है। जैन शास्त्रमे दर्शनके चार भेदोंमे केवलदर्शन भिन्न गिनाया गया है। यदि वस्तुतः भेद न होता तो शास्त्रकारोंने ही केवलज्ञान और केवलदर्शन को अलग-अलग क्यों कहा ? ऐसा प्रश्न हो सकता है, परन्तु इसका समाधान दिया जा चुका है और वह यह कि सामान्य और विशेष इन दो ग्राह्य अशोक भेदकी अपेक्षासे एक ही ग्राहक उपयोगमे दर्शन और ज्ञान शब्दका अलग-अलग व्यवहार शास्त्रकारोंने किया है, न कि ग्राहक उपयोगके भेदकी अपेक्षासे।

एकदेगीय मतका वर्णन

दंसणमोग्गहमेत्तं 'धडो' ति णिव्वण्णणा हवइ णाणं ।

जह एत्थ केवलाण वि विसेसणं एत्तियं चेव ॥ २१ ॥

दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि ।

तेण सुविणिच्छियामो दंसणणाणा णं अण्णत्तं ॥ २२ ॥

अर्थ जिस तरह अवग्रह मात्र दर्शन है और 'यह घट है' ऐसी निश्चयात्मक वर्णना अर्थात् मति ज्ञान है, उसी तरह यहाँ केवलज्ञान और केवलदर्शनके बारेमें भी उतना ही विशेष है ।

ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है, परन्तु दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता । अतः हम यथार्थरूपसे निश्चय करते हैं कि दर्शन और ज्ञानका (केवलमें) भेद नहीं है ।

विवेचन कोई दूसरा वादी केवलज्ञान और केवलदर्शनमें अभेद मानता है, परन्तु अभेदकी सिद्धिके लिए उसने जो दृष्टान्त दिया है वह सिद्धोन्तीको मान्य नहीं है । अतः उसका निराकरण करनेके लिए सिद्धोन्ती यहाँ एकदेशीके मतका उल्लेख करता है ।

एकदेशी कहता है कि जैसे मति-उपयोग एक होने पर भी उसका प्राथमिक अवग्रह अर्थात् निर्विकल्प भाग ही दर्शन है और वादका ईहा आदि सविकल्प भाग ज्ञान है, अर्थात् वस्तुतः मति नामक एक ही सुदीर्घ उपयोग-व्यापारमें पूर्ववर्ती अस्पष्टांश और उत्तरवर्ती स्पष्टांशके कारण ही दर्शन और ज्ञान ऐसे दो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वैसे ही यहाँ केवलके बारेमें समझना चाहिए । अर्थात् केवलोपयोग एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न ग्राह्यकी अपेक्षासे वह दर्शन और ज्ञान जैसे भिन्न-भिन्न नामसे व्यवहृत होता है ।

केवलीमें ज्ञान-दर्शनका अभेद वास्तविक माना जाय, तो एक शास्त्रीय नियमका बाध आता है और वह यह कि सर्वत्र ज्ञानको दर्शनके बाद ही माना है । अब यदि ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न हों, तो केवलीमें भी इसी क्रमके अनुसार दर्शनके पश्चात् ज्ञानकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, परन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी लब्धियाँ साकार-उपयोग अर्थात् ज्ञानके रूपमें ही प्रथम प्राप्त होती हैं । अतः केवल-लब्धिका आरम्भ भी साकारोपयोगसे होगा, और वैसे ही तो ज्ञानपूर्वक दर्शन मानना पड़ेगा । यह तो अस्वाभाविक है । स्वभाव तो ऐसा है कि कोई भी ज्ञाता वस्तुको सामान्यरूपसे ग्रहण करनेके बाद ही विशेषरूपसे ग्रहण करता है ।

१ श्री यशोविजयजीकी व्याख्याके अनुसार मूलमें पदच्छेद किया है, परन्तु सामासिक पद रखकर भी वही अर्थ फलित किया जा सकता है, जैसे- दंसणणाणाऽण्णत्तं (दर्शन-ज्ञानाऽनन्यत्वम्) ।

एकदेशीके द्वारा दिये गये दृष्टान्तकी समालोचना।

जइ श्रोत्रग्रहमेत्तं दंसणं ति मण्णसि विसेसियं णाणं ।

मइणाणमेव दंसणमेवं सइ होइ निष्फण्णं ॥ २३ ॥

एवं सेसिदियदंसणम्मि नियमेण होइ ण य जुत्तं ।

अह तत्थ णाणमेत्तं घेप्पइ चक्खुगि वि तहेव ॥ २४ ॥

अर्थ—अवग्रह मात्र दर्शन है और विशेषग्रहण ज्ञान है—यदि ऐसा तुम मानो तो इससे फलित होता है कि मतिज्ञान ही दर्शन है ।

इसी प्रकार शेष इन्द्रियोके दर्शनमे भी नियमसे फलित होगा, परन्तु यह युक्त नहीं है । अब यदि उसमे अर्थात् अन्य इन्द्रियोके विषयमे ज्ञानमात्र माना जाय, तो नेत्रके विषयमे भी वैसा ही मानना पड़ेगा ।

विवेचन एकदेशीसम्मत अभेद तो सिद्धान्तीको भी मान्य है, परन्तु उसके द्वारा दिया गया दृष्टान्त सिद्धान्तीको ग्राह्य नहीं है । इससे अपनी अरुचि दिखलानेके लिए उपर्युक्त दृष्टान्तको माननेपर क्या-क्या अनिष्ट प्राप्त होगा यह समालोचना द्वारा वह व्यक्त करता है ।

सिद्धान्ती एकदेशीको कहता है कि यदि तुम मतिके अवग्रहमात्र अशको दर्शन और विशेषग्रहणको ज्ञान मानोगे, तो चक्षुरिन्द्रियके विषयमे चाक्षुष-अवग्रह-मतिज्ञान ही चक्षुर्दर्शन है ऐसा फलित होगा । इसी तरह दूसरी इन्द्रियोके विषयमे भी होगा । अर्थात् श्रोत्रज-अवग्रह-मति ही श्रोत्रदर्शन तथा घ्राणज-अवग्रह-मति ही घ्राणदर्शन इत्यादि मानना पड़ेगा । परन्तु शास्त्रमे कही भी श्रोत्रदर्शन, घ्राणदर्शन आदि व्यवहार न होनेसे तथा श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान आदि व्यवहार होनेसे अवग्रहमे दर्शनकी मान्यता केवल चक्षुरिन्द्रिय तक ही है ऐसा यदि तुम कहोगे, तो इसके विरुद्ध हम ऐसा कह सकते हैं कि इस तरहका पक्षपात क्यों ? श्रोत्र आदिकी भाँति चक्षुके वारेमे भी दर्शनका व्यवहार मत मानो । अतः अवग्रहको दर्शन माननेपर तुम चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि कैसे घटाओगे ? तुम्हे या तो चक्षुर्दर्शनकी भाँति श्रोत्रदर्शन, घ्राणदर्शन आदि दूसरी इन्द्रियोके दर्शन भी मानने पड़ेंगे^१, या फिर चक्षु-

१ सिद्धान्ती जिस एकदेशीय मतकी समालोचना करता है वह एकदेशीय मत अचक्षुर्दर्शन शब्दका अर्थ उतना ही करता है जितना कि सिद्धान्ती । सिद्धान्ती अचक्षुर्दर्शनसे मात्र मनोदर्शन लेता है, चक्षुमित्र इन्द्रियोंका दर्शन नहीं, क्योंकि ऐसी मान्यताका उल्लेख श्वेतान्वर-दिगम्बर आगमिक या कर्मग्रन्थिक साहित्यमें देखा नहीं जाता ।

दर्शनकी मान्यताको भी परित्याग करना पड़ेगा । तात्पर्य यह कि शास्त्रमें चक्षुर्दर्शन एव अचक्षुर्दर्शन ऐसे जो दो नाम आते हैं, उनकी उपपत्ति तुम्हारे मतमें कठिन है ।

सिद्धान्तिका स्पष्टीकरण

गाणं अप्पुट्टे अविसे य अत्यस्मि दंसणं होइ ।

मोत्तूण लिगओ जं अणागयाईयविसेसु ॥ २५ ॥

अर्थ अनागत आदि विषयोंमें लिग अर्थात् हेतुके बलसे जो ज्ञान होता है उसे छोड़कर अस्पृष्ट एव अविषय ऐसे पदार्थमें होनेवाला ज्ञान दर्शन है ।

विवेचन यदि ज्ञान एव दर्शन उपयोगको परस्पर भिन्न न माना जाय तथा मतिके अवग्रहमात्र अशको भी दर्शन न कहा जाय, तो फिर शास्त्रमें जो चक्षुर्दर्शन एव अचक्षुर्दर्शन ऐसे दो नाम खास भिन्न-भिन्न उपयोगके अर्थमें प्रयुक्त देखे जाते हैं उनकी उपपत्ति तुम कैसे करोगे ?—इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए सिद्धान्ती अपना मत प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि ज्ञान एव दर्शन ये दो भिन्न-भिन्न प्रकारके उपयोग नहीं हैं, तथा मतिज्ञानके प्राथमिक अवग्रहमात्र अशको भी दर्शन कहना और इस तरह दर्शन शब्दके प्रयोगकी सार्थकता सिद्ध करना भी बराबर नहीं है । ऐसा होने पर भी शास्त्रमें प्रयुक्त इन दो शब्दोंकी अर्थमर्यादा ऐसी है कि जिससे इन दोनों शब्दोंके प्रयोगकी सार्थकता भी सिद्ध होती है और युक्तिसिद्ध अभिन्न उपयोग माननेमें भी कोई बाधा नहीं आती । इसके लिए दर्शन शब्दकी व्याख्या सिद्धान्तीने इस तरह की है अनुमान ज्ञानको छोड़कर जो अप्राप्यकारी चक्षु और मनके द्वारा ज्ञान होता है वही अनुक्रमसे चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन कहलाता है । इस व्याख्याके अनुसार आँखके साथ असन्निकृष्ट चन्द्र, सूर्य जैसे दूरस्थ पदार्थोंमें आँख जो ज्ञान पैदा करती है वह चक्षुर्दर्शन है, और किसी भी बाह्य इन्द्रियके विषय न बननेवाले परमाणु आदि सूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थोंमें मनके द्वारा जो चित्तनात्मक बोध होता है वह अचक्षुर्दर्शन है । अचक्षुर्दर्शनमें मात्र मनोजन्म ज्ञान लिया जाता है, दूसरी किसी इन्द्रियसे जन्म ज्ञान नहीं । इससे वस्तुतः फलित यह होता है कि अप्राप्यकारी इन्द्रिय दो है और इन दो इन्द्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञान ही चक्षुर्दर्शन एव अचक्षुर्दर्शन शब्दके प्रतिपाद्य हैं ।

अलवत्ता, इतना फर्क अवश्य है कि अप्राप्त पदार्थ-विषयक चक्षुर्जन्य सारा ज्ञान जैसे चक्षुर्दर्शन कहलाता है, वैसे इन्द्रियाग्राह्य-पदार्थ-विषयक सारा मनोजन्म ज्ञान

अचक्षुर्दर्शन नहीं कहलाता। इसीलिए 'अनुमानको छोड़कर' कहा है। हेतु द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य विषयके विविध अनुमान होते हैं। जैसे कि नदीमें आई हुई बाढ़को देखकर ऊपरके प्रदेशमें बरसात होनेको, खास तरहके बादल देखकर तत्काल बारिश होनेको तथा घुआँ देखकर रसोईघरमें आग होनेको अनुमान। ये सब अनुमान इन्द्रियाग्राह्य-विषयक मनोजन्य ज्ञान होनेपर भी अचक्षुर्दर्शन नहीं कहलाते। सारांश यह कि अचक्षुर्दर्शनसे सिर्फ मनोजन्य भावनात्मक ज्ञान ही लेनेका है।

अतिप्रसङ्गका निवारण

मणपञ्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं ।

भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण धडादयो जम्हा ॥ २६ ॥

अर्थ उक्त व्याख्याके अनुसार मन पर्यायज्ञान दर्शन है ऐसा यहाँ मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा मानना योग्य नहीं है। कहते हैं कि ज्ञान नोइन्द्रिय अर्थात् मनके विषयमें ही प्रवर्तमान होता है, क्योंकि घट आदि उसके विषय नहीं हैं।

विवेचन 'इन्द्रिय द्वारा अस्पृष्ट या अग्राह्य विषयका ज्ञान ही दर्शन है' ऐसी दर्शनकी व्याख्या करनेपर तो मन पर्यायज्ञान भी दर्शन कहा जायगा, क्योंकि वह ज्ञान दूसरेके मन द्वारा चिन्तित जिन घट आदि पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है वे पदार्थ ग्राहक आत्मा अथवा उसके मनके साथ स्पृष्ट नहीं होते। यहाँ इष्टापत्ति करनेसे भी नहीं चल सकता, क्योंकि शास्त्रमें कही पर भी मन पर्यायके साथ दर्शन शब्दका प्रयोग नहीं देखा जाता। तो फिर उक्त व्याख्याके अनुसार व्यवस्था किस तरह होगी? इस शंकाका निवारण करनेके लिए सिद्धान्ती कहता है कि यह शंका ही ठीक नहीं है, क्योंकि जो ऐसा कहा जाता है कि मन पर्याय अस्पृष्ट घट आदि पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है, यही अन्त है। मन पर्यायका विषय परकीय मन द्वारा चिन्तित होनेवाले पदार्थ नहीं है, किंतु इन पदार्थोंकी चिन्तामें लगे हुए परकीय मनोद्रव्य ही है। यह सच है कि मन पर्यायज्ञानी दूसरेके द्वारा चिन्तित बाह्य पदार्थोंका ज्ञान करता है, पर वह मन पर्यायज्ञानके द्वारा नहीं, बल्कि अनुमानके द्वारा। प्रथम तो वह परकीय मनोद्रव्यको साक्षात् जानता है, फिर उस परसे वह चिन्तित बाह्य पदार्थोंका अनुमान करता है। मतलब कि चिन्तित पदार्थ मन पर्यायके विषय नहीं हैं और जो विषय है वे परकीय मनोद्रव्य तो सर्वथा अस्पृष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे द्रव्य

आहक आत्मा द्वारा स्पृष्ट मनोवर्गणोंके सजातीय होनेसे स्पृष्ट जैसे हैं। इसलिए मन पर्यायमे दर्शनका प्रसंग ही नहीं आता।^१

की गई व्यवस्थाका विशेष स्पष्टीकरण

मइसुयणाणणिमित्तो छउमत्ये होइ अत्थउवलम्भो ।

एगयरगिा वि तेसि ण दंसणं दंसणं कत्तो ? ॥ २७ ॥

अर्थ छद्मस्थमे मति और श्रुत ज्ञानके कारण अर्थका उपलम्भ होता है, उन दोनोंमेंसे एकमे भी दर्शन न हो तो दर्शन कैसे धटेगा ?

विवेचन एक तरफ युक्तिसे दर्शन और ज्ञान ये दोनों अभिन्न हैं ऐसा सिद्ध होता है, तथा मात्र अवग्रहरूप ज्ञान दर्शन है ऐसी व्यवस्था (गा २१) भी विरोधसे विमुक्त नहीं है, और दूसरी तरफ, छद्मस्थमे मति एव श्रुतके कारण ही अर्थप्रतीति मानी जाती है। अब यदि मति और श्रुत इन दोनोंमेंसे किसी एक उपयोगमे दर्शन शब्दके अर्थकी मर्यादा अकित न की जाय तो शास्त्रीय परम्परागत दर्शन शब्दका व्यवहार ही कैसे सगत हो सकता है ? अतः पीछे दर्शनकी जो व्याख्या (गा २५) देकर उसके अर्थकी मर्यादा बाँधी गई है वह माननी ही चाहिए।

श्रुतज्ञान दर्शन क्यों नहीं कहा जा सकता ? इस शकाका उत्तर

जं पच्चवखग्गहणं ण इन्ति सुयणाणसगिाया अत्था ।

तम्हा दंसणसदो ण होइ सयले वि सुयणाणे ॥ २८ ॥

अर्थ श्रुतज्ञान द्वारा गृहीत पदार्थ जिस कारण प्रत्यक्ष ग्रहणको प्राप्त नहीं होते, उसी कारण सभी श्रुतज्ञानमे दर्शन शब्द लागू नहीं होता।

विवेचन 'इन्द्रियो द्वारा अस्पृष्ट और अग्राह्य विषयोंका अनुमानसे मित्र ज्ञान दर्शन है' ऐसी व्याख्याके अनुसार तो श्रुतज्ञान भी दर्शन हो जायगा, क्योंकि उसके सभी विषय स्पृष्ट या इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। तो फिर मतिकी भाँति श्रुतमे भी दर्शन शब्द क्यों न लागू हो ? इस शकाका जवाब इतना ही है कि यह सच

१ यहाँ जो विवेचन किया है उसमें मुख्यतया उपाध्याय यशोविजयजीकी व्याख्याका अनुसरण है। श्री अमरदेवसूरि और उपाध्यायजी दोनों मन पर्यायदर्शनका निषेध अपने-अपने ढंगसे करते हैं, परन्तु स्वतंत्र दृष्टिसे सोचने पर यह प्रयत्न प्रतीतिकर मालूम नहीं होता।

है कि श्रुतज्ञान अस्पृष्ट विषयको ग्रहण करता है, पर प्रत्यक्षरूपसे नहीं किन्तु परोक्ष-रूपसे, और दर्शन शब्दकी उक्त व्याख्यामे तो 'प्रत्यक्षग्रहण' लेनेका है। इसलिए सारा श्रुतज्ञान 'दर्शन' शब्दकी अर्थमेयादीसे बाहर रहता है।

अवधिदर्शनकी मर्यादा

जं अप्रुढा भावा ओहिण्णाणेरा होंति पच्चवखा ।

तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्धो वि उवउत्तो ॥ २६ ॥

अर्थ चूँकि अस्पृष्ट पदार्थ अवधिज्ञान द्वारा प्रत्यक्षग्राह्य होते हैं, इसलिए अवधिज्ञानमे भी दर्शन शब्द प्रयुक्त हुआ है।

विवेचन उक्त व्याख्याके अनुसार अवधिदर्शन शब्दके शास्त्रीय व्यवहारकी युक्ततामे कोई वाधा नहीं आती, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा अस्पृष्ट एव अग्राह्य परमाणु आदि पदार्थोंको अवधिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण करता है। अतः दर्शनकी उक्त व्याख्यामे भी अवधिज्ञान आ जाता है।

एक ही केवलोपयोगमे ज्ञान-दर्शन शब्दकी उपपत्ति

जं अप्रुढे भावे जाणइ पासइ य केवली नियमा ।

तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥ ३० ॥

अर्थ चूँकि केवली नियमसे अस्पृष्ट पदार्थोंको जानता और देखता है, इसलिए भेदके बिना ही ज्ञान और दर्शन सिद्ध होते हैं।

विवेचन जो केवली होता है वह जगत्को सामान्य और विशेषरूपसे एक साथ अवश्य ही प्रत्यक्षके रूपमे ग्रहण करता है, और यह सारा जगत् तो उसकी आत्मा द्वारा स्पृष्ट नहीं है। इसीलिए सम्पूर्ण जगत्-विषयक उसका ग्रहण अस्पृष्ट-विषयक प्रत्यक्ष ग्रहण है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक ही ग्रहण अर्थात् उपयोग अपेक्षा-विशेषसे दर्शन एव ज्ञान दोनों शब्दका समान रूपसे वाच्य सिद्ध होता है। इस ग्रहणमे विशेषग्राहिताके कारण ज्ञानशब्द और सामान्यग्राहिताके कारण दर्शन शब्दका प्रयोग होता है। अतः दोनोंका प्रतिपाद्य उपयोग एक है, मात्र इन दोनोंके प्रवृत्तिनिमित्त धर्म उपयोगमे भिन्न है। इसलिए एकोपयोगवादमे किसी तरहकी अनुपपत्ति नहीं है।

शास्त्रमे आनेवाले विरोधका परिहार

साई अपज्जवसियं ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं ।

परतित्ययवत्तवं च एगसमयंतरुप्पाओ ॥ ३१ ॥

अर्थ स्वसिद्धान्तके अनुसार वे ज्ञान एव दर्शन दोनों सादि-
अनन्त हैं। ऐसा होनेसे शास्त्रमे जो एक समयके अन्तरसे उत्पत्ति सुनी
जाती है उसे परदर्शनका मन्तव्य समझना चाहिए।

विवेचन—युक्तिसे अभेद सिद्ध होनेपर भी शास्त्रविरोध तो रहता ही है,
क्योंकि 'जब केवली जानता है तब देखता नहीं है और जब देखता है तब जानता नहीं
है' ऐसा समयान्तरसे ज्ञान-दर्शनकी उत्पत्तिवाला कथन तो शास्त्रमे है ही। अतः
इस विरोधका क्या करना? इस प्रश्नका उत्तर सिद्धान्ती यहाँ देता है। वह
कहता है कि युक्तिसे ज्ञान एव दर्शन दोनों शब्दोंका प्रतिपाद्य जो एक ही उपयोग-
रूप अर्थ सिद्ध होता है वही स्वसिद्धान्त है। यदि एक बार स्वसिद्धान्त निश्चित
हुआ, तो फिर दूसरा विरोधी वर्णन नयवादसापेक्ष है ऐसा ही मानना चाहिए।
अतएव केवलज्ञान-दर्शनकी क्रमिक उत्पत्तिके जो वचन जैन प्रवचनमे दृष्टिगोचर
होते हैं वे दर्शनान्तरके मन्तव्य हैं ऐसा समझना चाहिए। शास्त्रमे सभी वर्णन
स्वसिद्धान्तके ही नहीं होते। उसमे बहुत-सी बातें ऐसी भी आती हैं जो स्वसिद्धान्तको
अमान्य और दर्शनान्तरको मान्य होती हैं। अतः इनको विवेक करके शास्त्रका
तात्पर्य खोजनेमे ही युक्तिकी सार्थकता है।

अभेदपक्षमे सादि-अनन्तताका कथन केवलरूपसे घटाना चाहिए, अर्थात्
प्रतिसमय उपयोगका उत्पाद और विनाश होनेपर भी वह केवलरूपसे ध्रुव यानी
अनन्त होनेके कारण सादि-अनन्त ही है।

श्रद्धाके अर्थमे प्रयुक्त दर्शन शब्दका स्पष्टीकरण

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणररा भावओ भावे ।

पुरिसरराभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥ ३२ ॥

सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दसणे उ भयणिज्जं ।

सग्गण्णाणं च इमं ति अत्यओ होइ उववण्णं ॥ ३३ ॥

अर्थ इस तरह जिनकियत पदार्थोंके बारेमे भावपूर्वक श्रद्धा
करनेवाले पुरुषका जो अभिनिबोधरूप ज्ञान होता है उसमे दर्शन शब्द
युक्त है।

सम्यग्ज्ञानमे नियमसे दर्शन है, परन्तु दर्शनमे सम्यग्ज्ञान विकल्प्य
है; अर्थात् है भी और नहीं भी है। इसीलिए सम्यग्ज्ञानरूप यह
सम्यग्दर्शन अर्थबलसे सिद्ध होता है।

विवेचन जैन शास्त्रमें 'दर्शन' शब्द एक खास पारिभाषिक शब्द है। इसकी जो परिभाषा की जाती है उसके अनुसार इसके दो अर्थ किये जाते हैं। एक तो साकारसे भिन्न निराकार उपयोग और दूसरा श्रद्धा। पहले अर्थके विषयमें ग्रन्थकारने अपना मतभेद प्रदर्शित करके उसके स्यान्तमें उसका क्या अर्थ मानना चाहिए यह पीछे सावित किया है; अर्थात् उन्होंने यह बतलाया है कि दर्शन शब्दका अर्थ ज्ञान शब्दके अर्थभूत साकार उपयोगसे भिन्न निराकार उपयोग नहीं है, परन्तु ज्ञानशब्दप्रतिपाद्य उपयोग ही अपेक्षा-विशेषसे दर्शन शब्दका प्रतिपाद्य बनता है। इसी प्रकार दूसरे अर्थके विषयमें अपना मतभेद प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार अपना मन्तव्य यहाँ स्पष्ट करते हैं। वह कहते हैं कि मोक्षके तीन उपायोमेंसे प्रथम उपायभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे जो भिन्न माना जाता है वह वस्तुतः भिन्न नहीं है। सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। अलवत्ता, यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि किस सम्यग्ज्ञानको सम्यग्दर्शन मानना? परन्तु इसका उत्तर यह है कि जिन-कथित तत्त्वोंके बारेमें जो अपायात्मक अर्थात् दृढ निश्चय हो वही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सम्यग्दर्शन एक विशिष्ट रूचिरूप है, परन्तु रचि ज्ञानसे कुछ भिन्न वस्तु नहीं है। जिनोक्त पदार्थोंके विषयमें जो वास्तविक और अटल निश्चय होता है वही भित्तिरूप ज्ञान रचि होनेसे सम्यग्दर्शन है। इसीलिए कर्मप्रकृतियोंमें दर्शनावरण और दर्शनमोहनीय इन दोनों स्यान्तोंमें दर्शन शब्दका अर्थ ज्ञानसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

यह तो सत्य ही है कि जो-जो सम्यग्ज्ञान है वे सब सम्यग्दर्शन हैं ही, किन्तु सभी दर्शन सम्यग्ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि जो दर्शन एकान्तविषयक रूचिरूप होता है वह मिथ्याज्ञान होनेसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता, मात्र अनेकान्तविषयक रूचिरूप दर्शन ही सम्यग्ज्ञान होता है। इससे अन्तमें फलित यह होता है कि जिनोक्त तत्त्व-विषयक यथार्थ दर्शन अनेकान्त-रूचिरूप होनेके कारण सम्यग्ज्ञानरूप ही है, न कि सम्यग्ज्ञानसे भिन्न। अतएव सम्यग्दर्शनके अभिलाषीको अनेकान्त-तत्त्वके अवधारणके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

सादि-अपर्यवसित शब्दमें हुई किसीकी भ्रान्तिका उल्लेख और उसका निवारण

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।

तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ३४ ॥

जे संघयणाईया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।

ते सिज्जमाणसमये ण होन्ति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ ।

केवलभावं तु पडुब्ब केवलं दइयं सुत्ते ॥ ३६ ॥

अर्थ सूत्रमे केवलज्ञान सादि-अपर्यवसित बतलाया है, इतने मात्रसे कोई गविण्ठ विशेष अर्थात् पर्यवसानरूप पर्याय नहीं मानते ।

भवस्थकेवलीमे सहनन आदि जो विशेष पर्याय होते हैं, वे सिद्ध होते समय नहीं रहते, इस अपेक्षासे वह केवल विगत अर्थात् नष्ट होता है ।

और यह (केवलबोधरूप) अर्थपर्याय सिद्धत्वके रूपमे उत्पन्न होता है, केवलभावके आधार पर सूत्रमे केवलको (अपर्यवसित) कहा है ।

विवेचन सादि यानी आदिवाला अर्थात् उत्पन्न होनेवाला, अपर्यवसित यानी पर्यवसानरहित अर्थात् नष्ट न होनेवाला अनन्त । सादि और अपर्यवसित शब्दका ऐसा अर्थ है, और सूत्रमें केवलज्ञान एव केवलदर्शन दोनोंको सादि-अपर्यवसित कहा है । यह देखकर कोई कोई आचार्य केवलज्ञान और केवलदर्शनमे सादि-अपर्यवसितपना घटानेके लिए ऐसा मानते हैं कि ये दोनो आवरण क्षयके अनन्तर उत्पन्न होनेसे सादि हैं, परन्तु पुन आवरण न आनेसे और आवरणके अभावके कारण क्षयका पुन सम्भव न होनेसे ये दोनो एक बार उत्पन्न होनेके बाद कभी नष्ट नहीं होते । मतलब कि केवलज्ञान एव केवलदर्शन दोनो एक बार उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु बादमे कभी नष्ट नहीं होते । इसी रूपमें उनका सादि-अपर्यवसितत्व है ।

ऐसा अर्थ घटानेवालेको सिद्धान्ती कहता है कि तुम तो सादि-अपर्यवसित शब्दार्थके मोहमे वस्तुतत्त्व ही भूल जाते हो और अन्यथा कल्पना करते हो । वस्तुतत्त्व क्या है और सादि-अपर्यवसितत्व घटानेके लिए सही कल्पना क्या है ? इस स्वामाविक प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है

जैन मतके अनुसार जो पदार्थ उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यात्मक न हो वह सत् ही नहीं है । केवलपर्याय सत् रूप होनेसे वह भी उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यात्मक

होना ही चाहिए। यह तो वस्तुस्थिति हुई। केवलीमें देहावस्थाके समय जो सहनन, परिमाण आदि देहगत विशेष होते हैं वे सिद्धि मिलते ही देहके साथ नष्ट हो जाते हैं। देहावस्थामें देहके दिखाई देनेवाले विशेष आत्माके भी हैं, क्योंकि देह और आत्मप्रदेशके बीच क्षीर-नीर जैसा सम्बन्ध होनेसे एकके पर्याय दूसरेके है ही। ऐसा होनेसे 'वे पर्याय नष्ट हुए' इसका अर्थ यह हुआ कि उस रूपसे आत्मा भी न रहा अर्थात् उस रूपमें वह नष्ट हुआ, और आत्मा केवलरूप होनेसे केवल भी नष्ट ही हुआ। और वही आत्मा सिद्ध हुआ अर्थात् सिद्धत्वपर्याय उसमें उत्पन्न हुआ, इससे वह केवल भी उत्पन्न हुआ। इस तरह भवपर्यायके नाश और सिद्धत्व पर्यायके उत्पादकी दृष्टिसे आत्माके पहलेके केवलज्ञान-दर्शन पर्यायका नाश और नवीन केवलज्ञान-दर्शन पर्यायका उत्पाद सिद्ध होता है। इसका मतलब यह हुआ कि केवलज्ञान एव केवलदर्शनपर्याय मात्र सादि ही नहीं है, किन्तु वे सपर्य-वसान भी हैं। यदि ऐसा है, तो शास्त्रमें उन्हें अपर्यवसित क्यों कहा है? इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि प्रतिक्षण ज्ञान-दर्शनपर्याय उत्पन्न एव नष्ट होनेपर भी केवलके रूपमें अर्थात् निरावरण सत्ताके रूपमें ध्रुव है। इसीलिए वह अनन्त है। अर्थात् केवलबोध एक बार अपूर्व उत्पन्न होनेसे सादि है और फिर बादमें पर्याय रूपसे उत्पाद और नाशवान् होने पर भी सत्तारूपसे ध्रुव होने के कारण अपर्यवसित है।

जीव और केवलके भेदकी आशका और उसका दृष्टान्तपूर्वक निरसन

जीवो अणाइणिहणो केवलणाणं तु साइयमणंतं ।
 इअ थोरणि॥ विसेसे कह जीवो केवल होइ ॥ ३७ ॥
 तम्हा अण्णो जीवो अण्णो णाणाइपज्जेवा तररा ।
 उवसमियाईलक्खणविसेसओ केइ इच्छन्ति ॥ ३८ ॥
 अह पुण पुव्वपयुत्तो अत्यो एगंतपक्खपडिसेहे ।
 तह वि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोअणं वोच्छं ॥ ३९ ॥
 जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसइवरिसो णराहिवो जाओ ।
 उभयत्थ जायसहो वरिसविभागं विसेसेइ ॥ ४० ॥
 एवं जीवद्द्व अणाइणिहणमविसेसियं जम्हा ।
 रायसरिसो उ केवलपज्जाओ तररा सविसेसो ॥ ४१ ॥

जीवो अणाइनिहणो 'जीव' ति य णियमग्नो ण वत्तव्वो ।

जं पुरिसाउयजीवो देवाउयजीवियविसिद्धो ॥ ४२ ॥

अर्थ जीव अनादिनिधन है और केवलज्ञान तो सादि-अनन्त है । इस तरहका बड़ा भेद होनेसे जीव केवलरूप कैसे हो सकता है ?

अत औपशमिक आदि लक्षणभेदके कारण जीव भिन्न है और उसके ज्ञान आदि पर्याय भिन्न हैं ऐसा कोई मानता है ।

- एकान्त पक्षके प्रतिषेधके समय यह बात पहले कही जा चुकी है, फिर भी हेतुका साध्यके साथ सम्बन्ध दरसानेवाला यह उदाहरण तो कहूँगा ।

जैसे, कोई साठ वर्षका पुरुष तीसरे वर्षमें राजा हुआ (ऐसा कहनेमें) दोनोंमें अर्थात् मनुष्य और राजामें प्रयुक्ता 'जात—हुआ' गण्य वर्षका विभाग बताता है,

वैसे ही किसी भी प्रकारके विशेषसे रहित जीव द्रव्य अनादिनिधन है । अतः राजसदृश जो केवली पर्याय है, वह तो उसका विशेष है ।

अनादिनिधन जीवको 'यह जीव ही है' अर्थात् मात्र सामान्यरूप ही है ऐसा एकान्तसे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुरुषायुष्क जीव देवायुष्क जीवसे भिन्न व्यवहृत होता है ।

विवेचन 'जीव केवलरूप है' इस अभेदकथनको असंगत बतानेके लिए कोई कहता है कि जीव द्रव्यरूप होनेसे अनादि-अनन्त है और केवल तो सादि-अनन्त पर्यायरूप है । दोनोंके बीच इतना अधिक अन्तर है, तो फिर जीवको केवलरूप कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् द्रव्य एव पर्यायका अभेद कैसे माना जाय ?

इसके अतिरिक्त दोनोंके बीच लक्षणभेद भी है । केवल आदि पर्याय क्षायिक आदि भाववाले होते हैं, जब कि जीव पारिणामिक भाववाला है । अतः जीव और उसके ज्ञान आदि पर्याय परस्पर भिन्न ही हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

इस प्रकारके एकान्त भेदवादका निषेध करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि द्रव्य और पर्यायके एकान्तभेद-विषयक मतका निषेध पहले ही (द्रव्यलक्षणके

समय का० १, गा० १२ में) किया जा चुका है, तथापि विशेष स्पष्टता के लिए दृष्टान्त देकर उसके द्वारा हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति यहाँ दिखाई जाती है।

जैसे साठ वर्षकी आयुवाला कोई पुरुष तीसवें वर्षमें राजा बनता है, तब ऐसा कहा जाता है कि 'यह मनुष्य राजा हुआ,' वैसे ही जीवके रूपमें भव्य जीव अनादि होने पर भी जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब ऐसा कहा जाता है कि 'यह जीव केवली हुआ।' दृष्टान्तमें विवक्षित व्यक्ति मनुष्यके रूपमें पहले हीसे था और बादमें भी है। उसमेंसे मात्र अराजपर्याय गया है और राजपर्याय आया है। दार्ष्टान्तिकमें जीव द्रव्य पहले भी था और बादमें भी है, मात्र अकेवलपर्याय गया और केवलपर्याय आया। इन दोनों स्थानों पर पर्याय और सामान्यका परस्पर अभेद होनेसे ही पर्यायके उत्पाद एवं नाशको सामान्यको उत्पाद एवं नाश मानकर ऐसा निर्वाधि व्यवहार होता है कि 'यह मनुष्य अराजो मिटकर राजा हुआ' और 'यह जीव छद्मस्य मिटकर केवली हुआ।' अर्थात् सामान्यके ध्रुव होने पर भी वह पूर्वपर्यायके रूपमें नष्ट और उत्तर पर्यायके रूपमें उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है। यही द्रव्य और पर्यायका अभेद सिद्ध करता है। अतएव 'द्रव्य मात्र द्रव्य रूप ही है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यदि ऐसा हो, तो अनादि-अनन्त जीव द्रव्य जीवरूपसे मात्र एक ही है ऐसा मानना पड़ेगा, और ऐसा मानने पर 'यह वर्तमान पुरुषदेहधारी जीव पूर्व देवदेहधारी जीवसे भिन्न है' ऐसा व्यवहार कभी भी प्रामाणिक नहीं ठहरेगा, क्योंकि दोनों अवस्थामें जीव तो एक ही है, तो फिर उसमें भेदव्यवहार कैसे हो सकेगा? और भेदव्यवहार तो प्रामाणिक है ही। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि द्रव्य और पर्याय परस्पर अभिन्न हैं। ऐसा माननेसे जीवके रूपमें एक होने पर भी पुरुष-पर्याय और देवपर्याय परस्पर भिन्न होनेके कारण इन पर्यायोंकी दृष्टिसे अभिन्न जीवमें भी पुरुष और देवके रूपमें भिन्नत्वका व्यवहार निर्वाधि रूपसे होता है। इस परसे यही फलित हुआ कि सत् होनेके कारण पर्याय द्रव्यसे और द्रव्य पर्यायसे अभिन्न है, जैसे कि मनुष्य और उसके अराजत्व आदि पर्याय। इसी तरह सत् होनेके कारण केवलज्ञान पर्याय और जीवद्रव्य ये दोनों परस्पर अभिन्न होनेसे 'केवलरूप जीव' ऐसा कहना असंगत नहीं है। यहाँ जीवमें केवलका अभेद सिद्ध करनेवाला सामान्यको विशेषसे अभिन्न सिद्ध करनेवाला अनुमान इस प्रकार कहा जा सकता है - सामान्य विशेषसे अभिन्न है, क्योंकि उसमें विशेषोंके कारण भेद-व्यवहार प्रामाणिक रूपसे होता है, जैसे एक ही मनुष्य कभी अराजो और कभी राजाके रूपसे व्यवहृत होता है, वैसे एक ही जीव कभी अकेवलीके रूपमें और

कभी केवलीके रूपमें व्यवहृत होता है, अतएव यह जीवद्रव्य अकेवल और केवल पर्यायसे अभिन्न है। यदि वह पर्यायोंसे मात्र भिन्न ही है ऐसा माने, तो पर्यायोका भेद पर्यायोमें ही रहेगा और जीवमें उसका व्यवहार ही नहीं होगा।

अभिन्न पर्यायोकी भिन्नताका उपपादन

सखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं णाणं ।

तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

अर्थ—केवलज्ञान सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका है। इसी तरह राग, द्वेष एव मोहरूप दूसरे भी जीवपर्याय समझने चाहिए। (४३)

विवेचन शास्त्रमें केवलज्ञानको सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका कहा है। इसी तरह राग, द्वेष और मोहरूप वैभाविक पर्यायोको भी सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका कहा है। प्रत्येक पर्यायमें सख्या-भेदका जो यह शास्त्रीय कथन है उससे सूचित होता है कि भगवान्की दृष्टिमें द्रव्य और पर्यायका मात्र अभेद ही नहीं, भेद भी है। भेदके बिना सख्या का वैविध्य सम्भव ही नहीं हो सकता। अतः द्रव्य और पर्यायके बीच अभेदकी भाँति भेद भी मानना चाहिए। मतलब कि ये दोनों कथंचित् भिन्न-अभिन्न है।

द्वितीय काण्ड समाप्त

तृतीय काण्ड

सामान्य और विगोप इन दोनोंके परस्पर अभेदका समर्थन -

सामण्णमिदं विसेसो विसेसपक्खे यव्यणविणिवेसो ।

द्ववपरिणाममण्णं दाएइ तय च णियमेइ ॥ १ ॥

एगत्तणिद्विसेसं एयंतविसेमियं च वयमाणो ।

द्ववरत्ता पज्जवे पज्जवा हि दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥

अर्थ सामान्यमें विशेष-विषयक वचनका और विगोपमें सामान्य-विषयक वचनका जो प्रयोग होता है वह अनुक्रमसे सामान्य अर्थात् द्रव्यके परिणामको उससे भिन्न रूपमें दिखलाता है, और उसे अर्थात् विगोपको सामान्यमें नियत करता है ।

एकान्त निर्विगोप ऐसे सामान्यका और एकान्त विशेषका प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यके पर्यायोको उससे अलग करता है और पर्यायोको द्रव्यसे अलग करता है ।

विवेचन प्रत्येक व्यवहार ज्ञानमूलक होता है । व्यवहारकी अवावितता ही ज्ञानकी यथार्थताका प्रमाण है । वस्तुका स्वरूप कैसा है यह निश्चित करनेका एकमात्र साधन यथार्थ ज्ञान है । इतना सर्वसामान्य सिद्धान्त है ।

सत्, द्रव्य आदि कोई भी पर या अपर सामान्य व्यवहारमें तो विशेषरूपमें ही आता है, और पृथ्वी, घट आदि कोई भी विशेष सामान्यरूपसे व्यवहृत होता है; और यह व्यवहार वावित भी नहीं है । अतएव पूर्वोक्त सर्वसामान्य सिद्धान्तके आवार पर ऐसा माना जा सकता है कि सामान्यके अलावा उसका परिणाम विशेष भी है और फिर भी वह विशेष सामान्य-स्वरूपसे भिन्न नहीं है । अर्थात् सामान्य विगोपोंमें ओतप्रोत है और विशेष अभिन्न सामान्यकी भूमिका पर ही रहते हैं । इससे वस्तुमात्र परस्पर अविभाज्य ऐसे सामान्य-विगोप उभयरूप सिद्ध होती है ।

अब यदि विशेषरहित केवल सामान्य ही हो, तो मात्र सामान्य-विषयक प्रतीतिके आवार पर व्यवहार करनेवालेको विगोप छोड़ ही देने पड़ेगे । फलतः उसे प्रतीति

और व्यवहारसिद्ध कड़ो, कुण्डल आदि अनेक आकारोको विचार एव वाणीमेंसे दूर हटाकर 'मात्र सोना है' इतना ही सामान्य व्यवहार करना पड़ेगा। इसी भाँति सामान्यरहित केवल विशेष माननेवालेको विचार एव वाणीमेंसे सुवर्णरूप सामान्य तत्त्वको हटाकर मात्र कड़ो, कुण्डल आदि आकार ही विचारप्रदेशमें लाने पड़ेंगे और उन्हींको वाणी द्वारा अभिव्यक्त करना होगा। परन्तु अनुभव तो ऐसा है कि कोई भी विचार अथवा वाणी मात्र सामान्य या मात्र विशेषका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त नहीं होती। इससे यही सिद्ध होता है कि ये दोनों भिन्न होनेपर भी परस्पर अभिन्न हैं।

सारांश यह कि जैसे बौद्ध दर्शन अभेदग्रहणको मिय्या कहकर तदनुसारी अभेद व्यवहारको अपारमार्थिक या सावृत्त कहता है तथा केवलद्वैती भेदग्रहणको मिय्या कहकर तदनुसारी व्यवहारको उपचरित कहता है वैसा जैन दर्शन नहीं कहता, क्योंकि जैनदृष्टिको अनुसार भेद और अभेद एक ही अखण्ड सत्यके दो पहलू हैं, जो व्यवहार और सग्रहदृष्टि या नयके विषय बनते हैं और समान रूपसे पारमार्थिक हैं। प्रतीत्यवचन किसे कहते हैं और वह किसलिए ?

पञ्चुपत्रं भावं विगयमविस्सेहि जं समण्णेइ ।

एयं पडुच्चवयणं^१ दव्वंतरणिरिरायं जं च ॥ ३ ॥

दव्वं जहापरिणयं तहेव अत्थि त्ति^२ तम्मि। समयम्मि ।

विगयमविस्सेहि उ पज्जएहि भयणा विभयणा वा ॥ ४ ॥

अर्थ जो वचन वर्तमान पर्यायका भूत एव भावी पर्यायके साथ समन्वय करता है और जो वचन भिन्न द्रव्योमें रहे हुए सामान्यका समन्वय करता है वह प्रतीत्यवचन है। (क्योंकि)

जिस समय जो द्रव्य जिस रूपमें परिणत हुआ हो, उस समय वह उस रूपमें ही है। भूत और भावी पर्यायोंके साथ तो भजना अर्थात् अभेद तथा विभजना अर्थात् भेद भी है।

विवेचन जो वचन प्रतीतिपूर्वक अर्थात् वस्तुके वास्तविक बोधपूर्वक बोला जाय वह प्रतीत्यवचन। यही वचन आप्तवचन है।

१ बौद्ध परम्परामें 'पटिच्चसमुप्पाद' शब्द प्रसिद्ध है। 'पडुच्चवयण' पदका यहाँ जो प्रयोग है उसे देखकर 'पटिच्चसमुप्पाद'गत 'पटिच्च' पदका स्मरण हो आता है। तीत्यके अर्थमें पटिच्च और पडुच्च दोनों व्यवहृत होते हैं।

कड़ा तोड़कर कुण्डल बनाया हो और उसमेंसे आगे हार बननेवाला हो, तब यह तो साफ है कि वर्तमान कुण्डलका आकार भूतकालीन कड़ेके आकार और भावी हारके आकारकी अपेक्षा भिन्न ही होगा, फिर भी उनके साथ वह एकरूप भी है, क्योंकि उन तीनोंका द्रव्य भिन्न नहीं है। तीनों आकारोंमें वही सुवर्ण अनुगत होनेसे उन तीनों आकारोंको एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न और विच्छिन्न कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार किमी भी एक द्रव्यमें कालक्रमसे दिखाई पड़नेवाले उसके अनेक विशेष, विशेषरूपसे परस्पर भिन्न और विच्छिन्न होने पर भी, उस द्रव्यके रूपमें तो वे एकात्मक ही हैं, ऐसा मानना चाहिए। ऐसा होनेसे ही वर्तमान पर्यायका भूत-भावीके साथ और भूत-भावी पर्यायका वर्तमानके साथ समन्वय दरसानेवाले वाक्यको ही प्रतीत्यवचन कहा है।

इसी तरह एक ही समयमें देगभेदके विस्तार पर फैले हुए काले-पीले, छोटे-बड़े आदि अनेक व्यक्ति, व्यक्तिरूपसे भिन्न दिखाई पड़ने पर भी, गोत्व आदिके रूपमें समान भी भासित होते हैं। अतः ऐसे परस्पर भिन्न और विच्छिन्न दिखाई पड़नेवाले व्यक्तियोंमें भी अमुक रूपमें एकत्व न्यायप्राप्त होनेसे उस रूपमें उनका समन्वय करनेवाला वचन भी प्रतीत्यवचन है।

ऊपर बतलाये हुए प्रतीत्यवचनके दो उदाहरणोंमें पहला ऊर्ध्वतासामान्य अर्थात् त्रिकाल-सापेक्ष है, जबकि दूसरा तिर्यक्-सामान्य अर्थात् देशाश्रित है।

एक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वकी उपपत्ति

परपज्जवेहि अस्सरिसगनेहि णियमेण णिव्वमवि नत्थि ।

सरिसेहि पि वंजणओ अत्थि ण पुणऽत्थपज्जाए ॥ ५ ॥

पव्वुपण्णगिा वि पज्जयगिा भयणागइं पड्ड दव्वं ।

जं एगगुणाईया अणंतकप्पा गुणविसेसा ॥ ६ ॥

अर्थ कोई भी वस्तु विजातीय प्रतीत होनेवाले परपरायोंकी दृष्टिसे सर्वदाके लिए नियमत- नहीं है। सजातीयमें भी व्यजनपर्यायसे वह वस्तु है, किन्तु अर्थपर्यायसे नहीं है।

वर्तमान पर्यायमें भी द्रव्य भजनागति अर्थात् उभयरूपताका स्पर्श करता है, क्योंकि गुणके विगोप एक गुणसे लेकर अनन्त प्रकारके होते हैं।

विवेचन कोई भी वस्तु अपने प्रतिनियत स्वरूपके कारण ही व्यवहारका विषय बनती है। प्रतिनियत स्वरूप यानी निश्चित स्वरूप, न कि मात्र भावात्मक या मात्र अभिवात्मक। यही तत्त्व वस्तुमें अस्ति-नास्ति उभयरूपता द्वारा यहाँ दिखलाया गया है। वस्तु परपर्यायिके रूपमें अवश्य ही नहीं है, और स्वपर्यायिके रूपमें है। जो पर्याय विजातीय (विलक्षण बुद्धिजनक) होते हैं वे परपर्याय ही हैं और जो सजातीय (सदृश बुद्धिजनक) होते हैं उनमें व्यजनपर्याय एवं अर्थपर्याय दोनोंका समावेश होता है। इनमेंसे व्यजनपर्यायिके रूपमें वस्तु है और अर्थपर्यायिके रूपमें वस्तु नहीं है। एक दृष्टान्त द्वारा इस व्यवस्थाको हम स्पष्ट करें। कुण्डल पूर्ववर्ती कडा और उत्तरवर्ती हारस्वरूप परपर्यायिके रूपमें नहीं है, इसी तरह घट, पट आदि समकालीन परपर्यायिके रूपमें भी वह नहीं है। अर्थात् इन सभी विजातीय पर्यायोंसे कुण्डलका आकार भिन्न ही है।

कुण्डल आकारमें परिणत सुवर्ण सत्, द्रव्य, सोना, कुण्डल आदि अनेक शब्दोंसे व्यवहृत होता है। इन शब्दोंकी प्रतिपादनमर्यादामें जिस-जिस अर्थका समावेश होता है वह व्यजनपर्याय है। अर्थात् व्यजनपर्यायमें उस-उस शब्दके प्रतिपाद्य सभी अर्थ आ जाते हैं। इसलिए वे सदृशपर्याय हैं। अतएव 'कुण्डल व्यजनपर्यायरूप है' इसका अर्थ यह हुआ कि कुण्डल कहे जाते और कुण्डल-रूपसे प्रतीत होनेवाले सभी कुण्डल कुण्डलके नामसे एकरूप होनेके कारण भिन्न नहीं हैं, और एक कुण्डल व्यक्ति भी कुण्डलस्वरूप बनकर जंत्रतक उस रूपमें रहेगा तबतक कुण्डलके नामसे एक ही है। 'कुण्डल' ऐसे एक शब्द द्वारा प्रतिपादित होनेसे तथा 'यह कुण्डल है' ऐसी एक प्रकारकी बुद्धिकी विषय होने से सभी कुण्डल, अथवा रचनासे भग तक के कालका एक ही कुण्डल यद्यपि एकरूप है, फिर भी जब हम शब्दमर्यादाका त्यागकर आगे जाते हैं तब वैसा नहीं दीखता, क्योंकि कोई भी एक कुण्डल उसके अमुक विवक्षित समयमें पूर्व और उत्तरवर्ती समयके परिणामभेदसे भिन्न ही है। अत एक-शब्दप्रतिपाद्यत्वकी दृष्टिसे कुण्डल-कुण्डलके बीच और एक ही कुण्डल-आकारके पूर्व, उत्तर एवं वर्तमान परिणामोंके बीच भेद भासित न होने पर भी अर्थगत तात्त्विक दृष्टिसे इन सबमें भेद भासित होता ही है। यही सदृश अर्थपर्यायिके रूपमें नास्तित्व है।

समयभेदसे परिणामभेद होनेके कारण पूर्व और उत्तरकालीन कुण्डल-परिणामरूप अर्थपर्यायिकी अपेक्षा वर्तमान कुण्डलपरिणामरूप अर्थपर्याय भिन्न है, इतना ही नहीं, परन्तु एकसमयवर्ती दो कुण्डल-व्यक्तियोंमें अमुक विवक्षित कुण्डल-परिणामरूप अर्थपर्याय दूसरे कुण्डल-परिणामरूप अर्थपर्यायसे भिन्न ही है,

क्योंकि वे दोनों कुण्डल-व्यक्ति सुवर्णरूप^१ समान द्रव्य और कुण्डलरूप समान आकार तथा पीत वर्ण, मृदुता आदि समान गुणवर्गोंके कारण तुल्य होने पर भी तत्त्वतः भिन्न ही हैं। इसी प्रकार पीलापन या मृदुता तुल्य प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उनमें अन्तर अवश्य होता है। एक-जैसा ज्ञात होनेवाला पीलापन या मृदु स्पर्श अनेक व्यक्तियोंमें तरतमभावसे रहता है। एकके पीलेपनकी अपेक्षा दूसरेके पीलेपनमें और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेके पीलेपनमें सख्यात, असख्यात अथवा अनन्त गुण या भाग अल्पाधिकता होती है।

एक ही पुरुषमें भेदाभेदकी व्यवस्था

कोवं उप्पायंतो पुरिसो जीवरस कारश्चो होइ ।

तत्तो विमएयव्वो परिगिा सयमेव भइयव्वो ॥ ७ ॥

अर्थ कोप-परिणाम उत्पन्न करनेवाला पुरुष जीवका कारक होता है, इससे वह भेदयोग्य है और परमवमें स्वयं ही विद्यमान होनेसे अभेदयोग्य है।

विवेचन रासारी आत्मा अपनी भावी दशाका स्वयं ही सर्जन करता है। इससे ऐसा मानना चाहिए कि भावी सृज्यमान दशारूप कार्यकी अपेक्षा सर्जक-अवस्थात्मक कारणरूपसे वह भिन्न है, क्योंकि कार्यकारणभाव भेदगमित होता है। ऐसा होने पर भी वही सर्जक-अवस्थावाला आत्मा भावी सृज्यमान अवस्थामें विद्यमान होता है, दूसरा कोई नहीं। अतः दशाभेदसे भेद होने पर भी दोनों दशामें मूल तत्त्व एक ही होनेके कारण कर्ता कार्यसे अभिन्न भी है। जैसे मृत्पिण्ड के रूपमें घटरूप कार्यका कारण होनेसे यद्यपि वे दोनों भिन्न हैं, फिर भी पिण्ड एव घट दोनों दशाओंमें एक ही मृत्तिका अनुगत होनेसे उस रूपसे घट और पिण्ड अभिन्न भी है। इसी प्रकार जब कोई आत्मा प्रसाद, क्रोध आदि शुभ या अशुभ रूपमें परिणत होता है, तब वह परिणामानुसार अपनी भावी स्थिति बनाता है। इस तरह भावी स्थितिका कर्ता होनेमें उस भावी स्थितिसे वह भिन्न होनेपर भी वस्तुतः दोनों अवस्थाओंमें स्वयं ही अनुगत होनेसे अभिन्न भी है।

१ प्रस्तुतमें व्यजनपर्यायके चित्रारकी तुलना बौद्धसम्मत अपोहकृत सामान्य (जाति) व्यवस्थाके साथ तथा अर्थपर्यायकी तुलना बौद्धसम्मत निरश क्षणिक स्वलक्षणके साथ की जा सकती है।

द्रव्य और गुणके भेदका पूर्वपक्षके रूपमें निर्देश

रूप-रस-गन्ध-फासा असमागमग्रहण-लक्षणम् । जम्हा ।

तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ चूँकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श द्रव्यसे भिन्न-प्रमाणग्राह्य तथा भिन्न लक्षणवाले दीखते हैं। अतः वे गुण द्रव्यके आश्रित हैं ऐसा कोई मानते हैं।

विवेचन वैशेषिक आदि दर्शनान्तरके अनुयायी और कतिपय जैन^१ दर्शनानुयायी विद्वान् भी ऐसा मानते हैं कि जो भिन्न-भिन्न प्रमाणसे ग्राह्य हो अथवा जिनके लक्षण भिन्न हो उनके बीच भेद ही होता है, जैसे कि खम्भे और घड़ेके बीच। इसी प्रकार द्रव्यके ग्राहक प्रमाणकी अपेक्षा रूप आदिका ग्राहक प्रमाण भिन्न है, क्योंकि घट आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन इन दो इन्द्रियोसे ग्राह्य बनते हैं और एक मानस-अनुसन्धानके विषय बनते हैं, जबकि रूप, स्पर्श आदि गुण केवल एक-एक इन्द्रिय-ग्राह्य हैं और उभय-इन्द्रियजन्य ग्रहणके मानस-अनुसन्धानके विषय नहीं बनते। इसी तरह दोनोंके लक्षण भी भिन्न हैं। द्रव्य गुणाश्रय और क्रियाश्रय होता है, जबकि गुण द्रव्य में रहते हैं और स्वयं निर्गुण एवं निष्क्रिय होते हैं। इसीलिए द्रव्यके आश्रयमें रहनेवाले गुण उससे भिन्न हैं, ऐसा ही मानना योग्य है।

द्रव्य और गुणके भेदके निरासके प्रसंगमें गुण और पर्यायके अभेदकी चर्चा

दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं ।

किं पज्जवाहिओ होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

दोउण गया भगवया दव्वद्विय-पज्जवद्विया नियया ।

एत्तो य गुणविसेसे गुणद्वियणओ वि जुज्जंतो ॥ १० ॥

जं पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ।

पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

१ मूल गाथामें तो 'कोई' अर्थवाला 'केचिद्' पद है। टीकाकारने जो अर्थ किया है वही यहाँ लिया है। किन्तु जैन विद्वानोंको लक्ष्य करके टीकाकारने 'स्वयूध्य' अर्थ किया है यह नहीं कहा जा सकता। कहना ही तो इतना ही कहा जा सकता है कि गुणोंको द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न माननेवाला कोई जैन-आचार्य तो सम्भव ही नहीं है।

परिगमणं पञ्जाश्रो अणेगकरणं गुणं त्ति तुल्लत्था ।

तह वि ण 'गुण' त्ति भण्णइ पञ्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥

जं'न्ति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।

रूवाइ परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

गुणसद्वन्तरेणावि तं तु पञ्जवविसेससंखाणं ।

सिज्जइ णवरं संखाणसत्थधम्मो 'तइगुणो' त्ति ॥ १४ ॥

जह दससु दसगुणगि य एगगि दसत्तणं समं चेव ।

अहियम्मि दि गुणसदे तहेय एयं पि दट्ठवं ॥ १५ ॥

अर्थ द्रव्य और गुणका भेद तो दूर रहो, पहले गुण शब्दके विषयमे ही विचार करनेका है । वह यह कि क्या 'गुण' सज्ञा पर्यायसे भिन्न अर्थमे प्रयुक्त है या पर्यायिके अर्थमे ही प्रयुक्त है ?

भगवान्ने द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो ही नय निश्चित किये हैं । यदि उससे अर्थात् पर्यायसे गुण भिन्न होता तो गुणास्तिक नय भी उन्हे निश्चित करना चाहिए था ।

परन्तु चूँकि अरिहन्तने उन-उन सूत्रोमे गौतम आदिके समक्ष पर्याय सज्ञा निश्चित करके उसीका विवेचन किया है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि पर्याय ही है, अर्थात् पर्यायसे गुण भिन्न नहीं है ।

पर्याय अर्थात् वस्तुको विविध रूपमे परिणत करनेवाला और गुण अर्थात् वस्तुको अनेक रूप करनेवाला । इस तरह ये दोनों शब्द तुल्यार्थक ही हैं । ऐसा होने पर भी वह गुण ऐसा नहीं कहा जाता, क्योंकि देशना तो पर्यायनयकी ही है, गुणास्तिककी नहीं ।

कोई कहते हैं कि आगममे रूपादि परिणाम एकगुण काला, दस-गुण काला, अनन्तगुण काला इत्यादि रूपसे व्यपदिष्ट है । इसलिए पर्यायसे गुणका भेद कहा जाता है ।

रूपादिके बोधक गुण-शब्दके अतिरिक्त भी जो एकगुण कालक, दसगुण कालक आदि वचन हैं वे पर्यायगत विगोपकी सख्याके बोधक सिद्ध होते हैं (न कि गुणास्तिक नयके बोधक ।) विशेष यह है कि

‘यह इतने गुण है’ इतने कथनमात्रसे तो सख्यान् (गणित) शास्त्रमें प्रसिद्ध सख्याधर्म ही सूचित होता है ।

जिस तरह गुण शब्द अधिक होनेपर भी दस वस्तुओंमें और दसगुण एक वस्तुमें दसपना समान ही है, उसी तरह यह भी (एकगुण काला द्विगुण काला आदि) समझना चाहिए ।

विवेचन द्रव्य और गुणके भेदकी चर्चाके प्रसंगमें इन दोनोंके बीच भेद मानना या नहीं इसका निर्णय करनेके लिए पहले यह देखना चाहिए कि शास्त्रमें प्रयुक्त गुण शब्द मात्र पर्यायके अर्थका बोधक है या पर्यायसे भिन्न अन्य किसी अर्थका बोधक है ? इन दो विकल्पोंमें सिद्धान्त ऐसा फलित होता है कि वह पर्यायसे भिन्न किसी द्रव्यगत धर्मका अर्थका बोधक नहीं है, क्योंकि भगवान्ने शास्त्रमें जो नयदेशना की है उसकी शब्दमर्यादा देखने पर ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टिमें द्रव्यके धर्मके रूपमें गुण एवं पर्यायके बीच कोई भी भेद नहीं है, अर्थात् दोनों एक ही हैं । इसका कारण यह है कि उन्होंने द्रव्यास्तिक एवं पर्यायास्तिक ऐसे दो ही नयविभाग किये हैं । यदि उनकी दृष्टिमें गुण शब्दका अर्थ पर्यायसे भिन्न ऐसा कोई द्रव्यगत धर्म होता तो वे पर्यायास्तिककी भाँति गुणास्तिक नय भी कहते ।

परन्तु आगमगत सूत्रोंमें गौतम आदि गणवरोंके समक्ष भगवान्ने तो वर्ण-पर्याय, गन्धपर्याय आदि शब्दोंका प्रयोग करके उसमें वर्ण आदिके साथ पर्याय शब्द ही लगाया है और उस शब्दका निर्वचन किया है, कहीं भी वर्णगुण, गन्धगुण आदि कहकर वर्ण आदिके साथ गुण शब्द नहीं लगाया । इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्की दृष्टिमें गुण शब्दका प्रतिपाद्य अर्थ वर्ण आदि पर्याय ही है, उनसे भिन्न कोई द्रव्य-धर्म नहीं ।

गुण और पर्याय शब्दकी निरुक्ति देखें, तो भी दोनोंका अर्थ एक-सा ही निकलता है । किसी भी द्रव्यका सहभावी या क्रमभावी भेदोंमें बदलते रहना पर्याय है और किसी भी द्रव्यका अनेकरूपमें होते रहना गुण है । इस तरह पर्याय और गुण दोनों शब्दोंका अर्थ यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे भिन्न नहीं है, तथापि भगवान्ने तो पर्यायनयकी देशना की है, अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस आदि सभी द्रव्यधर्मोंका पर्याय शब्दसे ही वर्णन किया है, गुण शब्दसे कहीं भी नहीं । इससे इतना फलित होता है कि पर्यायसे भिन्न गुण नहीं है ।

यहाँ गुण और पर्यायके बीच भेद माननेवाला शक उपस्थित करके ऐसा कह सकता है कि आगममें रूपके विषयमें एकगुण काला, द्विगुण काला, अनन्त-गुण काला आदि जो व्यवहार है उसमें गुण शब्दका उपयोग हुआ है । इस परसे

तो ऐसा मानना चाहिए कि गुण शब्दकी देशना भी भगवान् ने की है और उसका विषय पर्यायसे भिन्न है।

इसका उत्तर यह है कि उस-उस स्थानमें रूप आदि बोधक गुण शब्दके विना ही (अर्थात् वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण आदि प्रयोगके विना ही) जो एकगुण काला, द्विगुण काला, अनन्तगुण काला आदि वचनोमें गुण शब्दका प्रयोग हुआ है वह वर्ण आदि पर्यायोके परस्पर तरतममावरूप विशेषोकी सख्याका बोधक सिद्ध होता है, अर्थात् अमुक एक वर्णपर्यायकी अपेक्षा दूसरे सजातीय वर्णपर्यायोमें जो वैषम्यका परिमाण है उसका बोधक सिद्ध होता है और वैषम्यका सख्यात्मक परिमाण तो गणितकी वस्तु है। 'यह पदार्थ दूसरे अमुक पदार्थकी अपेक्षा इतना गुना है' ऐसा कहनेसे वह पदार्थ दूसरे पदार्थकी अपेक्षा किसी बातमें इतना गुना अधिक और दूसरा पदार्थ पहले पदार्थकी अपेक्षा इतना गुना कम है, अर्थात् इससे यही सूचित होता है कि उन दो पदार्थोंके अमुक रूप, रस आदि सजातीय वर्मोंके बीच कितनी न्यूनाधिकता है। अतएव पर्यायसे भिन्न कोई गुणरूप द्रव्यवर्म सिद्ध नहीं होता।

अलग-अलग पड़ी हुई दस वस्तुओंमें 'ये दस चीजे हैं' ऐसा व्यवहार होता है, और कोई एक ही वस्तु परिमाणमें दूसरी वस्तुकी अपेक्षा दसगुनी हो तो उसमें भी 'यह दसगुनी है' ऐसा व्यवहार होता है। इन दोनों व्यवहारोंमें पहलेकी अपेक्षा दूसरे में गुणशब्द अविक है, फिर भी दसकी सख्या तो दोनोंमें समान ही है। अर्थात् पहले स्थानमें धर्मीगत दशत्व सख्याके लिए दस शब्दका प्रयोग हुआ है, तो दूसरे स्थानमें धर्मोंके एक होने पर भी उसके परिमाणका तारतम्य बतानेके लिए गुण शब्दके साथ दस शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार परमाणु एकगुण काला, दसगुण काला, अनन्तगुण काला इत्यादि प्रयोगस्थलोमें गुण शब्दका अलगसे प्रयोग होता है, फिर भी उसका पर्यायशब्दके अर्थकी (द्रव्यगत धर्मरूप अर्थकी) अपेक्षा कोई दूसरा अर्थ नहीं है। वहाँ भिन्न-भिन्न सजातीय पर्यायोके बीच जो वैषम्यका प्रकर्षापकर्षका परिमाण है, केवल उसीका बोधक गुणशब्द है। इस परसे यही फलित होता है कि पर्यायशब्दके प्रतिपाद्यसे भिन्न कोई द्रव्यगत धर्मरूप अर्थ गुणशब्दको प्रतिपाद्य नहीं है।

ऊपरके विवेचनसे यदि यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यगत सभी धर्मोंको जैनशास्त्रमें पर्याय कहा है और ये पर्याय ही गुण शब्दके भी प्रतिपाद्य हैं, तो फिर द्रव्य और गुणके भेद या अभेदके बारेमें ऐसा निर्णय होता है कि गुण द्रव्यसे भिन्न नहीं, बल्कि अभिन्न है, क्योंकि गुण अर्थात् पर्याय और पर्याय तो द्रव्यरूप ही है तथा द्रव्य भी पर्यायरूप ही है। आत्मा ज्ञानरूप ही है, दर्शनरूप ही है आदि व्यवहारोंमें तथा

बड़ा लाल है, पीला है आदि व्यवहारोमे द्रव्य उस-उस पर्यायके रूपमें व्यवहृत होता है। इसलिए द्रव्य और पर्यायका अभेद सिद्ध ही है और यदि पर्यायका अभेद सिद्ध हो, तो फिर गुण उससे भिन्न न होनेके कारण उसका भी द्रव्यके साथ अभेद स्वतः सिद्ध हो जाता है।

द्रव्य और गुणके एकान्त अभेदवादीका ही विशेष कथन—

एयन्तपक्खवाओ जो उण दव्व-गुण-जाइभेयम्मि ।

अह पुव्वपडिक्कुट्ठो उआहरणमित्तमेयं तु ॥ १६ ॥

पिउ-पुत्त-णत्तु-भेव्वय-भाळणं एगपुरिससंबंधो ।

ण य सो एगरस पिय त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥ १७ ॥

जह संबंधविसिट्ठो सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ ।

तह दव्वमिदियगयं रुवाइविसेसणं लहइ ॥ १८ ॥

अर्थ—द्रव्यजाति एव गुणजातिके भेदके विषयमे जो एकान्त पक्षपात है वह तो पहले ही दूषित किया जा चुका है। अब यहाँ जो कहनेका है वह तो है सिर्फ अभेदसाधक उदाहरण मात्र।

पिता, पुत्र, पौत्र, भानजा, और भाईका एक ही पुरुषके साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्ध मानना चाहिए, क्योंकि वह एकका पिता है इससे और सबका पिता नहीं होता।

जिस तरह सबके प्रति पुरुषके रूपमे समान होनेपर भी भिन्न-भिन्न सम्बन्धोके कारण वह भिन्न-भिन्न बनता है, उसी तरह एक ही द्रव्य इन्द्रियोसे सबद्ध होनेपर रूप आदि भेदोको प्राप्त होता है, अर्थात् रूप, रस आदि अनेक विशेषोके रूपमे वह व्यवहृत होता है।

सिद्धान्तीका कथन—

होज्जाहि दुगुणमहुरं अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं ।

ण उ डहरओ महल्लो व होइ संबंधओ पुरिसो ॥ १९ ॥

अर्थ जो कोई द्रव्य द्विगुण मधुर या अनन्तगुण काला हो वह, तथा कोई पुरुष छोटा अथवा बड़ा हो वह, सम्बन्धमात्रसे तो नहीं घट सकता।

एकान्त अभेदवादीका वचाव—

भण्णइ सम्बन्धवसा जह संबन्धित्तणं अणुमयं ते ।

णणु संबन्धविसेसं संबन्धिविसेसणं सिद्धं ॥२०॥

अर्थ हमारा ऐसा कहना है कि यदि सम्बन्धसामान्यके कारण सामान्य सम्बन्धीपना आपको मान्य हो, तो इसी न्यायसे सम्बन्धविशेषके कारण विशेष सम्बन्धीपना सिद्ध होगा ।

सिद्धान्तीका कथन

जुज्जइ सम्बन्धवसा संबन्धिविसेसणं ण उण एयं ।

णयणाइविसेसगओ रुवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

अर्थ सम्बन्धविशेषके कारण विशेषसम्बन्धीपना घट सकता है, परन्तु रूप आदि विशेष परिणाम नेत्र आदिके विशेषसम्बन्धके कारण है, इस विषयमे यह नहीं घटेगा ।

एकान्त अभेदवादीका प्रश्न और उसका सिद्धान्ती द्वारा दिया गया उत्तर

भण्णइ विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं ।

तं होइ परिणिमित्तं ण वत्ति एत्थइत्थि एगंतो ॥ २२ ॥

अर्थ हम पूछते हैं कि द्रव्य विशेषपरिणामवाला कैसे बनेगा ? इसका उत्तर अनेकान्तवादी आप्तोने दिया है कि वह विषमपरिणामवाला पर-निमित्तोसे होता है और नहीं भी होता । इस बारेमे कोई एकान्त नहीं है ।

विवेचन पीछेकी चर्चासे पर्याय और गुण ये दोनो शब्द एकार्यक सिद्ध हुए, परन्तु मुख्य प्रश्न तो अभी खड़ा ही है और वह यह है कि द्रव्य और गुणको एकान्त भेद, जो कि किसीके मतके रूपमे उपस्थित किया गया है, स्वीकार करना या नहीं ? इसका उत्तर सिद्धान्ती दे, उसके पहले एकान्त अभेदवादी इस तरह देता है कि द्रव्यकी जाति और गुणकी जातिके बीच एकान्त भेद माननेके पक्षको तो पहले ही (प्रस्तुत काण्डकी गा० १-२ मे) अर्थात् सामान्य-विशेषका अभेद दिखलाते समय

दूषित किया गया है। इससे दोनोंके बीच अभेद अपने-आप फलित हो जाता है। यहाँ तो इस अभेदका विशेष स्पष्टीकरण करना ही हमारे लिए बाकी रहता है। जो नीचेके उदाहरणसे हो जाता है।

जैसे कोई एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके साथके भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंके कारण पिता, पुत्र, पौत्र, भोजन, मामा, भाई आदि अनेक रूपसे व्यवहृत होता है, वह अमुक एक व्यक्तिका पिता है उससे सबका पिता नहीं बन जाता, इसी तरह एकको मामा है इससे सबका मामा नहीं बन जाता। वह पुरुषरूपसे सबके प्रति समान ही है, केवल उस-उस व्यक्तिके साथके भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंके कारण वह भिन्न-भिन्न नामोंसे पहचाना जाता है व्यवहृत होता है। इसी तरह कोई भी द्रव्य तत्त्वतः एक सामान्य वस्तु ही है, उसमें सहज कोई विशेष नहीं है, फिर भी जब वही द्रव्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें आकर नेत्रग्राह्य बनता है, तब रूप कहलाता है और जब घ्राण या रसन आदि इन्द्रियोंका विषय बनता है तब गन्ध या रस आदिके रूपमें व्यवहृत होता है। मतलब कि सभी द्रव्य मात्र सामान्यरूप होते हैं। इसलिए उनमें कोई सहज विशेष नहीं है। जो विशेष कहे जाते हैं वे भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके सम्बन्धोंसे होनेवाले भिन्न-भिन्न प्रतिमाओंके कारण ही हैं। अतः गुण, जिसे जैन आगममें पर्याय कहा गया है, तत्त्वतः द्रव्यसे भिन्न नहीं है। इसलिए द्रव्य-जाति और गुणजातिका भेद वास्तविक नहीं है। केवल एक द्रव्यजाति ही है, जिसे द्रव्याद्वैत भी कह सकते हैं।

अभेदवादी द्वारा एकान्त भेदका निरसन कराकर अब इस अभेदमें भी एकान्त-पनेका दोष न आने पाये इसके लिए अनेकान्तवादी सिद्धान्ती एकान्त अभेदके सामने कहता है कि यदि एकान्त रूपसे द्रव्य अर्थात् सामान्य ही माना जाय और उसमेंसे वास्तविक विशेषोंको हटाकर केवल बाह्य उपायियोंके द्वारा ही विशेषके व्यवहारकी उपपत्ति की जाय, तो दो फलोका रसनेन्द्रियके साथ सम्बन्ध समान होने पर भी एककी अपेक्षा दूसरा दुगुना मधुर है और दूसरेकी अपेक्षा पहला आधा ही मधुर है ऐसा अनुभवसिद्ध भेद किस तरह धटेगा? क्योंकि मधुर तो रस है और वह रसनेन्द्रियसम्बन्धजनित विशेषके अतिरिक्त द्रव्याद्वैतवादमें दूसरा कुछ नहीं है, और सम्बन्ध तो दोनों फलोंके साथ समान ही है। इसी तरह यदि नेत्रके सम्बन्धजनित विशेषके अतिरिक्त रूप जैसा कोई तत्त्व द्रव्यमें वास्तविक न हो, तो नेत्रके साथ समान सम्बन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थोंमें एक अनन्तगुण काला और दूसरा उससे कम काला दिखाई देता है वह किस तरह धटेगा? इतना ही नहीं, दृष्टान्त रूपसे लिये गये पुरुषके बारेमें भी पूछा जा सकता है कि यदि पुरुष

साहजिक विशेषरहित मात्र सामान्यात्मक ही वस्तु हो और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ के सम्बन्ध के कारण ही पिता, पुत्र आदि विशेष के रूप में भासित होता हो, तो फिर पुरुष छोटा या बड़ा कहा जाता है वह ऐसे सम्बन्ध से किस तरह घटेगा ? अर्थात् एक पुरुष ऊँचाई में दूसरे से छोटा और तीसरे से बड़ा दीखता और कहलाता हो, तो ऐसे स्थान में उसका लघुत्व और महत्त्व वास्तविक न होने से यदि परसापेक्ष भासमात्र ही हो, तो वही पुरुष कभी पूर्व के दूसरे पुरुष की अपेक्षा बड़ा और तीसरे पुरुष की अपेक्षा छोटा दीखता है और कहा जाता है वह कैसे घटेगा ? क्योंकि जिस दूसरे पुरुष के सम्बन्ध के कारण ही लघुत्व माना जाता था, उसी पुरुष का सम्बन्ध अब उसके महत्त्व का सावक कैसे बन सकता है ? और जिसका सम्बन्ध पहले महत्त्व का सावक था उसी का सम्बन्ध अब लघुत्व का सावक कैसे बनेगा ? अतएव दृष्टान्तभूत पुरुष में अथवा दार्ष्टान्तिक फल आदि वस्तुओं में सिर्फ सामान्य तत्त्व को ही न मानकर उसमें विशेष भी वास्तविक रूप में है ऐसा स्वीकार करना चाहिए । अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध उन-उन विशेषों के मात्र व्यञ्जक बनते हैं । इस पर से व्यञ्जक सम्बन्धों को मान्य रखकर व्यञ्ज्य विशेषों का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि स्वयं विशेष ही अन्तर्गत होंगे तो एक-एक करके उन सब के मिथ्या सिद्ध होने पर अन्तर्गत सामान्य भी मिथ्या ही सिद्ध होगा । इसका कारण यह है कि सामान्य अर्थात् समान या एक, और यदि भेद न हो तो किसके समान और किसका एक कहा जाय ? अतएव विशेष अर्थात् गुण और सामान्य अर्थात् द्रव्य ये दोनों वास्तविक होने से भिन्न होने पर भी अभिन्न है ऐसा मानना चाहिए । मतलब कि अभेद का एकान्त भी बाधित होने से स्वीकार करने योग्य नहीं है ।

यहाँ एकान्त-अभेदवादी अपने पक्ष के वचाव के लिए सिद्धान्ती से ऐसा कहता है कि यदि तुम ऐसा मानते हो कि प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी प्रकार के सम्बन्ध से सम्बद्ध तो है ही और उसमें परस्पर सम्बन्धीयता घटता ही है, तो हम इस मान्यता को आगे बढ़ाकर ऐसा कहेंगे कि सम्बन्ध के वैविध्य के कारण सम्बन्धी वस्तु में वैविध्य क्यों नहीं सिद्ध होगा ?

इसका उत्तर सिद्धान्ती इस तरह देता है कि अवश्य ही विशेष-विशेष प्रकार के सम्बन्ध के कारण एक ही वस्तु विशेष-विशेष प्रकार से व्यवहृत होती है, जैसे कि एक ही मनुष्य लकड़ी के सम्बन्ध से लकड़ीवाला और पुस्तक के सम्बन्ध से पुस्तकवाला कहलाता है, परन्तु हमने जो अनेक वस्तुओं के कालेपन में वैपश्य बताया है उसकी उपपत्ति इन्द्रिय के सम्बन्ध मात्र से कैसे होगी ? क्योंकि कमोवेश काली वे सभी वस्तुएँ एक ही समय में एक ही पुरुष की नयनेन्द्रिय के साथ एक-सा सम्बन्ध रखती

हैं। इसी तरह एक ही पुरुषकी रसनेन्द्रियके विषय बननेवाले दो फलोके मधुर रसके वैषम्यका उपपादन रसके सम्बन्धमात्रसे कैसे हो सकेगा ? अतएव विशेषका व्यग्यत्व भले ही व्यजकाधीन हो, परन्तु उनका अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है ऐसा फलित होता है। विशेष ही गुण, पर्याय या परिणाम हैं। इससे द्रव्य और उनके बीच एकान्त भेद या अभेद न मानकर उसे कथंचित् ही मानना चाहिए।

यहाँ सिद्धान्तीके सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है कि तुम द्रव्यमे पर्यायोका जो वैषम्य सहज मानते हो वह कैसे होगा ? क्योंकि जैसे किसी एक वस्तुमें सर्दी और गर्मी दोनोंका सम्भव विरुद्ध ही है, वैसे ही एक फल आदि वस्तुमे माधुर्य या अम्लताका वैषम्य भी विरुद्ध ही है। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहता है कि किसी भी वस्तुमे अमुक गुणोका जो वैषम्य होता है उसका आवार द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि आसपासकी बाह्य स्थिति पर है। और, यह वैषम्य बाह्य सयोगोंके कारण ही होता है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि उसमे वह वस्तु स्वयं भी निमित्त है ही। अतः किसी भी वैषम्यपरिणामको मात्र बाह्यनिमित्तजन्य या मात्र स्वाश्रयभूत-वस्तुजन्य न मानकर उभयजन्य ही मानना चाहिए।

किसी भेदवादी द्वारा किये गये द्रव्य और गुणके लक्षणकी तथा उसके भेदवादकी समालोचना—

द्व्वस्स ठिई जग्ग-विगमा य गुणलक्षणं ति वत्तवं ।

एवं सइ केवल्लिणो^१ जुज्जइ तं णो उ दवियररा ॥ २३ ॥

द्व्वत्थंतरभूया मुत्ताऽमुत्ता य ते गुणा होज्ज ।

जइ मुत्ता परमाणू णत्थि अमुत्तेसु अग्गाहणं ॥ २४ ॥

अर्थ भेदवादी कहता है कि द्रव्यका लक्षण स्थिति और गुणका लक्षण उत्पत्ति और विनाश ऐसा कहना चाहिए। सिद्धान्ती कहता है कि यदि ऐसा मानोगे तो यह लक्षण केवल द्रव्य और केवल गुण इन भिन्न-भिन्न दोनों में घटेगा, परन्तु एक समग्र सत् वस्तुमे नहीं घटेगा।

और द्रव्यसे भिन्न वे गुण या तो मूर्त होंगे या अमूर्त। यदि मूर्त हो तो कोई परमाणु ही नहीं रहेगा और अमूर्त हो तो उनका ज्ञान ही नहीं होगा।

१ यद्यपि टीकाकारने 'केवल्लिणो' पाठ मानकर अर्थ किया है, परन्तु हमें ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ 'केवलान' पाठ ग्रन्थकारकी अभिप्रेत होगा।

विवेचन कोई भेदवादी स्वरस्ताको द्रव्यका लक्षण और उत्पत्ति-विनाशको गुणका लक्षण कहता है। उसके विरुद्ध ग्रन्थकार कहते हैं कि ये दोनों लक्षण द्रव्य एवं गुणके एकान्त भेद पर अवलम्बित हैं। इसमें वे केवल धर्म अर्थात् गुणग्रन्थ आधारमें और केवल धर्म अर्थात् आधारग्रन्थ गुणमें ही घटेंगे, परन्तु धर्म और धर्मों इस तरह केवल एकान्तभिन्न हैं ही नहीं, वे तो परस्पर अभिन्न भी हैं। धर्मों भी, धर्मकी भांति, उत्पाद-विनाशवान् ही हैं और धर्म भी, धर्मोंकी भांति, स्थिर हैं ही। इसलिए धर्मोंको मात्र स्थिर कहने में और धर्मको मात्र अनिश्चर कहनेमें लक्षणकी अपूर्णता है। पूर्ण लक्षण तो यदि परस्पर अभिन्न धर्म-धर्मों उभयरूप वस्तुको मिलाकर बनाया जाय तभी घट सकता है। ऐसा लक्षण वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र ५ २९ में बनाया है। वह कहते हैं कि जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त हो वह सत् अर्थात् धर्म-धर्मों उभयरूप वस्तु है। भेद-दृष्टिमें बनाये गये उक्त दोनों लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण उस सत् वस्तुको लागू नहीं हो सकता।

भेददृष्टिको दूषित सिद्ध करनेके लिए उसके आधार पर रचित उपर्युक्त लक्षणोंमें अव्याप्ति दोष दिखानेके अलावा ग्रन्थकार दूसरी तरहसे भी दोषदर्शन कराते हैं। वह भेदवादीसे पूछते हैं कि द्रव्यसे भिन्न माने गये गुणोंको तुम मूर्त अर्थात् इन्द्रियग्राह्य मानते हो या अमूर्त अर्थात् इन्द्रिय-अग्राह्य? यदि मूर्त कहोगे, तो परमाणु अतीन्द्रिय द्रव्य माना जाता है वही नहीं रहेगा, क्योंकि मूर्त या इन्द्रियग्राह्य गुणके आधार होनेसे परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य हो जाएँगे, और ऐसा हो तो अतीन्द्रियत्वके न रहनेसे उनको परमाणुत्व भी कैसे रहेगा? यदि गुणोंको अमूर्त कहोगे, तो वे कभी भी इन्द्रियज्ञानके विषय ही नहीं बनने चाहिए, किन्तु घट, पट आदिमें इससे उल्टा है। अतएव एकान्त भेदपक्षमें गुणोंको केवल मूर्त अथवा केवल अमूर्त माननेसे उक्त दोष आनेके कारण उन्हें अभिन्न माननी चाहिए। ऐसा मानने पर उक्त दोष नहीं आते। जहाँ द्रव्य स्वयं ही मूर्त अर्थात् इन्द्रियग्राह्य हो वहाँ उसके गुण मूर्त और जहाँ द्रव्य स्वयं ही अमूर्त हो वहाँ उसके गुण अमूर्त मानने चाहिए। ऐसा होनेसे अतीन्द्रिय परमाणुके गुण अतीन्द्रिय ही हैं और ऐन्द्रियक घट, पट आदिके गुण ऐन्द्रियक हैं।

प्रस्तुत चर्चा का प्रयोजन

सीसमईविष्कारणमेत्तत्थोऽयं कश्चो समुत्तावो ।

इहरा कहामुहं चेव णत्थि एवं ससमयस्मि ॥ २५ ॥

णविअत्थिअण्णवादोणत्तित्वाओजिणोवएसस्मि ।

तं चेव य मण्णंता अमण्णंता ण याणंति ॥ २६ ॥

अर्थ यह प्रबन्ध केवल शिष्योंकी बुद्धिके विकासके लिए है, अन्यथा स्वशास्त्रमे तो इस तरह कथाके आरम्भके लिए भी अवकाश नहीं है। क्योंकि

जैन उपदेशमे न तो भेदवाद ही है और न अभेदवाद ही। वही है ऐसा माननेवाले जिनोपदेशकी अवज्ञा करनेके कारण कुछ भी नहीं जानते।

विवेचन द्रव्य और गुणके भेद-अभेद पर इतनी अधिक लम्बी चर्चा करनेके पश्चात् ग्रन्थकार स्वयं ही उसके प्रयोजन के विषयमे कहते हैं कि सब पूछा जाय तो ऐसी चर्चाके लिए जैन सिद्धान्तमे स्थान ही नहीं है, क्योंकि उसमे गुण-गुणीका मात्र भेद या मात्र अभेद माना ही नहीं गया। जो गुणको गुणीसे भिन्न ही अथवा गुणीस्वरूप ही मानते हैं वे वस्तुकी यथार्थताका लोप करनेसे वस्तुतः अज्ञानी ही हैं। जैन शास्त्रमे एकान्तवादके लिए स्थान ही नहीं है। ऐसा होने पर भी यहाँ एकान्तवादके पूर्वपक्षकी भूमिका पर जो विस्तृत चर्चा की गई है उसका प्रयोजन केवल जिज्ञासु शिष्योंकी विचारशक्तिको विकसित करना ही है। इसलिए उन्हें जानना चाहिए कि पूर्वपक्ष जैनमताश्रित नहीं, किन्तु अन्यमताश्रित है। भेदवाद न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनोकी छाया है, तो अभेदवाद सांख्य आदि दर्शनोकी छाया है। इन दोनों वादोके समुचित समन्वयमे जैन अनेकान्तदृष्टि समा जाती है।

अनेकान्तकी व्यापकता

भयणा विहु भइयव्वा जइ भयणा भयइ सव्वदव्वाइ ।

एवं भयणा गियसो वि होइ समयाविरोहेण ॥ २७ ॥

गियमेण सद्वहंतो ज्वकाए भावसो न सद्वहइ ।

हंदी अपज्जवेसु वि सद्वहणा होइ अविमत्ता ॥ २८ ॥

अर्थ जिस तरह अनेकान्त सब वस्तुओंको विकल्पनीय करता है, उसी तरह अनेकान्त भी विकल्पका विषय बनने योग्य है। ऐसा होनेसे सिद्धान्तका विरोध नहो इस तरह अनेकान्त एकान्त भी होता है।

छ कायोकी नियमसे श्रद्धा करनेवाला पुरुष भावसे श्रद्धा नहीं करता, क्योंकि अपर्यायोमे अर्थात् द्रव्योमे भी अविभक्त श्रद्धा होती है।

विवेचन अनेकान्तदृष्टि एक प्रकारकी प्रमाणपद्धति है। वह ऐसी व्यापक है कि जैसे वह अन्य सभी प्रमेयोमे लागू होकर उनका स्वरूप निश्चित करती है, वैसे ही वह अपने विषयमे भी लागू होती है और अपना स्वरूप विशेष स्फुट करती है। प्रमेयोमे लागू होनेका अर्थ यह है कि उनके बारेमे स्वरूप-विषयक जो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ बँध गई हैं अथवा बँधनेका सम्भव है, उन सब दृष्टियोंका योग्य रूपसे समन्वय करके अर्थात् उन सब दृष्टियोंका स्यात् निश्चित करके प्रमेयोका स्वरूप कैसा होना चाहिए यह स्थिर करना। जैसे कि जगत्के मूल-तत्त्व जड और चेतनके विषयमे अनेक दृष्टियाँ हैं। कोई उन्हें मात्र भिन्न मानता है, तो कोई मात्र अभिन्न। कोई उन्हें मात्र नित्यरूप मानता है, तो कोई मात्र अनित्यरूप। कोई उन्हें एक मानता है, तो कोई अनेक कहता है। इन और इनके जैसे अनेक विकल्पोके स्वरूप, तारतम्य और अविरोधीपनेका विचार करके समन्वय करना कि ये तत्त्व सामान्य दृष्टिसे देखने पर अभिन्न, नित्य और एक हैं तथा विशेष दृष्टिसे देखने पर भिन्न, अनित्य और अनेक भी हैं। प्रमेयके विषयमे अनेकान्तकी प्रवृत्तिका यह एक उदाहरण हुआ।

इसी प्रकार अनेकान्तदृष्टि जब अपने विषयमें प्रवृत्त होती है, तब अपने स्वरूपके विषय मे वह सूचित करती है कि वह अनेक दृष्टियोंका समुच्चय होनेसे अनेकान्त तो है ही, परन्तु वह एक स्वतन्त्र दृष्टि होनेसे उस रूपमे एकान्त दृष्टि भी है। इसी तरह अनेकान्त दूसरा कुछ नहीं है, वह तो भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप इकाइयों का सच्चा जोड़ है। ऐसा होनेसे वह अनेकान्त होने पर भी एकान्त भी है ही। अलवत्ता, इसमे इतनी विशेषता है कि यह एकान्त यथार्थताका विरोधी नहीं होना चाहिए। सारांश यह है कि अनेकान्तमे सापेक्ष (सम्यक्) एकान्तोको स्थान है ही।

जैसे अनेकान्तदृष्टि एकान्तदृष्टिके आधार पर प्रवर्तित मतान्तरोंके अभिनिवेशसे वचनेकी शिक्षा देती है, वैसे ही वह अनेकान्तदृष्टिके नामसे जर्मनेवाले एकान्तग्रहोंसे वचनेकी भी शिक्षा देती है। जैन प्रवचन अनेकान्तरूप है ऐसा माननेवाला भी यदि उसमें आये हुए विचारोंको एकान्तरूपसे ग्रहण करे, तो वह स्थूल दृष्टिसे अनेकान्तसेवी होने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे एकान्ती ही बन जाता है। इससे वह सम्यग्दृष्टि नहीं रहता। उदाहरणस्वरूप ज्ञान और आचारकी एक-एक बात हम यहाँ ले।

जैन शास्त्रमे समारी जीवके छ निकाय (जातियाँ) बताये गये हैं और आचारके बारेमे कहा है कि हिंसा अर्थात् जीवघात, और वह अवर्मका कारण है। इन दोनों विचारोंको एकान्त रूपसे ग्रहण करनेमे यथार्थताका लोप होनेसे अनेकान्त-

दृष्टि ही नहीं रहती । जीवकी छ ही जातियाँ हैं अथवा छ जातियाँ ही हैं ऐसा एकान्त मानने पर चैतन्यरूपसे जीवतत्त्वको एकत्व भुला दिया जाता है और दृष्टिमें मात्र भेद ही आता है । अतः पृथ्वीकाय आदि छ विभागको एकान्तरूपसे ग्रहण न करके उनमें चैतन्यके रूपमें जीवतत्त्वका एकत्व भी माना जाय तो वह यथार्थ ही है । इसी तरह 'आत्मा एक है तथा अनेक है' इस प्रकारके भिन्न-भिन्न शास्त्रीय वाक्योंका समन्वय होता है ।

इसी प्रकार जीवघातको एकान्त हिंसारूप समझनेमें भी यथार्थताका लोप होता है, क्योंकि प्रसङ्गविशेषमें जीवका घात हिंसारूप नहीं भी होता । कोई अप्रमत्त मुनि सम्पूर्ण रूपसे जाग्रत रहने पर और सम्पूर्ण यतना रावधानी रखने पर भी जब जीवको नहीं बचा सकता, तब उसके द्वारा हुआ वह जीवघात हिंसाकी कोटिमें नहीं आता । मतलब कि कभी-कभी जीवघात अहिंसाकी कोटिमें भी आता है । अतः जीवघातको एकान्त हिंसारूप या एकान्त अहिंसारूप न मानकर योग्य रूपसे उभयस्वरूप समझनेमें ही अनेकान्तदृष्टि है और यही सम्यग्दृष्टि है ।

प्रमेयको लेकर अनेकान्तदृष्टि लागू करनेके कतिपय दृष्टान्त

गङ्गपरिगमं गङ्गे चैव केङ्गे गिरिमणेन द्रव्यमिच्छन्ति ।

तं पि य उड्ढगर्भं तहां गङ्गे अन्नहा अगर्भे ॥ २९ ॥

गुणगिर्वृत्तियसण्णा एवं दहणादग्नौ वि दद्धुवा ।

जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तहा होइ ॥ ३० ॥

कुंभो ण जीवद्वियं जीवो वि ण होइ कुंभद्वियं ति ।

तम्हा दो वि अद्वियं अण्णोण्णविसेसिया होति ॥ ३१ ॥

अर्थ कोई गतिपरिणत द्रव्यको गतिवाला ही मानता है । वह भी ऊर्ध्वगतिवाला होनेसे उस रूपमें गतिवाला है और दूसरे रूपमें अगतिवाला है ।

इसी भाँति गुणसे सिद्ध सत्तावाले दहन आदि समझने चाहिए, क्योंकि जो द्रव्य अर्थात् भाव जिस प्रकारसे निषिद्ध हो वह उस प्रकार से अद्रव्य अर्थात् अभावात्मक होता है ।

घड़ा जीवद्रव्य नहीं है और जीव भी कुम्भद्रव्य नहीं है । इससे परस्पर भिन्न ये दोनों भी उस-उस रूपमें अद्रव्य हैं ।

विवेचन जिसमें अनेकान्तदृष्टि लागू करनी हो उसका स्वरूप बहुत वारीकीसे जाँचना चाहिए। ऐसा करनेसे स्थूल दृष्टिसे दिखाई पड़नेवाले कितने ही विरोध अपने आप दूर हो जाते हैं और विचारणीय वस्तुका तात्त्विक स्वरूप सुनिश्चित रूपसे ध्यानमें आता है। इस वस्तुस्थितिको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकार यहाँ गतियुक्त द्रव्यका, दहन, पवन आदि सजाओका तथा जीव, घट आदिकी भोवात्मकताका इस तरह तीन दृष्टान्त अनुक्रमसे लेते हैं।

स्थूल दृष्टिसे विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति जब अमुक वस्तुको गतिशील देखता है तब वह ऐसा ही मानता और कहता है कि यह वस्तु गतिवाली ही है और उसमें गतिका अभाव नहीं है। यह मान्यता कितने अंशमें सच है यह जाँचनेके लिए तनिक गहराईमें उतरने पर दिखाई देता है कि तिनका जब गतिमें होता है उस समय भी वह पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे आदि सभी दिशा-विदिशाओंमें गति नहीं करता। यदि वह ऊँचे उड़ता है तो नीचेकी दिशामें गति नहीं करता और यदि वह पूर्व दिशामें उड़ता है तो पश्चिम दिशामें उसकी गति नहीं होती। इसी तरह एक समयमें किसी भी एक दिशामें ही गति सम्भव होनेसे उस समय उस वस्तुमें दूसरी दिशाओंकी अपेक्षासे गति नहीं है। इस तरह सूक्ष्म दृष्टिसे दिखाई पड़नेवाले सापेक्ष गति और उसके अभावके कारण स्थूल दृष्टिसे एक ही वस्तुमें भासित होनेवाला गति-अगतिकी विरोध अपने आप दूर हो जाता है, और वह वस्तु एक ही कालमें किस तरह गतिवाली और किस तरह गतिरहित है यह अनेकान्तदृष्टिसे निश्चित हो जाता है।

आग लकड़ी आदिको दहती है जलाती है इसलिए वह दहन है और वायु भूसे आदिको उडाकर अनाजको सुपकी भाँति साफ करती है इसलिए उसको पवन कहते हैं। दहन, पवन आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति जाननेवाला यदि स्थूलदृष्टि युक्त हो, तो दहनको अदहन और पवनको अपवन कहते हुए किसीको सुनकर वह अवश्य विरोध मानेगा और कहेगा कि ऐसा कहना मिथ्या है। यहाँ सत्य जानना हो तो थोड़े प्रश्न पूछना ही पर्याप्त होगा। आग जलाती है इसीलिए वह दहन कहलाती है न? यदि ऐसा हो तो वह घास आदि जलने जैसी चीजोंको जलाती है, पर आकाश, आत्मा आदि अमूर्त वस्तुओंको कहाँ जलाती है? इसलिए दाह्य वस्तुओंकी अपेक्षासे वह दहन होने पर भी अदाह्य वस्तुओंकी अपेक्षासे दहन नहीं है। परन्तु इस तरह देखने पर 'दहन' भौतिक नाम होनेसे जहाँ वह दाह नहीं कर सकता वहाँ वह इस नामको धारण ही नहीं कर सकता। अतः एक ही आगमें दहनपना और

अदहनपना सापेक्षरूपसे है ही, इनमे कोई भी विरोध नहीं है यह बात अनेकान्त-दृष्टि सिद्ध करती है। यही युक्ति पवनमे भी लागू होती है।

जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य अर्थात् भावात्मक वस्तु है। इसी तरह घट आदि पुद्गल भी स्वतन्त्र द्रव्य होनेसे भावात्मक वस्तु है। इन दोनों द्रव्योंको कोई अभावात्मक कहे, तो स्थूलदृष्टिवालेको उसमे विरोध ही प्रतीत होगा। ऐसा व्यक्ति कह सकता है कि यदि जीव एक द्रव्य है, तो वह अभावात्मक कैसे हो सकता है? इसी तरह घट भी पुद्गल द्रव्य होनेसे अभावात्मक कैसे हो सकता है? उसे प्रतीत होनेवाला यह विरोध कितने अशोभे ठीक है, यह देखनेके लिए इन दोनों द्रव्योंकी तुलना करनी पड़ेगी। यह तो सच है कि जीव एक द्रव्य है और घट भी एक द्रव्य है, परन्तु क्या दोनों द्रव्य सर्वांशमे समान ही हैं। यदि अनुभव ऐसा कहे कि इन दोनोंमे अन्तर भी है और वह यह है कि एकमे चैतन्य है, जो दूसरेमे नहीं है तथा दूसरेमें जो रूप आदि मूर्त गुण हैं वे पहलेमे नहीं हैं, तो इस कथनका अर्थ यही होगा कि जीव चैतन्यरूपसे तो है, किन्तु रूप आदि गुणस्वरूप नहीं है। इसी तरह घट रूप आदि पौद्गलिक धर्मस्वरूप है, चैतन्यरूप नहीं। यह सब देखनेपर जो पहले भावात्मकता और अभावात्मकताके बीच विरोध प्रतीत होता था, वह रहता ही नहीं और वे दोनों अंश सापेक्षरूपसे बराबर ठीक हो जाते हैं, तथा निश्चय होता है कि जीवद्रव्य चैतन्यरूपसे भावात्मक होनेपर भी जिस पौद्गलिक स्वरूपसे वह नहीं है उसकी दृष्टिसे तो वह अभावात्मक भी है। यही न्याय घट आदि पौद्गलिक द्रव्योंमे भी लागू होता है।

द्रव्यगत उत्पाद एव नाशके प्रकार

उप्पाओ दुवियप्पो पञ्चोगजणिओ य वीससा चेव ।

तत्थ उ पञ्चोगजणिओ समुदयवायो अपरिसुद्धो ॥ ३२ ॥

सामाविओ वि समुदयकओ व्व एगंतिओ (एगत्तिओ) व्व होज्जाहि ।

आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥ ३३ ॥

विगमररा त्ति एस विहो समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।

समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥

अर्थ उत्पाद प्रयत्नजन्य और वैज्ञानिक (अप्रयत्नजन्य अर्थात् स्वाभाविक) इस तरह दो प्रकारका है। इनमेसे जो प्रयत्नजन्य है वह तो समुदायवादके नामसे प्रसिद्ध है और वह अपरिशुद्ध भी कहलाता है।

स्वामाविक (वैज्ञानिक) उत्पाद समुदायकृत और ऐकत्विक इस तरह दो प्रकार का है। ऐकत्विक उत्पाद आकाश आदि तीन द्रव्यों में परनिमित्तजन्यके रूप में अनियमसे दिखाई पड़ता है।

विनाशका भी यही क्रम है। समुदायकृत उत्पाद में अर्थात् प्रयत्न-जन्य और स्वामाविक दोनों प्रकारके समुदायकृत उत्पाद में यह विनाश दो-दो प्रकारका है। इनमेंसे एक तो समुदायका मात्र विभागरूप है और दूसरा अर्थान्तरभावकी प्राप्तिरूप है।

विवेचन ईश्वरवादी दर्शनोके मतानुसार प्राणीके प्रयत्नसे और प्राणीके प्रयत्नके बिना ही जन्य दिखाई पड़नेवाले प्रत्येक जन्य पदार्थका उत्पाद और विनाश ईश्वराधीन होनेसे ईश्वरप्रयत्नजनित है। यह मत जैनदर्शनको मान्य नहीं है यह सूचित करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि सब पदार्थोंका उत्पाद एव विनाश मात्र प्रयत्नजन्य नहीं है, क्योंकि ईश्वरका कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है। अतः अनुभवके अनुसार जहाँ किसी भी प्राणीका प्रयत्न हो वहाँ उत्पाद और विनाशको प्रयत्नजन्य और जहाँ किसीका प्रयत्न न हो वहाँ उत्पाद एव विनाशको अप्रयत्नजन्य मानना ही उचित है। इस परसे यही फलित हुआ कि जन्य पदार्थके उत्पाद और विनाश दोनों प्रायोगिक (प्रयत्नजन्य) और वैज्ञानिक (अप्रयत्नजन्य या स्वामाविक) इस तरह दो-दो प्रकारके हैं। अतः उन्हें वैशेषिक आदि दर्शनोकी भाँति मात्र प्रायोगिक मानना अनुभवविरुद्ध है।

उत्पाद और विनाशका विगेष स्वरूप

सामुदायिक विखरे हुए अवयवोंके संयोगसे समुदायके रूप में पदार्थका जो उत्पाद होता है वह सामुदायिक उत्पाद है। इसीको जैनदर्शन में स्कन्ध और न्याय आदि दर्शनो में अवयवी कहते हैं। यह उत्पाद किसी एक ही द्रव्यके आश्रित न होनेसे अपरिशुद्ध भी कहलाता है। इसी प्रकार समुदाय, स्कन्ध अथवा अवयवोंके रूप में उत्पन्न पदार्थका जो नाश होता है वह सामुदायिक नाश है। सामुदायिक उत्पाद एव विनाश दोनों जन्यस्कन्धसापेक्ष होनेसे और वैसा स्कन्ध पुद्गल द्रव्य में ही सम्भव होनेसे वे दोनों मूर्त द्रव्य में ही घट सकते हैं, अमूर्त में नहीं, क्योंकि अमूर्त द्रव्यका जन्य स्कन्ध सम्भव ही नहीं है। सामुदायिक उत्पाद और विनाश दोनों प्रायोगिक एव वैज्ञानिक दो-दो प्रकारके होते हैं। घट, पट आदि जो स्कन्ध किसी-न-किसीके प्रयत्नसे बनते हैं तथा नष्ट होते हैं, उनका वैसा सामुदायिक उत्पाद और

विनाश प्रायोगिक कहा जाता है, और बादल, पहाड़ आदि जो स्कन्ध किसीके प्रयत्न-के बिना ही उत्पन्न एवं नष्ट होते हैं, वे सामुदायिक उत्पाद और विनाश वैज्ञानिक हैं।

ऐकत्विक किसी दूसरे द्रव्यके साथ मिलकर स्कन्धत्वका रूप धारण किये बिना ही रहनेवाले अर्थात् स्वतंत्र एक-एक द्रव्य-व्यक्तिमें जो उत्पाद एवं विनाश होता है वह ऐकत्विक उत्पाद और विनाश है। ऐसा उत्पाद और विनाश स्कन्धाश्रित न होनेसे परिशुद्ध भी कहा जा सकता है। ऐसे उत्पाद और विनाशका विषय अमूर्त द्रव्य, और उनमें भी जो अमूर्त द्रव्य मात्र एक-एक व्यक्तिरूप होते हैं वे ही, हो सकते हैं। इसीलिए आकाश, धर्म और अवर्म इन तीन अस्तिकायोंमें ऐकत्विक उत्पाद एवं विनाश माना जाता है। यह उत्पाद और विनाश मात्र वैज्ञानिक होता है, प्रायोगिक नहीं, क्योंकि आकाश आदि उक्त तीनों द्रव्य परिणामी होनेपर भी गतिक्रियासे रहित होनेके कारण उनमें पुद्गलकी तरह प्रयत्नके लिए अवकाश ही नहीं होता। क्रियाशील पुद्गल एवं चैतन्यकी अवगाहन तथा गति-स्थिति क्रियामें देश एवं कालभेदसे तटस्थ निमित्त बनना या न बनना ही आकाश आदि उक्त तीनों द्रव्योंका उत्पाद और विनाश है। यह उत्पाद-विनाश मात्र परसापेक्ष होनेसे अनियत है।

विनाशके बारेमें खास बात जाननेकी यह है कि प्रायोगिक एवं वैज्ञानिक दोनों प्रकारका सामुदायिक विनाश समुदायविभागमात्र तथा अर्थान्तरभावप्राप्ति इस प्रकार दो-दो तरहका है। समुदायके भग्न होनेसे अवयवोंका अलग हो जाना और स्कन्धपना छोड़ देना। ऐसा नाश समुदायविभागमात्र कहा जाता है। इसका प्रायोगिक दृष्टान्त है मकानके टूटनेसे ईंट आदि अवयवोंका अलग पड़ जाना, और वैज्ञानिक दृष्टान्त है बिना प्रयत्नके ही बादलके बिखर जानेसे अथवा पहाड़के टूटनेसे उसके अवयवोंका छितरा जाना। अवयवोंका विभाग हुए बिना ही स्कन्ध द्रव्यका पूर्व आकार छोड़कर दूसरे आकारमें बदल जाना अर्थान्तरभावप्राप्तिरूप विनाश है। इसका प्रायोगिक दृष्टान्त कड़ेका कुण्डल बनाना है, तो वैज्ञानिक दृष्टान्त वरफ-का पानी और पानीका वायुके रूपमें भौतिक परिस्थिति अथवा ऋतुके प्रभाव आदिसे बदल जाना है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ससारी और मुक्त आत्मामें पर्यायोंका जो उत्पाद-विनाश होता है उसे तथा अलग-अलग स्वतंत्र परमाणुओंमें पर्यायोंका जो उत्पाद-विनाश होता है उसे प्रायोगिक या वैज्ञानिक उत्पाद-विनाशमें यहाँ क्यों नहीं रखा।

१ प्रस्तुत उत्पाद और विनाशका समग्र विचार तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति अ ५, सू २९ (पृ ३८३) में आता है।

गया ? इसके उत्तरका विचार करते समय ग्रन्थकारके दो आशय हो ऐसा प्रतीत होता है। ईश्वरके कर्तृत्वके प्रसंगमें प्रायोगिक एवं वैज्ञानिककी चर्चा होनेसे जिस-जिस पदार्थके बारेमें ईश्वरके कर्तृत्व-विषयक किसीकी मान्यता हो, उस-उस पदार्थका ही उत्पाद-विनाश यहाँ प्रस्तुत है। इसीसे परमाणु या चेतन द्रव्यको यहाँ नहीं लिया गया, क्योंकि कोई भी ईश्वरकारणवादी परमाणु या चेतन द्रव्यको जन्म मानता ही नहीं। अवयवीमात्रको ईश्वरजन्म माननेवाले वैशेषिक आदि हैं और आकाशको ईश्वरजन्म माननेवाला औपनिषद दर्शन है। इसीलिए ऐसा सम्भव है कि मूर्त द्रव्यमेंसे परमाणुको और अमूर्त द्रव्यमेंसे आत्माको छोड़कर ही यहाँ चर्चा की गई हो।^१ जो द्रव्य स्कन्धरूप है उन्हींकी चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। परमाणु तो स्कन्ध नहीं है, और यद्यपि आत्मा आकाशकी भाँति प्रदेशोका अनादि स्कन्ध है, फिर भी उसके उत्पाद एवं विनाशका ही विचार सातवीं गायामे आ जाता है। इसलिए उसे यहाँ नहीं लिया होगा। वह स्वयं ही अपनी अवस्थाका कर्ता होनेसे उसके पर्यायोका उत्पाद-विनाश उसके अपने प्रयत्नकी अपेक्षासे प्रायोगिक ही कहा जा सकता है। जीव किसी भी दशामे अवस्थित क्यों न हो, उसके पर्याय उसके अपने ही वीर्यसे जन्म होनेके कारण प्रायोगिक ही है, फिर चाहे वह वीर्य अभिसन्विज (इच्छापूर्वक) वीर्य हो या अनभिसन्विज (इच्छारहित) वीर्य।

उत्पत्ति, नाश एवं स्थितिके कालभेद आदिकी चर्चा

तिष्ठिं वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य ।

अत्यन्तरं अणत्यन्तरं च दवियाहि णायन्वा ॥ ३५ ॥

जो आउंचणकालो सो चोव पसारियररा वि ण जुत्तो ।

तेसि पुण पडिवत्ती-विगमे कालन्तरं णत्थि ॥ ३६ ॥

उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं ।

दवियं पण्णवधन्तो तिकालविसयं विसेसेइ ॥ ३७ ॥

अर्थ उत्पाद आदि तीनोंका काल अभिन्न भी है और भिन्न भी है, तथा उन्हे द्रव्यसे भिन्न एवं अभिन्न जानना चाहिए।

जो आकुचन-काल है वही प्रसरणका भी युक्त नहीं है, और उस आकुचन एवं प्रसरणके उत्पाद-विनाशमें कालका अंतर अर्थात् भेद नहीं है।

उत्पन्न होते हुए द्रव्यको यह उत्पन्न हुआ है (और उत्पन्न होनेवाला है) तथा नष्ट हुआ है, नष्ट हो रहा है (और नष्ट होनेवाला है) इस तरह जतानेवाला पुरुष उस द्रव्यको त्रिकालके विषयके रूपसे विशिष्ट बनाता है।

विवेचन रात्का लक्षण उत्पाद, विनाश और स्थिति किया गया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि लक्षणभूत उत्पाद आदि तीनो अशोका काल एक-दूसरेसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इसी प्रकार यह लक्षण भी लक्ष्यभूत द्रव्य अर्थात् सत्से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्य और पर्याय उभयरूप होनेसे उसका सम्पूर्ण स्वरूप इन दोनोमे ही समाता है। कुछ पर्याय परस्परविरोधी होनेसे क्रमवर्ती होते हैं, तो कुछ अविरोधी होनेसे सहवर्ती होते हैं। क्रमवर्ती दो पर्यायोको लेकर उनके उत्पाद एव विनाशका विचार करे, तो वे समकालीन हैं ऐसे कहना चाहिए, क्योंकि अनन्तर पूर्वपर्यायकी अन्तिम कालसीमा ही उत्तरपर्यायकी आदि कालसीमा होती है। परन्तु किसी भी एक पर्यायको लेकर उसके उत्पाद एव विनाशके समयका विचार करे, तो ज्ञात होगा कि वे दोनो भिन्नकालीन हैं, क्योंकि एक पर्यायके कालकी आदिसीमा और अन्तिम-सीमा भिन्न-भिन्न होती है। पूर्वपर्यायकी निवृत्ति और उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति जिस समयमे होती है उसी समयमें वह वस्तु अमुक सामान्यके रूपसे स्थिर भी होती है। अतः इस दृष्टिसे देखने पर उत्पाद, विनाश एव स्थिति ये तीनो समकालीन होते हैं। परन्तु किसी एक ही पर्यायको लेकर यदि स्थितिका विचार करे, तो उसके उत्पाद एव विनाशकी भाँति उसकी स्थितिका काल भी भिन्न प्रतीत होगा, अर्थात् उसका उत्पाद यानी प्रारम्भ समय, विनाश यानी उसका निवृत्ति समय और स्थिति यानी प्रारम्भसे निवृत्ति तकका सामान्य रूपसे रहने का उसका सारा समय ये तीनो भिन्न हैं। ग्रन्थकार इस बातको उँगलीके एक दृष्टान्तके द्वारा अधिक स्पष्ट करते हैं।

उँगली एक वस्तु है। वह जब टेढ़ी होती है तब सीधी नहीं रह सकती और जब सीधी होती है तब टेढ़ी नहीं रह सकती। वक्रता और सरलता एक ही वस्तुमें एक ही कालमे सम्भव न होनेसे क्रमवर्ती है। उँगलीके वक्रतापर्यायके विनाश और सरलतापर्यायके उत्पादके बीच समयभेद नहीं है। ये दोनो एक ही समयमें एक ही क्रियाके होनेवाले दो परिणाम हैं। इसी समय उँगली तो उँगलीके रूपमें स्थिर ही होती है। इससे उँगलीरूप एक वस्तुमे एक ही समयमे ये उत्पाद, विनाश एव स्थिति घट सकते हैं। इससे उल्टा, उसके एक ही वक्रता या सरलतापर्याय को लें

तो उसमें उत्पाद, विनाश और स्थितिका कालभेद घटता है। उँगली टेढ़ी मिटकर सीधी हुई, यह उसके सरलता पर्यायिका उत्पाद समय, अमुक समय तक सीधी रहकर फिर वह टेढ़ी हो, तो वह उसके सरलतापर्यायिका विनाश समय, और सीधी होनेके क्षणसे लेकर सीधेपनके मिट जानेके क्षण तकका बीचका एकरूप सीधी रहनेका काल यह सरलतापर्यायिका स्थिति समय इस तरह कालभेद हुआ।

उक्त भिन्नकालीन या एककालीन उत्पाद, नाश एवं स्थिति तीनों एक सत् अर्थात् धर्मी द्रव्यके धर्म होनेसे उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न इसलिए कि वे उसके अंश हैं, और अभिन्न इसलिए कि अंश होने पर भी वे अपने धर्मभूत लक्ष्यमें ही अन्तर्हित हो जाते हैं, उससे अपना अलग अस्तित्व नहीं रखते। किसी एक द्रव्यको त्रिकालवर्तित्वरूप विशेषसे अंकित करना हो या समझना हो तो इस तरह समझा जा सकता है

मकानरूपी एक द्रव्यपर्यायिको लेकर विचार करे कि जब उसका निर्माण हो रहा हो, तब वह एक समग्र मकानके रूपमें उत्पद्यमान (बन रहा) है, उसमें जितना भाग बना हो, उतने भाग के रूपमें वह बनता हुआ मकान उत्पन्न (बना) है, और जो भाग अभी बननेका है उसकी अपेक्षासे वह मकान उत्पत्त्यमान (बननेवाला) है। इसी तरह उस उत्पन्न होनेवाले मकानमें ईंट आदि अवयव अपनी-अपनी विशकलित—अलग-अलग रहनेकी अवस्थाका परित्याग करते जाते हैं। अतः अवयवके रूपमें वे विगच्छत् (नष्ट हो रहे) हैं, जितना भाग बना हो उतनेमें अवयवकी विशकलित अवस्था नष्ट होनेसे उस भागमें वे विगत (नष्ट) हैं, तथा जो भाग बनना बाकी हो उसमें अवयवकी विशकलितपना अभी नष्ट होनेवाला है, अतः उस भागमें वे विगमिष्यत् (नष्ट होनेवाला) हैं। इस तरह उस मकानमें त्रैकालिक स्थिति घटाई जा सकती है। इससे भी अविक गहराईमें उतरकर विचार करनेवाला प्रत्येक उत्पद्यमान, उत्पन्न और उत्पत्त्यमानमें त्रैकालिक विगम और वैसे प्रत्येक विगममें त्रैकालिक स्थिति भी घटा सकता है। परंतु इस स्थूल या सूक्ष्म किसी भी विचारमें जो एक सामान्य बात ध्यानमें रखनेकी है वह यह है कि त्रैकालिक उत्पाद, नाश और स्थिति एक आवारमें घटानेके लिए या तो कोई एक द्रव्यपर्यायिक या फिर कोई

१ अनेक परमाणु आदि सजातीय द्रव्योंपरसे जो स्कन्धपर्याय होते हैं वे तथा जीव और पुद्गल जैसे विजातीय द्रव्योंके मिलनेसे जो मनुष्यत्व आदि पर्याय होते हैं वे द्रव्यपर्याय कहलाते हैं, और द्रव्यमें रहनेवाले वर्ण आदि तथा चेतना आदि गुणोंका जो हानिबृद्धि आदि रूप परिणामन हुआ करता है उसे गुणपर्याय कहते हैं। इसके लिए देखो 'प्रवचनसार' अधिकांश २, गाथा ३ की अमृतचन्द्रकी टीका।

एक गुणपर्याय लेना चाहिए, क्योंकि केवल द्रव्य या केवल गुणमे उनके घटनेकी सम्भावना नहीं है। जब कोई द्रव्यपर्याय या गुणपर्याय लेकर उक्त विकल्प घटाये जाते हैं, तब वह पर्याय दूसरे सभी सजातीय-विजातीय पर्यायोंसे भिन्न रूपमे ही गृहीत होता है। यह विचार वस्तु अर्थात् प्रमेयको विशेषरूपसे ग्रहण करनेका उपाय मात्र है।

वैशेषिक आदि सम्मत द्रव्योत्पादकी प्रक्रियाकी चर्चा—

द्वन्तरसंजोगाहि केचि दवियस्स बेति उप्पायं ।

उप्पायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छंति ॥ ३८ ॥

अणु दुअणुएहि दव्वे आरद्धे 'तिअणुअं' ति वेवएसो ।

ततो य पुण विभत्तो अणु ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥

बहुयाण एगसद्धे जह संजोगाहि होइ उप्पाओ ।

णणु एगविभागिण विजुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ॥ ४० ॥

एगसमयम्मि एकदवियररा बहुया वि होति उप्पाया ।

उप्पायसमा विगमा ठिईउ उस्सग्गओ णियमा ॥ ४१ ॥

काय-मण-वयण-किरिया-रूवाइ-गईविसेसओ वावि ।

संजोगमेयओ जाणणा य दवियररा उप्पाओ ॥ ४२ ॥

अर्थ कोई वादी एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सयोग होनेसे ही नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति कहते हैं और द्रव्यको विभागसे उत्पन्न होनेवाला नहीं मानते। वे उत्पत्तिके स्वरूपसे अनभिन्न है, (क्योंकि)

दो परमाणुओके सयोगसे आरब्ध द्रव्यमे 'यह अणु है' ऐसा व्यवहार होता है और अनेक द्व्यणुओके सयोगसे आरब्ध द्रव्यमे 'यह त्र्यणुक है' ऐसा व्यवहार होता है। और उस त्र्यणुकसे विभक्त हुआ अणु 'यह अणु उत्पन्न हुआ' इस तरह व्यवहृत होता है।

१ यहाँ गाथामें 'अणु' शब्द है, इसका परमाणु और द्व्यणुक दोनों ही अर्थ करना चाहिए। जो अणुत्वपरिमाणवाला हो वह सब अणुक कहलाता है, मात्र परमाणु नहीं। द्व्यणुकमें भी अणु अणुत्वपरिमाण माना गया है। त्र्यणुकमेंसे परिमाण भी अलग हो सकता है और द्व्यणुक भी। इसलिए ये दोनों 'जात' कहे जा सकते हैं।

बहुतमे एक शब्दके होनेवाले प्रयोगके कारण यदि सयोगसे उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाय, तो एकके विभागसे बहुतकी उत्पत्ति भी घटती है।

एक समयमें एक द्रव्यमें अनेक भी उत्पाद होते हैं, विनाश भी उत्पाद जितने ही होते हैं और स्थितियाँ उतनी ही सामान्यरूपसे नियत हैं।

शरीर, मन, वचन, क्रिया, रूप आदि और गतिके विशेषसे तथा संयोग-विभागसे और ज्ञानके विषयत्वसे द्रव्यका उत्पाद है।

विवेचन जन्यद्रव्यकी उत्पत्तिके बारेमें परिणामवाद, समूहवाद और आरम्भवाद ऐसी मुख्य तीन प्रक्रियाएँ हैं। साख्य आदि परिणामवादी हैं, क्योंकि वे कार्य-द्रव्यको कारणका मात्र परिणाम अर्थात् रूपान्तर मानते हैं। बौद्ध आदि समूहवादी हैं, क्योंकि वे स्थूल दिखाई पड़नेवाले द्रव्यको सूक्ष्म अवयवोंका समूह मात्र मानते हैं। वे न तो अवयवद्रव्योंका कोई रूपान्तर ही मानते हैं और न उस परसे अपूर्व अवयवी द्रव्यकी उत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं। वैशेषिक आदि आरम्भवादी कहे जाते हैं, क्योंकि वे कार्यद्रव्यको कारणका मात्र परिणाम या समूह न मानकर कारणों परसे बना हुआ एक अपूर्व अवयवी द्रव्य ही मानते हैं। जैनदर्शन उक्त तीनों पक्षोंको अपने विशिष्ट ढंगसे स्वीकार करता है, और फिर भी उसे वैशेषिक आदिके आरम्भवादके सामने कुछ कहनेका है। ग्रन्थकारने यहाँ इसीका निर्देश किया है।

आरम्भ अर्थात् अपूर्व कार्यद्रव्यकी उत्पत्ति। ऐसी उत्पत्ति वैशेषिक आदि दर्शनोमें सयोगजनित ही मानी जाती है। वे कहते हैं कि जब कोई छोटा या बड़ा द्रव्य नया बनता है, तब वह अनेक अवयवभूत द्रव्योंके सयोगसे ही बनता है, और विभागसे कोई द्रव्य नहीं बनता। घट-जैसे एक द्रव्यके फूटनेसे जो टुकड़े दिखाई पड़ते हैं वे उनके मतसे घटके विभागसे सीधे उत्पन्न नये द्रव्य नहीं हैं, पर मूल आरम्भक परमाणुओंके विभाग द्वारा द्व्यणुक आदिके नाशके क्रमसे घटका नाश होकर शेष रहे हुए परमाणुओंमें पुनः द्व्यणुक आदिकी सृष्टि द्वारा क्रमशः सयोगसे बने हुए वे टुकड़े हैं। इस मतको निरास करते हुए ग्रन्थकार उन मतवादियोंको उत्पत्तिके स्वरूपमें अनभिज्ञ कहकर अपना पक्ष स्थापित करनेके लिए कहते हैं कि

१. जैन दर्शनमें नव्य द्रव्यको 'स्वस्थ' ऐसा ज्ञात नाम दिया गया है, फिर भी वह उमें परिणाम भी जाता है, समूह भी कहता है और अवयवी भी कहता है, क्योंकि उसको परमाणुनाश रहनेका बगनां धानी उस नव्यमें परिणत होना या विशिष्ट समूहके रूपमें व्यवस्थित होना या द्व्यणुनाश की पाना यह स्पष्ट कुछ एक ही है।

जैसे अवयवोंके संयोगसे कार्यद्रव्यका आरम्भ देखा जाता है, वैसे ही कार्य-द्रव्यमेंसे अवयवोंके अलग होनेपर भी नया द्रव्य बनता है। अर्थात् अवयवोंके संयोगकी भाँति विभागमेंसे भी कार्यद्रव्यका आरम्भ अनुभवसिद्ध है, तो फिर मात्र संयोगजन्य द्रव्योत्पाद माननेका क्या प्रयोजन ? दो परमाणुओंके संयोगसे आरब्ध द्रव्यमें 'यह द्व्यणुक हुआ' इस प्रकारका व्यवहार जैसे होता है, अथवा अनेक द्व्यणुकोंके संयोगसे आरब्ध द्रव्यमें 'यह त्र्यणुक उत्पन्न हुआ' इस प्रकारका व्यवहार जैसे होता है, वैसे ही त्र्यणुक या दूसरे किसी बड़े द्रव्यस्कन्धमेंसे विभक्त हुए अलग हुए छोटे खण्डोंमें भी 'ये अणु हुए' ऐसा व्यवहार होता ही है। अतः संयोग और विभाग उभयजन्य द्रव्योत्पत्ति मानना ही युक्तियुक्त है।

पूर्वपक्षी शायद ऐसी दलीलें कर सकता है कि बहुतसे तन्तुओंमें, अवस्था विशेषमें, 'एक कपड़ा है' ऐसी एकाकार प्रतीति और एक कपड़ा-शब्दका प्रयोग देखा जाता है। इससे अनेक अवयवोंके संयोगसे एक द्रव्यकी उत्पत्तिको माननेका जो समर्थन होता है, वैसे समर्थन विभागसे द्रव्योत्पत्ति माननेमें कहाँ है ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि विभागजन्य उत्पत्ति माननेमें भी ऐसा समर्थन है ही, क्योंकि कोई एक स्कन्धद्रव्यके टूटने पर उसके विभागमेंसे अनेक द्रव्योंका उत्पाद भी प्रतीति और व्यवहारसिद्ध है। एक बड़ेके फूटनेपर बहुतसे टुकड़ोंकी उत्पत्ति भेद-प्रतीति और भेदव्यवहारसे सिद्ध ही है। अतएव द्रव्योत्पत्तिको संयोगजन्य या विभागजन्य माननेमें एक-सी ही दलीलें हैं।

किसी भी एक द्रव्यमें प्रतिसमय एक उत्पाद, एक नाश और एक स्थिति सम्भव होनेसे अनन्तकालके अनन्त समयोंको लेकर विचार करनेपर उसमें अनन्त उत्पाद, अनन्त नाश और अनन्त स्थितियाँ घटती सकती हैं, पर एक ही समयमें उसमें अनन्त उत्पाद आदि माने जाते हैं वे किस तरह घटेंगे ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि एक समयमें भी एक द्रव्यमें अनन्त उत्पाद आदि घटते ही हैं, क्योंकि कोई भी एक द्रव्य विवक्षित एक ही समयमें जब सहभावी अनन्त पर्यायोंके रूपमें परिणत होता है, तब एक ही साथ पूर्ववर्ती अनन्त पर्यायोंके अनन्त नाश तथा उत्तरवर्ती अनन्त पर्यायोंके अनन्त उत्पाद उसमें होते ही हैं। इसी तरह उस-उस विशेषके रूपमें परिणत होनेवाला वह द्रव्य अनन्त सामान्यके रूपमें स्थिर होनेसे अनन्त स्थितियाँ भी धारण करता ही है। इससे एक ही समयमें और एक ही द्रव्यमें उत्पाद आदि तीनोंको अनन्त कहनेमें कोई भी हानि नहीं है। यह मुद्दा एक जीवद्रव्यको लेकर स्पष्ट किया गया है।

ससारी जीव अर्थात् देहधारी चेतन। इसके पर्याय यानी केवल पुद्गलाश्रित या केवल चेतनाश्रित पर्याय नहीं, किन्तु ययासम्भव उभयाश्रित समझनेके हैं।

मन, वचन और काय आदि रूप विविध परिणति यद्यपि पौद्गलिक है, फिर भी वह काषायिक परिणाम और वीर्यविशेषके दूर या समीपके सम्बन्धके विना सम्भव न होनेसे चेतनाश्रित भी है। इसी तरह ज्ञान और वीर्यविशेष आदि परिणति चेतनाश्रित होनेपर भी कर्मपुद्गलसापेक्ष होनेसे पुद्गलाश्रित भी है ही। एक ससारी जीवद्रव्यमें जिस समय सूक्ष्म या स्थूल देहके रूपमें पुद्गल परिणत होते हैं उसी समय मनोवर्गणाके पुद्गल मनके रूपमें तथा वचनवर्गणाके पुद्गल वचनके रूपमें परिणत होते हैं, उसी समय गरीर और आत्माके पारस्परिक सम्बन्धसे असंख्य आत्मप्रदेशोंमें कायिक आदि क्रियाएँ होती हैं, उसी समय रूप आदि अनेक पर्याय भी तरतमभावसे परिणत होते हैं, उसी समय भावी गतिके अनुकूल कर्मबन्ध, कर्मोदय आदि पर्याय भी होते रहते हैं, उसी समय ग्रहण किये जानेवाले अनन्तानन्त परमाणुओंके नये-नये संयोग उत्पन्न होते रहते हैं और अलग होनेवाले पूर्वसंयुक्त परमाणुओंके विभाग भी होते रहते हैं, उसी समय तरतमभावसे विविध विषयक ज्ञान आदि पर्यायोंका और स्वपरज्ञानविषयत्वरूप ज्ञेयत्व आदि पर्यायोंका आविर्भाव होता रहता है। इन और इनके जैसे दूसरे अनन्त सहवर्ती नवीन पर्यायोंके उत्पाद, पूर्व पर्यायोंके विनाश और पूर्वोत्तर पर्यायोंमें अनुगत सामान्यके रूपमें स्थितियाँ ये सब एक ही समयमें सम्भव होनेसे एक ससारी जीवद्रव्य किसी भी एक ही जन्म आदिके समयमें अनन्त उत्पाद, विनाश तथा स्थितियुक्त घट सकता है।

श्रद्धा और बुद्धिप्रधान आगमका पृथक्करण

दुविहो धग्भावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य ।

तत्थ उ अहेउवाओ भविआऽभविआदओ भावा ॥ ४३ ॥

भविओ सम्मदंसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसंपओ ।

णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

जो हेउवायप्पक्खंसि हेउओ आगमे य आगमिओ ।

सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अओ ॥ ४५ ॥

अर्थ वस्तुप्रतिपादक जो आगम है वह अहेतुवाद और हेतुवाद इस तरह दो प्रकारका है। इनमेंसे जो अहेतुवाद है उसका विषय भव्य-अभव्य आदि पदार्थ है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिसे सम्पन्न भव्य अवश्य दुःखका अन्त करनेवाला है, यह हेतुवादका लक्षण है।

जो हेतुवादके विषयमे हेतुसे और आगमवादके विषयमे केवल आगमसे प्रवृत्त होता है वह स्वसमय अर्थात् सिद्धान्तका प्ररूपक आराधक है और दूसरा सिद्धान्तका विराधक है ।

विवेचन मनुष्यके स्वभावमे श्रद्धा और बुद्धि दोनो तत्त्व हैं, परन्तु किसीमे श्रद्धाकी प्रधानता होती है तो किसीमे बुद्धिकी । व्यक्तिकी भाँति समूहमे भी कभी श्रद्धाके तो कभी बुद्धिके उद्रेकका युग आता है । श्रद्धायुगके मनुष्य बुद्धि और तर्कका निषेध करके उनकी प्रवृत्तिका विरोध करते हैं, और बुद्धियुगके मनुष्य श्रद्धाकी प्रवृत्तिका विरोध करते हैं । इस तरह श्रद्धा और बुद्धिका चक्र ऊपर-नीचे घुमा करता है ।

केवल श्रद्धाजीवी होना या केवल बुद्धिजीवी होना ये दोनो एकान्त अर्थात् परस्परविरोधी और इसीलिए अपूर्ण छोर हैं । मात्र बुद्धिजीवी होनेमे अपूर्णतामे पूर्णता मान लेनेका अयवा तो अपनेसे अधिक और समुन्नत शक्तिका इनकार करनेका अभिमान आ जाता है, जिससे बहुत-सी सच्ची बातें छूट जानेका दोष सम्भव है । मात्र श्रद्धाजीवी होनेमे सर्वथा पराश्रितता तथा अपनेसे जितना साधा जा सके उतने बुद्धिविकासका भी अभाव सम्भव होनेसे उसमे असत्य वस्तुके स्वीकारका दोष भी स्पष्ट ही है । ऐसा होनेसे सत्यकी समतुला बनाये रखनेके लिए ग्रन्थकार अनेकान्तदृष्टिका आश्रय लेकर श्रद्धा और बुद्धि दोनोका आदर करते हैं और हमारे जैसे साधारण मनुष्योंके लिए श्रद्धाका क्षेत्र कौनसा और बुद्धिका क्षेत्र कौनसा यह पृथक्करणपूर्वक बताकर श्रद्धा और बुद्धि दोनोके वास्तविक उपयोगका मार्ग दिखलाते हैं, और वैसा करके श्रद्धायुग एव बुद्धियुगके विरोधको दूरकर दोनो युगोका जीवनमे समन्वय करनेका सूचन करते हैं ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि शास्त्रमे कुछ भाग अहेतुवादका है, तो दूसरा कुछ भाग हेतुवादका है । जिन विषयोंमें हमारे जैसे साधारण मनुष्योंके प्रत्यक्ष या अनुमान ज्ञानको अवकाश ही नहीं है और जो मात्र आगमकथित होनेसे आगमके ऊपर विश्वास रखकर ही मानने योग्य हैं, ऐसे पदार्थोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र अहेतुवाद है । जिन पदार्थोंको हमारे जैसे साधारण मनुष्य प्रत्यक्षसे जान सके या अनुमानसे सिद्ध कर सके, अयवा तो जिनको माननेमें आगमके ऊपर विश्वास रखनेकी जरूरत नहीं रहती, ऐसे पदार्थोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र हेतुवाद है । अहेतुवाद-शास्त्रको श्रद्धासे ही मान्य रखकर उसमें कही हुई बातें श्रद्धासे ही मान लेनी चाहिए, और दूसरी तरहसे अन्तिम दिव्य ज्ञान न हो वहाँ तक वैसी बातोंपर बुद्धि या तर्कका प्रयोग नहीं करना चाहिए, और हेतुवादशास्त्र हो वहाँ उसमे कही गई बातोंके विषय-

मे प्रत्यक्ष एव अनुमानसे जाँचकर निश्चय करना चाहिए और तभी उसपर श्रद्धा करना उचित है। इस तरह अपूर्ण साधक एक ओर श्रद्धा तथा दूसरी ओर बुद्धि दोनोंका विकास करता जाय और इस प्रकार क्रमशः दोनोंके विषयका अन्तरमिटकर श्रद्धा और बुद्धिका अभेद सिद्ध करे।

अहेतुवाद और हेतुवादका पृथक्करण करके उसे समझानेके लिए दोनोंके दृष्टान्त देकर ग्रन्थकार कहते हैं कि शास्त्रमें भव्य और अभव्यके दो विभाग करके जीवके जो दो स्वतः सिद्ध प्रकार कहे गये हैं वे अहेतुवादके विषय हैं, क्योंकि सभी जीव भव्य अथवा अभव्य क्यों नहीं? इस प्रश्नका उत्तर किसी भी तर्कसे नहीं दिया जा सकता। भव्य और अभव्य ऐसी जीवकी दो जातियोंके माननेमें आगमके प्रामाण्य और उसके वक्ताके आप्तत्वको मान लेना ही एकमात्र उपाय है। भव्य और अभव्यके जातिविभागका कारण बुद्धिसे नहीं ढूँढा जा सकता। उसे माननेमें 'जीवोका ऐसा स्वभाव है और स्वभाव सर्वज्ञगम्य है' ऐसा विश्वास रखना ही एकमात्र उपाय है। अतएव भव्य-अभव्यकी जातिका विभाग सूचित करनेवाले शास्त्रीय वचनको अहेतुवाद समझना चाहिए। इसी भाँति साधारण वनस्पतिमें अनन्त जीव हैं और प्रत्येकमें एक जीव है ऐसा शास्त्रीय कथन भी अहेतुवाद है। भव्य और अभव्यका जातिविभाग और उसके शास्त्रीय लक्षण मान लेनेके बाद जब सम्यग्दर्शन आदि लक्षण किसीमें दिखाई दे तब उन्हें देखकर ऐसा अनुमान करना कि यह जीव सम्यग्दर्शन आदि गुणवाला होनेसे भव्य है और वह कभी-न-कभी अवश्य ही ससारका अन्त करेगा, तो यह हेतुवाद है। इसी तरह जहाँ जीवका लक्षण न दिखाई पड़े वहाँ अजीवत्वका अनुमान करके उन पुद्गल आदि पदार्थोंको अजीव मानना, यह हेतुवादकी मर्यादा है।

अहेतुवाद एव हेतुवादकी विषय-मर्यादा जानकर हेतुवादके विषयमें ही जो हेतु, तर्क या बुद्धिका प्रयोग करता है तथा आगमके विषयमें मात्र आगमका आधार लेता है और उसमें हेतुका प्रयोग नहीं करता वही वक्ता जैन सिद्धान्तकी प्ररूपणाका अधिकारी है और वही जैनवचनका आराधक है। इससे उल्टा, जो वक्ता अहेतुवादके विषयमें हेतुका प्रयोग करता है और हेतुवादके विषयमें केवल आगमके ऊपर आचार रखता है वह अनेकान्तशास्त्रकी प्ररूपणाका अधिकारी न होनेसे उसकी प्ररूपणा करने पर वह जैनवचनका विरोधक बनता है, ऐसा समझना चाहिए। उदाहरणार्थ जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्व युक्तिसे सिद्ध हो सकता है, परन्तु उनके स्वरूप एव प्रकारके बारेमें सर्वत्र युक्तिवाद नहीं चल सकता। जीवके अमन्यता प्रदेश हैं, कर्म और जीवका सम्बन्ध अनादि है, अनन्त नैगोदिक जीव एक ही शरीरमें रहते हैं आदि बातें केवल आगमवाद पर ही अवलम्बित हैं। इसी प्रकार

अजीव तत्त्वके अन्तर्गत धर्मास्तिकाय आदिका अस्तित्व युक्तिसे सिद्ध हो सकता है, परन्तु उनका स्वरूप तो अन्तत आगमवादपर ही आश्रित है। आस्रव आदि तत्त्वोमे भी अमुक अश युक्तिसाध्य हो सकता है, परन्तु उनका अमुक भाग आगमवादका ही विषय होता है। अतः इन दोनों वादोकी विषयमर्यादा समझकर ही प्रत्येक तत्त्वका निरूपण करनेमे उस-उस वादका यदि अवलम्बन लिया जाय, तो श्रोताओको जैन प्रवचनके ऊपर आदरशील बनाया जा सकता है, अन्यथा असम्भव, असंगति आदि दोष देखकर वे शास्त्रके ऊपरकी अपनी श्रद्धा भी शायद खो बैठे।

नयवादकी चर्चा

परिसुद्धो नयवाओ आगममेतत्तथसाहओ होइ ।

सो चेव दुण्णिगिण्णो दोण्णि वि पक्खे विघागेइ ॥ ४६ ॥

जावइया वयणवहा तावइया चेव होति नयवाया ।

जावइया नयवाया तावइया चेव परसमया ॥ ४७ ॥

जं काविलं दरिसणं एयं दण्वद्धियररा वत्तव्वं ।

सुद्धोअणतणअरस उ परिसुद्धो पज्जवविअण्णो ॥ ४८ ॥

दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।

जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

अर्थ परिसुद्ध नयवाद केवल श्रुतप्रमाणके विषयका साधक बनता है, और यदि वह गलत रूपसे रखा जाय तो दोनों पक्षोका धात करता है।

जितने वचनोके मार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय है।

जो कापिल (कपिल द्वारा कहा गया साख्य) दर्शन है वह द्रव्या-स्तिकका वक्तव्य है। शुद्धोदनके पुत्र अर्थात् बुद्धका दर्शन तो परि-शुद्ध पर्यायनयका विकल्प है।

यद्यपि उलूक अर्थात् कणादन दोनो नयोसे अपने शास्त्र दर्शनकी प्ररूपणा की है, फिर भी वह मिथ्यात्व अर्थात् अप्रमाण है, क्योंकि ये दोनो नय अपने-अपने विषयकी प्रधानताके कारण परस्पर एक-दूसरेसे निरपेक्ष है।

दिवेचन यहाँ नयवादकी चर्चा में मुख्य तीन बातें कही गई हैं. (१) परिशुद्ध और अपरिशुद्ध नयवादका परिणाम, (२) परसमयोका वास्तविक परिणाम और उसका आधार, तथा (३) प्रसिद्ध परसमयो दर्शनोकी नयवादमें योजना।

प्रमाणसे प्रत्येक पदार्थ अनेकवर्मात्मक सिद्ध होता है। उसका किसी भी एक विवक्षित अंगके रूपमें प्रतिपादन करनेका अभिप्राय नयवाद है। यदि वह अभिप्राय एकान्तस्पर्शी होनेपर भी उस वस्तुके दूसरे अविवक्षित अंगके विषयमें मात्र उदासीन हो अर्थात् उस अंगका निरसन करनेका आग्रह न रखता हो और अपने वक्तव्य प्रदेशमें ही प्रवृत्त होता हो, तो वह परिशुद्ध नयवाद है। इससे उल्टा, जो अभिप्राय अपने वक्तव्य एक अंगको ही सम्पूर्ण मानकर उसका प्रतिपादन करनेके साथ ही दूसरे अशोका निरसन करे, वह अपरिशुद्ध नयवाद है। परिशुद्ध नयवाद एक अशका प्रतिपादक होने पर भी इतर अंगोका निरास न करनेसे उसका दूसरे नयवादोसे विरोध नहीं होता; अतः वह श्रुतप्रमाणके अखण्ड विषयको ही अन्ततः साधक वनता है। अर्थात् नयवाद यद्यपि होता तो है अंगगामी, परन्तु यदि वह परिशुद्ध यानी इतरसापेक्ष हो तो उसके द्वारा अन्ततः श्रुतप्रमाणसिद्ध अनेकवर्मात्मक समग्र वस्तुका ही समर्थन होता है। सारांश यह है कि सभी परिशुद्ध नयवाद अपने-अपने अंगभूत वक्तव्य द्वारा, कुल मिलाकर, समग्र वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं। यही परिशुद्ध नयवादका फल है। इससे उल्टा, अपरिशुद्ध नयवाद मात्र अपनेसे जुदा पड़नेवाले दूसरे पक्षका ही नहीं, बल्कि स्वपक्ष तकका भी निरसन करता है, क्योंकि वह जिन दूसरे अंगोकी अवगणना करके अपना वक्तव्य कहना चाहता है, उन दूसरे अंगोके सिवाय तो उसका अपना वक्तव्य सम्भव ही नहीं है। अतः दूसरे अशोका निरसन करने पर वह अपने वक्तव्य अशका भी निरसन ही कर बैठता है। वस्तुका समग्र स्वरूप अनेक सापेक्ष अशोसे बना है, अतः जब उन सापेक्ष अशोको एक-दूसरेसे सर्वथा अलग कर दिया जाय, तब उनमेंसे एक भी न तो रह ही सकता है और न सिद्ध ही हो सकता है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि अपरिशुद्ध अर्थात् दूसरेकी परवाह न करनेवाला नयवाद अपनी तथा दूसरेकी अर्थात् दोनों पक्षोकी जड़ें उखाड़ता है।

वचनका आधार वक्ताके अभिप्राय पर है, इससे किसी भी एक वस्तुके बारेमें जितने वचनप्रकार मिले अथवा सम्भव हो, उतने ही उस वस्तुके विषयमें वचे हुए भिन्न-भिन्न अभिप्राय हैं, ऐसा समझना चाहिए। अभिप्राय अर्थात् नयवाद। वचनके जितने प्रकार उतने ही नयवाद समझने चाहिए। वे सभी नयवाद परस्पर एक-दूसरेसे निरपेक्ष रहें, तो वे ही परसमय यानी जैनेतर दृष्टियाँ हैं। परस्पर विरोध करनेवाले अथवा आपस-आपसमें पक्ष-प्रतिपक्षता धारण करनेवाले जितने नय हो,

उतने ही वस्तुतः परसमय है। अर्थात् एक-दूसरेका निरसन करनेवाली जितनी विचारसरणियाँ मिलती हैं अथवा सम्भव हैं, उतने ही उस वस्तुके विषयमें दर्शन है और वे सब जैनेतर हैं। जैन दर्शन तो उन अनेक विरोधी दर्शनोंके समन्वयमेंसे उत्पन्न होनेके कारण एक ही है। जैन और जैनेतर दर्शनका नियामक तत्त्व क्रमशः समन्वय एव विरोध है। अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें जिसका उद्देश परविरोधका हो वह जैनेतर दर्शन, और जिसका उद्देश समन्वयका हो वह जैन दर्शन।

सांख्यदर्शन आत्मा आदि तत्त्वोंके विषयमें नित्यत्ववादी और बौद्ध दर्शन अनित्यत्ववादी है। ये दोनों दृष्टियाँ परसमय हैं, क्योंकि ये एक-दूसरेकी अवगणना करती हैं। इन दोनों दृष्टियोंका समन्वय करके जैन दर्शन कहता है कि आत्मा आदि तत्त्वोंमें नित्यत्व तो है, पर वह द्रव्यास्तिक दृष्टिसे, और उनमें अनित्यत्व भी है, परन्तु वह पर्यायास्तिक दृष्टिसे। इस तरह सांख्य और बौद्ध दोनों दर्शनोंके समन्वय पर जो ऐसा सिद्धान्त स्थापित हुआ कि आत्मा आदि तत्त्व अपेक्षाविशेषसे नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं, वह जैन सिद्धान्त है।

यहाँ प्रश्न होता है कि एक ही वस्तुके विषयमें नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी धर्मोंके समन्वयमें ही यदि जैन दृष्टि आ जाती हो, तो वैशेषिक दर्शनको भी जैन दर्शन कहना पड़ेगा, क्योंकि वह दर्शन भी केवल नित्यत्व या केवल अनित्यत्व न मानकर नित्यत्व-अनित्यत्व दोनों स्वीकार करता है। इसका उत्तर यह है कि वैशेषिक दर्शनमें नित्यत्व एव अनित्यत्व इन विरोधी दो अशोकों प्रतिपादन होनेसे उसमें द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दोनों नयोंको स्थान तो है, परन्तु ये दोनों नय अपने-अपने विषयका स्वतंत्र रूपसे ही प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि वैशेषिक दर्शन ऐसा मानता है कि जो परमाणु, आत्मा आदि पदार्थ नित्य हैं वे नित्य ही हैं, और जो घट, पट आदि पदार्थ अनित्य हैं वे अनित्य ही हैं। अतः नित्य माने गये पदार्थोंमें अनित्यत्वको और अनित्य माने गये पदार्थोंमें नित्यत्वको स्थान ही नहीं है। उसमें समग्र दर्शनकी दृष्टिसे नित्यत्व-अनित्यत्व दोनोंका स्वीकार अवश्य है, फिर भी आश्रयभूत वस्तुकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनों धर्म एक-दूसरेसे अलग और स्वतंत्र ही माने गये हैं। इसलिए उस दर्शनमें ऊपर-ऊपरसे देखने-पर यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्वगामी दोनों नय देखे जाते हैं, फिर भी तात्त्विक दृष्टिसे उसमें उनका समन्वय नहीं हुआ है। इसीसे वैशेषिक दर्शन जैन दर्शन नहीं है। जैन दर्शन किसी भी एक ही वस्तुके विषयमें इन विरोधी दिखाई देनेवाले धर्मोंका समन्वय अपेक्षाविशेषसे करता है, जबकि वैशेषिक दर्शन वस्तुके भेदसे विरोधी धर्मोंका भेद मानता है। यही दोनोंमें अन्तर है। इसी प्रकार

सामान्य-विशेषके बारेमें भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। वैशेषिक दर्शन वस्तुमें होनेवाले सामान्य एवं विशेष व्यवहारके नियामकके रूपमें उस वस्तुमें एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष दो स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार करता है, जबकि जैन दर्शन उसी व्यवहारके नियामकके रूपमें वस्तुमात्रको सामान्य-विशेष उभयस्वरूप मानता है और कहता है कि किसी भी एक वस्तुमें सर्वथा स्वतन्त्र ऐसे सामान्य और विशेष धर्म सम्भव ही नहीं हो सकते।

कार्यके स्वरूपके बारेमें एकान्त एवं अनेकान्तदृष्टिका अन्तर—

जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।

संखा य असच्चाए तेसि सच्चे वि ते सच्चा ॥ ५० ॥

ते उ भयणोवणीआ सम्मदंसणमणुत्तरं होंति ।

जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि न पूरेंति पाडिक्कं ॥ ५१ ॥

नत्थि पुढवीविसिट्ठो 'घडो' त्ति जंतेण जुज्जइ अण्णो ।

जं पुण 'घडो' त्ति पुच्चं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥ ५२ ॥

अर्थ शाक्य (बौद्ध) और औलूक्य (वैशेषिक) सांख्यिके सद्वाद-पक्षमें जो दोष कहते हैं, और वे सांख्य बौद्ध एवं वैशेषिकके असद्वादमें जो दोष कहते हैं वे सभी सच्चे हैं।

वे सद्वाद और असद्वाद दोनों अनेकान्तदृष्टिसे नियमित हो तभी सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनते हैं, क्योंकि एक-एक व्यस्त वे दोनों ससारके दुःखसे मुक्ति नहीं साधते।

चूँकि घट पृथ्वीसे भिन्न नहीं है, अतः वह उससे अभिन्न होना चाहिए; और चूँकि पृथ्वी पहले घड़ा नहीं थी, अतः उससे भिन्न है।

विवेचन—यहाँ दो बातें बताई गई हैं (१) एकान्तदृष्टिमें आनेवाले दोषोंको अनेकान्तदृष्टिमें स्थान ही नहीं है, और (२) अनेकान्तदृष्टिके अनुसार फलित होनेवाला वस्तुका स्वरूप।

कार्य और कारणके भेदाभेदके विषयमें अनेक दृष्टियाँ प्रचलित हैं। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन भेदवादी होनेसे कार्य और कारणको भिन्न-भिन्न मानते हैं। इसीसे वे असत् अर्थात् उत्पत्तिसे पहले कारणमें नहीं ऐसे अपूर्व ही कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इससे उल्टा, सांख्य अभेदवादी होनेसे कार्य और कारण अभिन्न

है ऐसा मानते हैं और इसीलिए वे सत् अर्थात् उत्पत्तिसे पहले भी कारणमे विद्यमान ऐसे कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं। बौद्ध और वैशेषिक अपने पक्षका स्थापन करते समय सांख्योके सत्कार्यवादको दूषित करनेके लिए कहते हैं कि यदि कारणमें उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य सत् अर्थात् विद्यमान हो, तो उत्पत्तिके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उत्पत्तिके पहले भी सत् होनेसे कारणमे कार्य दिखाई देना चाहिए और कार्यसापेक्ष सभी क्रियाएँ तथा व्यवहार कार्यकी उत्पत्तिके पहले भी होने चाहिए। इसी तरह सांख्य अपने पक्षका स्थापन करते समय बौद्ध एवं वैशेषिकोके असत्वादको दूषित करनेके लिए कहते हैं कि यदि असत्-कार्यकी उत्पत्ति होती हो, तो चाहें जिस कारणमेसे चाहे जो कार्य क्यों नहीं पैदा होता ? मिट्टीमेंसे घट ही और सूतमेंसे कपड़ा ही बनता है ऐसा नियम किसलिए ? इसके सिवाय यदि असत् वस्तुकी उत्पत्ति होती हो, तो मनुष्य के सिर पर सींग क्यों नहीं पैदा होते ? ये दोनो दृष्टियाँ एक-दूसरेको जो दोष देती हैं वे सब सच हैं, क्योंकि ये दृष्टियाँ एकाग्री होनेसे दूसरे पहलूकी ओर देखती ही नहीं हैं। इस कमीके कारण स्वामाविक रूपसे ही उनमे दोष आ जाते हैं।

परन्तु इन दोनो दृष्टियोंका यदि समन्वयपूर्वक स्थापन किया जाय, तो एक-दूसरेकी कमी दूर हो जाती है और वे पूर्ण बनती हैं, अर्थात् उन दोषोके लिए स्थान ही नहीं रहता। जैसे कि-कार्य और कारण ये दोनो मित्र हैं और अभिन्न भी हैं। मित्र होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्य असत् है और अभिन्न होनेसे सत् भी है। शक्तिकी अपेक्षासे सत् है, अतः उत्पत्तिके लिए प्रयत्नकी अपेक्षा रहती ही है और इसीलिए उत्पत्तिके पहले अव्यक्त दशामें व्यक्तकार्यसापेक्ष व्यवहार सम्भव नहीं है। इसी तरह कार्य उत्पत्तिकी अपेक्षासे असत् है किन्तु शक्तिकी अपेक्षासे तो वह सत् ही है। इसीलिए प्रत्येक कारणमेंसे प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके लिए अथवा मनुष्यश्रृंग जैसी असत् वस्तुकी उत्पत्तिके लिए अवकाश ही नहीं है। जिस कारणमे जिस कार्य-को प्रकट करनेकी शक्ति हो, उसमेसे प्रयत्न करनेके पश्चात् वह कार्य प्रकट होता है, दूसरा नहीं। इस तरह सत् और असत् वादका समन्वय होते ही दृष्टि पूर्ण एवं शुद्ध बनती है और उसमेंसे दोष चले जाते हैं। एक-एक अलग वाद चाहे जितना प्रबल दृष्टिगोचर होता हो, परन्तु वह एकदेशीय मान्यताके ऊपर अवलम्बित होनेसे यथार्थ ज्ञान नहीं दे सकता और इतनी कमीके कारण वह वाद परम्परया अपनेमें आवद्ध रहनेवाले मनुष्यको क्लेशमुक्त भी नहीं कर सकता, जबकि समन्वय, दृष्टिकी विशालताके ऊपर रचित होनेसे, यथार्थ ज्ञान देता है और मनुष्यको सङ्कुचितताजनित क्लेशबन्धनोसे मुक्त करता है।

अनेकान्तदृष्टिके अनुसार घटस्य कार्य पृथ्वीरूप कारणसे अभिन्न और भिन्न फलित होता है। अभिन्न इसलिए कि मिट्टीमें घड़ा पैदा करनेकी शक्ति है और घड़ा बनता है तब भी वह मिट्टीसे रहित नहीं होता, भिन्न इसलिए कि उत्पत्तिके पहले मिट्टी ही थी और घड़ा दिखाई नहीं पड़ता था और इसीलिए घड़ेसे होनेवाले कार्य भी नहीं होते थे।

कारण-विषयक वादोका^१ एकान्तके कारण मिथ्यात्व और अनेकान्तके कारण सम्यक्त्व—

कालो सहाव णियई पुण्वकयं पुरिस कारणेगंता ।

मिच्छत्तं ते चेवा(व)समासओ होंति सम्मत्तं ॥ ५३ ॥

अर्थ काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषरूप कारण-विषयक एकान्तवाद मिथ्यात्व अर्थात् अयथार्थ है, और वे ही वाद समाससे (परस्पर सापेक्षरूपसे) मिलने पर सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ है।

विवेचन कार्यकी उत्पत्ति कारणसे होती है। कारणके बारेमें भी अनेक मत हैं। उनमेंसे यहाँ पाँच कारणवादोका उल्लेख किया गया है।

१ कोई कालवादी है, जो केवल कालको ही कारण मानकर उसकी पुष्टिमें कहते हैं कि भिन्न-भिन्न फल, वर्षा, ठण्डी, गरमी आदि सब ऋतुभेदके कारण होते हैं, और ऋतुभेद अर्थात् कालभेद।

२ कोई स्वभाववादी है, जो केवल स्वभावको ही कार्यमात्रका कारण मानकर उसके समर्थनमें कहते हैं कि पशुओंमें स्थलगामिता, पक्षियोंमें गगनगामिता, फलकी कोमलता और काँटेकी तीक्ष्णता—यह सब प्रयत्न या दूसरे किसी कारणसे नहीं, अपितु वस्तुगत स्वभावसे ही सिद्ध है।

३ कोई नियतिवादी है। वे नियतिके अतिरिक्त दूसरे किसीको कारण न मानकर अपने पक्षकी पुष्टिमें कहते हैं कि जो मिलनेवाला होता है वह अच्छा या बुरा मिलता ही है। न होनेका नहीं होता और जो होनेका है उसे कोई मिटो नहीं सकता। अतः यह सब नियतिके कारण होता है। इसमें काल, स्वभाव या दूसरे किसी कारणको स्थान नहीं है।

१ ये सभी कारणवाद श्वेताश्वतर उपनिषद्में हैं (अ १)। इसकी अधिक तुलनाके लिए देखो सन्मति टीका पृ ७१०, टिप्पणी ५।

४ कोई अदृष्टवादी अदृष्टको ही कारण मानकर उसकी पुष्टिमें कहते हैं कि सभी मनुष्य पूर्वसंचित कर्मयुक्त पैदा होते हैं और फिर वे सब सोचा न हो इस तरह अचिन्त्य रूपसे संचित कर्मके प्रवाहमें बहते हैं। मनुष्यकी बुद्धि स्वाधीन नहीं है, पूर्वजित संस्कारके अनुसार ही वह प्रवृत्त होती है। अतः अदृष्ट ही सभी कार्योंका कारण है।

५ कोई पुरुषवादी केवल पुरुषको ही कारण मानकर उसकी पुष्टिमें कहते हैं कि जैसे मकड़ी जालेके सब ततुओंका निर्माण करती है, जैसे पेड़ सभी पत्ते और टहनियोंको प्रकट करता है, उसी प्रकार ईश्वर जगत्के सर्जन, प्रलय एवं स्थितिका कर्ता है। ईश्वरके सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है। कारणके रूपमें जो कुछ दूसरा दिखाई पड़ता है वह भी ईश्वरके अधीन है। इसीसे सब कुछ केवल ईश्वर-तत्त्व है।

ये पाँचों ही वाद यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक अपने मन्तव्योंके अतिरिक्त दूसरी दिशा न देख सकनेके कारण अपूर्ण है, और अन्तमें सब आपसी विरोधोंसे नष्ट होते हैं। परन्तु जब ये पाँचों वाद परस्परका विरोधभाव छोड़कर एक ही समन्वयकी भूमिका पर आते हैं, तभी उनमें पूर्णता आती है और पारस्परिक विरोध दूर होता है अर्थात् वे यथार्थ बनते हैं। उस स्थितिमें काल, स्वभाव आदि उक्त पाँचों कारणोंको कार्यजनक सामर्थ्य, जो प्रमाणसिद्ध है, मान्य रखा जाता है और एक भी प्रमाणसिद्ध कारणका अपलाप नहीं होता।

आत्माके बारेमें नारितात्व आदि छः पक्षोंका मिथ्यात्व और अस्तित्व आदि छः पक्षोंका सम्यक्त्व—

गत्थि ण गिच्छो ण कुणइ कयं ण वेएइ गत्थि गिप्पाणं ।

गत्थि य मोक्खोवाओ छ गिगच्छत्तरस ठाणाइं ॥ ५४ ॥

अत्थि अविणासधग्गी करेइ वेएइ अत्थि गिप्पाणं ।

अत्थि य मोक्खोवाओ छ रत्ताम्मन्नररा ठाणाइं ॥ ५५ ॥

अर्थ आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, वह कुछ करता नहीं है, वह किये कर्मका अनुभव नहीं करता, उसका निर्वाण (मोक्ष) नहीं है और मोक्षका उपाय नहीं है ये छः मत मिथ्याज्ञानके स्थान हैं।

आत्मा है, वह अविनाशी है, वह करता है, वह अनुभव करता है, उसका निर्वाण है और मोक्षका उपाय है ये छः मत यथार्थज्ञानके स्थान हैं।

विवेचन आध्यात्मिक विकासकी सम्पूर्णता साधनेमें जिन पक्षोंके आग्रह एक अथवा दूसरे रूपमें वावक होते हैं और जो आग्रह उसमें सहायक होते हैं इन दोनों प्रकारोंके आग्रहोंको यहाँ कथन है। साधनामें वावक होनेवाले आग्रह आन्त दृष्टि पर रचित होनेसे अययार्थ और अआन्त दृष्टिपर रचित सहायक आग्रह ययार्थ हैं। वे अनुक्रमसे इस प्रकार हैं

१ आत्मा जैसा कोई तत्त्व ही नहीं है ऐसा मानना अनात्मवाद है, २ आत्मतत्त्व है तो सही, परन्तु वह नित्य न होकर विनाशी है ऐसा मानना क्षणिकात्मवाद है, ३ आत्मा है तो नित्य, परन्तु कूटस्थ होनेसे उसमें कर्तृत्व नहीं है ऐसा मानना अकर्तृत्ववाद है, ४ आत्मा कुछ करता तो है, परन्तु वह क्षणिक होनेसे अथवा निर्लेप होनेसे किसी विपाकका अनुभव नहीं करता ऐसा मानना अभोक्तृत्ववाद है, ५ आत्मा सर्वदा ही कर्ता और भोक्ता रहता है, अतः उसके अपने स्वरूपकी भाँति राग-द्वेष आदि दोषोंका अन्त ही नहीं होता ऐसा मानना अनिर्वाणवाद है, ६ स्वभावसे आत्मा कभी मोक्ष पाता तो है, परन्तु उसे प्राप्त करनेको दूसरा अर्थात् स्वभावसे भिन्न कोई उपाय नहीं है ऐसा मानना अनुपायवाद है।

इन छ मेंसे किसी भी एक वादका आग्रह वँव जानेपर या तो आध्यात्मिक साधनामें प्रवृत्ति ही नहीं होती और यदि हो तो वह न तो आगे विशेष चल ही सकती है और न अन्त तक टिक ही सकती है। अतः उनके स्थानमें अनुक्रमसे नीचेके आग्रह आवश्यक हैं

१ आत्मा है ऐसा मानना, २ वह है इतना ही नहीं, परन्तु अविनाशी है ऐसा मानना, ३ वह मात्र अविनाशी ही नहीं, कर्तृत्वशक्ति भी रखता है ऐसा मानना, ४ उसमें जिस प्रकार कर्तृत्वशक्ति है उसी प्रकार भोक्तृत्वशक्ति भी है ऐसा मानना, ५ कर्तृत्व एव भोक्तृत्वशक्ति होनेपर भी प्रवृत्तिके प्रेरक राग, द्वेष आदि दोषोंका अतः कभी शक्य है ऐसा मानना, और ६ इस अन्तका उपाय है तथा उसका आचरण किया जा सकता है ऐसा मानना। ये छहो आग्रह साधकमें श्रद्धा पैदा करके उसके द्वारा साधनामें आगे बढ़नेके लिए उसे प्रेरित करते हैं और इसीलिए ये सम्यक् हैं।

वादमें अनेकान्तदृष्टिके अभावसे आनेवाले दोष—

साहाय्यं च अत्यं साहेज्जं परो विहम्मओ वा वि ।

अण्णोणं पडिक्खं दोणवि एए असव्वाया ॥ ५६ ॥

द्वन्द्वियवत्त्वं सामर्ण्यं पञ्जवरस्य य विसेसो ।
 एए समोवणीआ विभज्जवायं विसेसेति ॥ ५७ ॥
 हेउविसओवणीअं जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
 जइ तं तथा पुरिल्लो दाइतो केण जिव्वंतो ॥ ५८ ॥
 एयंताऽसम्भूयं सम्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
 लोइय-परिच्छियाणं वयणिज्जपहे पडइ वादी ॥ ५९ ॥

अर्थ पर अर्थात् एकान्तवादी साधर्म्यसे या वैधर्म्यसे अर्थ यानी साध्यका साधन करे, तब परस्पर टकरानेवाले वे दोनो असद्वाद होते हैं ।

द्रव्यास्तिकका वकाव्य सामान्य और पर्यायास्तिकका वक्तव्य विशेष है । ये दोनो निरपेक्ष रूपसे योजित किये जायँ तो एकान्तवादको विशिष्ट बनाते हैं अर्थात् उसे खड़ा करते हैं ।

(वादीके द्वारा) हेतुके विषयके रूपमें रखे गये साध्यको पर अर्थात् प्रतिवादी जिस तरह अपने परका आक्षेप समझकर दूषित करता है, उसी तरह यदि वादीने उस साध्यको दिखलाया हो तो वह किससे पराजित होता ? अर्थात् किसीसे नहीं ।

एकान्त असत्य बोलनेवाला अथवा सत्य होनेपर भी अनिश्चित बोलनेवाला वादी लौकिको एव परीक्षकोके आक्षेपका विषय बनता है ।

विवेचन वादभूमिमें उतरनेवाला वादी यदि अनेकोन्तदृष्टि-रखे बिना उसमें उतरे तो वह कभी भी सफल नहीं हो सकता, उल्टा असत्यवादी सिद्ध होकर हार जाता है और शिष्टोकी निन्दाका पात्र बनता है, यह वस्तु यहाँ बताई गई है ।

कोई भी वादी अपने पक्षका साधन साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्तसे भले ही करे, परन्तु उसका पक्ष यदि एकान्त होगा तो वह दूसरे पक्षके साथ टकरायेगा और अन्तमें वे दोनो असद्वाद अर्थात् मिथ्या सिद्ध होंगे । अतः अनुमानमें जो साध्य रखना हो वह एकान्तदृष्टिसे नहीं रखना चाहिए ।

द्रव्यास्तिकके विषय केवल सामान्यको और पर्यायास्तिकके विषय केवल विशेषको यदि एक-दूसरेसे पृथक् करके किसी भी वस्तुमें सिद्ध किया जाय तो उससे

एकान्तवाद ही खड़ा होगा और अनेकान्तदृष्टि लुप्त होगी। इसीलिए इन दोनोंका परस्पर सापेक्ष रूपसे ही साधन करना उचित है।

कोई वादी पूर्वपक्ष करते समय हेतुसे सिद्ध किये जानेवाले अपने साध्यकी यदि एकान्तरूपसे योजना करे, तो प्रतिवादी उसकी न्यूनताको देखकर उसके पक्षको तोड़ डालता है और इसका परिणाम यह आता है कि वह हार जाता है। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। अब यदि उसी पूर्वपक्षीने पहले ही से अपने पक्षमें न्यूनता न रहे इस बातको ध्यानमें रखकर अनेकान्तदृष्टिसे साध्यकी योजना की होती, तो यह स्पष्ट है कि चाहे जैसे प्रबल प्रतिपक्षीसे भी उसे पराजित न होना पड़ता। अतः वादमें उतरनेवाला अनेकान्तदृष्टिसे ही साध्यका उपन्यास करे, जिससे उसे कभी हारना न पड़े।

एकान्तपक्षके कारण जो नितान्त मिथ्या हो उसकी तो बात ही जाने दे, परन्तु सचमुच सत्य होनेपर भी यदि उसे अनिश्चित एवं सदिग्ध रूपसे वादगोष्ठीमें रखा जाय, तो वह वादी व्यवहारकुशल एवं शास्त्रनिपुण सभी सम्योकी दृष्टिसे गिर जाता है। इनसे मात्र अनेकान्तदृष्टि रखना ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु उस दृष्टिके साथ असदिग्धवादिता भी वादगोष्ठीमें आवश्यक है।

तत्त्वप्ररूपणाकी योग्य रीतिका कथन—

द्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे ।

भेदं च पडुच्च समा भावाणं पणवणपज्जा ॥ ६० ॥

अर्थ—पदार्थोंकी प्ररूपणाका मार्ग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेदका अवलम्बन लेनेपर ही योग्य होता है।

विवेचन पदार्थोंकी अनेकान्तदृष्टिप्रधान प्ररूपणा योग्य रूपसे करनी हो तो जिन-जिन बातोंकी ओर ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए उन बातोंका यहाँ निर्देश है। ऐसी बात आठ हैं और वे इस प्रकार हैं: १ द्रव्य पदार्थकी मूल जाति, २ क्षेत्र स्थितिक्षेत्र, ३ काल समय, ४ भाव पदार्थगत मलशक्ति, ५ पर्याय शक्तिके आविर्भूत होनेवाले कार्य, ६ देश व्यावहारिक स्थान, ७ संयोग आसपासकी परिस्थिति, और ८ भेद प्रकार।

उदाहरणार्थ यदि ध्यान, त्याग आदि किसी चारित्र्याशके अविकारका निरूपण करना हो अथवा आत्मतत्त्वका स्वरूप बताना हो, तो कमसे कम ऊपरकी आठ बातोंपर बराबर लक्ष्य रखनेसे ही वह विशद एवं अभ्रान्त रूपसे हो सकेगा।

केवल एक-एक नयाश्रित सूत्रमे सम्पूर्ण सूत्रत्वकी मान्यतासे आने-
चाले दोष ।

पाडेवकनयपहगयं सुतं सुतहरसदसंतुद्धा ।

अविकोवियसामत्या जहागमविमत्तपडिवत्ती ॥ ६१ ॥

सम्मदंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिद्धोसं ।

अत्तुवकोसविणद्धा सलाहमणा विणासेति ॥ ६२ ॥

अर्थ एक-एक नयेमागपर आश्रित सूत्रको पढकर जो सूत्रधर
शब्दसे सन्तुष्ट हो जाते हैं वे विद्वानयोग्य सामर्थ्य विनाके रह जाते हैं;
और इससे उनकी प्रतिपत्ति आगमके अनुसार ही विमत्त होती है,
अर्थात् मात्र शब्दस्पर्शी होती है ।

अपनी वडाई हाँकनेवाले वे आत्मोत्कर्षसे नष्ट होकर सम्पूर्ण धर्मोमे
समानेवाले वक्तव्यके कारण निर्दोष उस सम्यग्दर्शन अर्थात् अनेकान्त-
दृष्टिका नाश करते हैं ।

विवेचन किसी भी एक वस्तुके बारेमे सभी दृष्टियोंसे विचार किये बिना जो
किसी एकाव दृष्टिको पकड लेते हैं और उस दृष्टिके समर्थक सूत्रका अभ्यास करके
अपने आपको सूत्रधर मानकर उतनेसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनमे अनेकान्तदृष्टिके
योग्य विद्वत्ताका सामर्थ्य नहीं आता, और इसीलिए उनका ज्ञान मात्र शब्दपाठ
तक ही विशद होता है, उनमे स्वतन्त्र-प्रज्ञाजन्य विशदता नहीं आती । फलत वे
अल्पको बहुत मानकर फूल जाते हैं और अपनी डीग हाँकते-हाँकते अन्तमे अनेकान्त-
दृष्टिका नाश ही करते हैं ।

शास्त्रप्ररूपणाके अधिकारी होनेके लिए आवश्यक गुण

ण हु सासणभत्तीमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ ।

ण वि जाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओणामं ॥ ६३ ॥

अर्थ मात्र आगमकी भक्तिसे कोई सिद्धान्तका ज्ञाता नहीं होता,
तथा उसका ज्ञाता भी नियमसे प्ररूपणाके योग्य नहीं बनता ।

विवेचन कोई केवल शास्त्रकी भक्तिसे प्रेरित होकर उसकी प्रशंसा में
अधिकार अपनेमे मानता है, तो कोई दूसरा थोडा-सा ज्ञान भी
अधिकार अपनेमे है ऐसा समझ लेता है ।

कहते हैं कि शास्त्रकी यथोक्त प्ररूपणाका अधिकार प्राप्त करनेके लिए तत्त्वोका पूर्ण और निश्चित ज्ञान होना चाहिए। वह केवल शास्त्रकी भक्तिसे अथवा उसके थोड़ेसे ज्ञानसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि भक्ति होनेपर भी बहुत-से लोगोमें शास्त्रका ज्ञान नहीं होता और शास्त्रका ज्ञान रखनेवाले सभीमें नियमत प्ररूपणा करनेकी योग्यता नहीं होती। ऐसी योग्यता तो शास्त्रजोमें भी अनेकोन्तदृष्टिका स्पर्श करनेवाले किसी विरलेमें ही होती है।

तत्त्वोके पूर्ण और निश्चित ज्ञानके लिए क्या करना चाहिए इसका कथन

सुतं श्रुत्वा निमेषं न सुतमेतेण श्रुत्यपडिवत्ती ।

श्रुत्यगई उण णयवायगहणलीणा। दुरभिगगा ॥ ६४ ॥

तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणमि जइयप्वं ।

आयरियधीरहत्या हंदि महणं विलंबेन्ति ॥ ६५ ॥

अर्थ सूत्र अर्थका स्थान है, परन्तु मात्र सूत्रसे अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं होती; अर्थका ज्ञान भी गहन नयवादपर आश्रित होनेसे दुर्लभ है।

अतः सूत्रका ज्ञाता अर्थ प्राप्त करनेका प्रयत्न करे, क्योंकि अकुशल एवं धृष्ट आचार्य सचमुच शासनकी विडम्बना करते हैं।

विवेचन यदि कोई सूत्रपाठके अम्यासमात्रसे तत्त्वज्ञताका दावा करे, तो उसे उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यह सच है कि अर्थका प्रतिपादक होनेसे सूत्रपाठ उसका आधार है, परन्तु केवल सूत्रपाठसे अर्थका पूर्ण और विशद ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञान गहन नयवादपर आश्रित होनेसे प्राप्त करना कठिन है। नयवादमें बराबर प्रवेश होनेपर ही ऐसा ज्ञान सुलभ हो सकता है।

अतः जो व्यक्ति तत्त्वोका पूर्ण एवं विशद ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसे सूत्रपाठ सीखनेके पश्चात् भी उसका नयसापेक्ष और पूर्वापर अविरुद्ध अर्थ जाननेके लिए प्रयत्न करना ही चाहिए और इसके लिए उसे नयवादमें प्रवेश करना ही पड़ेगा। जो ऐसा नहीं करते और अकुशल होनेपर भी धृष्ट बनकर शास्त्रकी प्ररूपणा करते हैं वे जैन-प्रवचनको दूसरोंकी दृष्टिमें गिरा देते हैं।

११. चिन्तन-विहीन बाह्य आडम्बरमें आनेवाले दोषोका कथन करना ही अथवा आत्मसुश्रोसम्मश्रोयसिररागणसंपरिवुडो य।

बातोपर बराबर लक्ष्य रखिय म्हा देलह तहे सिद्धंतपडिणीओ ॥ ६६ ॥

चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्कवावारा ।

चरण-करणस्स सारं णिच्छयसुद्ध ण याणंति ॥ ६७ ॥

अर्थ सिद्धान्तमे निश्चित मति न रखनेवाला कोई आचार्य जैसे-जैसे बहुश्रुत माना जाता है और शिष्यसमूहसे धिरता जाता है, वैसे-वैसे वह सिद्धान्तका शत्रु बनता है ।

जो व्रत एव उनके पोषक नियमोमे भग्न है और स्वसिद्धान्त एवं परसिद्धान्तका चिन्तनकार्य छोड़ बैठे हैं वे निश्चयदृष्टिसे शुद्ध ऐसा व्रतनियमका फल ही नहीं जानते ।

विवेचने जो प्रतिष्ठा, पदवी और शिष्यपरिवारके मोहमे रत हैं उन्हें तथा जो शास्त्रीय चिन्तनका परित्याग करके मात्र क्रियामे ही लीन रहते हैं उन्हें लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि सिद्धान्तके चिन्तनसे रहित पुरुष ज्यो-ज्यो वैसे ही लोगोमें बहुश्रुतके रूपमे मान्य होता जायगा और वैसे ही शिष्योको झकड़ा करके उनका नेता बनता जायगा, त्यो-त्यो वह जैन सिद्धान्तका शत्रु ही होता जायगा । बहुश्रुतत्वकी मुहर या बड़ा शिष्य-परिवार सिद्धान्तके सुनिश्चित ज्ञानके हेतुभूत नहीं है, उल्टा, बाह्य आडम्बर और दम्भ वैसे निश्चित ज्ञानके बाधक ही होते हैं ।

व्रत-नियम और उनसे सम्बद्ध विविध आचारोमे रत होकर तत्त्वचिन्तनका परित्याग करनेवाले वे व्रत-नियम एव आचारके फलसे वंचित रह जाते हैं । उनका फल तो तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके विशद रश्मिके उद्बोधनके द्वारा आत्मशुद्धि करना है । अब यदि शास्त्रचिन्तन ही छोड़ दिया जाय, तो तत्त्वोका सामान्य ज्ञान भी सम्भव नहीं होगा और सामान्य ज्ञान भी न हो तो उन तत्त्वोका विशेष रूपसे विशद ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? ऐसे विशद ज्ञानके अभावमें वास्तविक तत्त्वरश्मि अर्थात् सम्यग्दर्शन भी शक्य नहीं है, और इसके बिना आत्मशुद्धि भी नहीं होगी । अत आत्मशुद्धिके लक्ष्यसे व्रतनियम अंगीकार करनेवालेके लिए यह आवश्यक है कि वह तत्त्वचिन्तनका कभी भी परित्याग न करे ।

जो स्वतन्त्ररूपसे तत्त्वचिन्तन करनेमें असमर्थ हो, वह भी अन्तमे योग्य गुरु आश्रय लेकर तत्त्वचिन्तनके वातावरणमे जीवन व्यतीत करे, यही व्रत-नियम सफल बनानेका राजमार्ग है ।

अकेले ज्ञान और अकेली क्रियाकी अनुपयोगिताका कथन । ग्रन्थमालामें पाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि ए से ४२) मेंसे अस्समत्था दाएउं जाग-मरणदुक्ख मा

अर्थ विना क्रियाका ज्ञान और ज्ञानशून्य मात्र क्रिया ये दोनों एकान्त होनेसे जन्म-मृत्युके दुःखसे निर्भयता देनेमें असमर्थ है।

विवेचन पिछली गाथामे क्रियाके साथ ज्ञानकी आवश्यकता बताई है। यहाँ इन दोनोंका समन्वय सिद्ध करनेके लिए अनेकान्तदृष्टिका उपयोग करनेकी सूचना है।

आत्माकी शक्तियोंका एक-सा विकास मावे विना कोई भी फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसकी मुख्य दो शक्तियाँ हैं एक चेतना और दूसरी वीर्य। ये दोनों शक्तियाँ आपसमें ऐसी गुंथी हुई हैं कि एकके विकासके बिना दूसरीका विकास अधूरा ही रह जाता है। अतः दोनों शक्तियोंका एक साथ विकास आवश्यक है। चेतनाका विकास अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना और वीर्यका विकास अर्थात् उस ज्ञानके अनुसार जीवनका निर्माण करना। सूक्ष्म न हो तो योग्य रूपसे जीवनकी निर्मिति कैसे हो सकती है? और सूक्ष्म होनेपर भी उसके अनुसार आचरण न किया जाय तो उससे जीवनको क्या लाभ? इसीलिए कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया ये दोनों एकान्त अर्थात् जीवनके अलग-अलग छोर हैं। ये दोनों छोर योग्य रूपसे जीवनमें व्यवस्थित होतभी वे फलसावक बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस वारेमें अन्व-पगुन्याय प्रसिद्ध है।

उपसंहारमें जिनवचनकी कुशलकामना

भद्रं निष्कृष्टादंसणसमूहमइयंरा अमयसाररा ।

जिनवयणररा भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्म ॥ ६६ ॥

अर्थ मिथ्यादर्शनोके समूहरूप, अमृत (अमरता) देनेवाले और मुमुक्षुओ द्वारा अनायास ही समझमें आ सके ऐसे पूज्य जिनवचनका भद्र (कल्याण) हो।

सू. विवेचन- यहाँ जिनवचनकी कुशलकामना करते हुए ग्रन्थकारने उसे तीन जो ऐसी बातें दी हैं : १ 'मिथ्यादर्शनोके समूहरूप' इस विशेषणसे ऐसा सूचित किया है कि वे जैन-प्रवचकों की विशेषता भिन्न-भिन्न और एक-दूसरीकी अवगणना करनेसे मिथ्या हैं। २ 'संविग्गसुखाधिगम्य' इस विशेषणसे ऐसा सूचित किया है कि वे अनेक विचारसरणियोंको योग्य रूपमें रखकर उनकी उपयोगिता करना हो-अर्थात् वे विरोधी अनेक दृष्टियोंका समुच्चय होनेसे चाहे जितना जटिल वातोपर बराबर लगे

हो, फिर भी वह मुमुक्षु अर्थात् तटस्थ व्यक्तिके लिए बिना श्रमके समझमे आ सके ऐसा है। इसे समझनेका अधिकार क्लेशशान्ति (मुमुक्षुता) में रहा हुआ है। ३ 'अमृतसार' इस विशेषणसे ऐसा सूचित किया है कि जिसमें मध्यस्थभाव केन्द्र-स्थानमें है और इसीलिए जो मध्यस्थोंके द्वारा ही समझमे आ सकता है ऐसा यह जिनवचन क्लेशके नाशके द्वारा अमरता देनेकी, यदि अधिकारी उपयोग करना जानें तो, शक्ति रखता है। इन तीनों विशेषणोंके कारण ही उसकी महनीयता है।

तृतीय काण्ड समाप्त

ह हुआ
 .वी धर्मोंसे
 उन्हें सम्पूर्ण
 व्यपदेश्य बताकर

त और सिद्धी ग्रन्थमालामें
 (पृ० ३६ से ४२) मेंसे

मुमुक्षु

भद्र (कल)

सू

लिए. विवेचन—

जो ऐसे गीत दिये हैं: १

वे जैन-प्रवचन गीतकी विशेषता

भीरु चित्त की अनेक वि

करना हो अर्थवा है। २. 'स'

वातोपर वरावर लक्ष

प रि शि ष्ट*

(१) भगोंका इतिहास

अनेकान्तवादकी चर्चाके प्रसंगमें यह स्पष्ट हो गया है कि भ० महावीरने परस्पर विरोधी धर्मोंका एक ही धर्ममें स्वीकार किया और इस प्रकार उनकी समन्वयकी भावनामेंसे अनेकान्तवादका जन्म हुआ है । किसी भी विषयमें प्रथम अस्ति-विधिपक्ष होता है, तब कोई दूसरा उस पक्षका नास्ति-निषेध पक्ष लेकर खण्डन करता है । अतएव समन्वेताके सामने जब-तक दोनों विरोधी पक्षोंकी उपस्थिति न हो, तबतक समन्वयका प्रश्न उठता ही नहीं । इस प्रकार अनेकान्तवाद या स्याद्वादके मूलमें सर्वप्रथम अस्ति और नास्ति पक्षका होना आवश्यक है । अतएव स्याद्वादके भगोमें सर्वप्रथम खण्डन दोनों भगोको स्थान मिलना स्वाभाविक ही है । यदि हम भगोंके साहित्यिक इतिहासकी ओर ध्यान दे, तो हमें सर्वप्रथम ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तमें भगोंका कुछ आभास मिलता है । उक्त सूक्तके ऋषिके सामने दो मत थे । कोई जगत्के आदिकारणको सत् कहते थे, तो दूसरे असत् । ऋषिके सामने जब समन्वयकी इस प्रकारकी सामग्री उपस्थित हुई, तब उन्होंने कहा कि वह सत् भी नहीं, असत् भी नहीं । उनका यह निषेधमुख उत्तर भी एक पक्षमें परिणत हो गया । इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने पुराने सिद्ध होते हैं ।

उपनिषदोंमें आत्मा या ब्रह्मको ही परम तत्त्व मानकर आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओंको उसीका प्रपञ्च माननेकी प्रवृत्ति हुई, तब अनेक विरोधोंकी भूमि ब्रह्म या आत्माका वर्तना स्वाभाविक था । इसका परिणाम यह हुआ कि आत्मा, ब्रह्म या ब्रह्मस्वरूप विश्वको ऋषियोंने अनेक विरोधी धर्मोंसे अलङ्कृत किया । पर जब उन विरोधोंके तार्किक समन्वयसे भी उन्हें सम्पूर्ण सन्तोष-लाभ न हुआ, तब उसे वचनागोचर अवक्तव्य अव्यपदेश्य वताकर

* प० श्री वल्लभभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित और सिंधी ग्रन्थमालामें प्रकाशित न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावना (पृ० ३६ से ४२) मेंसे साभार उद्धृत ।

व अनुभवगम्य कहकर उन्होंने वर्णन करना छोड़ दिया। यदि उक्त प्रक्रिया-
को ध्यानमें रखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि “तदेजति तन्नैजति”
(ईशा० ५), “अणोरणीयान् महतो महीयान्” (कठ० १ २. २०, श्वेता०
३ २०), “सयुक्तमेतत् क्षरमक्षर च व्यक्ताव्यक्त भरते विश्वमीश । अनौघ-
श्चात्मा” (श्वेता० १ ८), “सदसद्वरेण्यम्” (मुण्डक० २ २. १) इत्यादि
उपनिषद्वाक्योंमें दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार किसी एक ही धर्ममें अपेक्षा-
भेदसे किया गया है।

उन वाक्योंमें विधि और निषेध दोनों पक्षोंका विविमुखसे समन्वय हुआ
है। ऋग्वेदके ऋषिने दोनों विरोधी पक्षोंको अस्वीकृतकर निषेधमुखसे
तीसरे अनुभयपक्षको उपस्थित किया है, जब कि उपनिषदोंके ऋषियोंने
दोनों विरोधी धर्मोंके स्वीकारके द्वारा उभयपक्षका समन्वयकर उक्त वाक्यों-
में विधिमुखसे चौथे उभयभगका आविष्कार किया।

किन्तु परमतत्त्वको इन धर्मोंका आधार माननेपर जब उन्हें विरोधकी
गन्ध आने लगी, तब फिर अन्तमें उन्होंने दो मार्ग अपनाये। उनमें दूसरे लोगों
द्वारा स्वीकृत धर्मोंका निषेध करना प्रथम मार्ग है। यानी ऋग्वेदके ऋषिकी
तरह अनुभयपक्षका अवलम्बनकर निषेधमुखसे उत्तर देना कि वह न सत्
है न असत् “न सन्न चासत्” (श्वेता० ४ १८)। जब इसी निषेधको
“स एष नेति नेति” (बृहदा० ४ ५ १५) की अन्तिम मर्यादातक पहुँचाया
गया, तब इसीमेंसे फलित हुआ कि वह अवक्तव्य है। यही दूसरा मार्ग है।
“यतो वाचो निवर्तन्ते” (तैत्तिरीय० २ ४), “यद्वाचानम्युदितम्” (केन०
१ ४), “नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्य (कठ० २ ६ १२), “अदृष्टम-
व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त
शिवमद्वैत चतुर्य मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय” (माण्डूक्य० ७) इत्यादि
उपनिषद्वाक्योंमें इसी अवक्तव्यभगकी चर्चा है।

इतनी चर्चासे स्पष्ट है कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं, तब
उसके उत्तरमें तीसरा पक्ष निम्न तीन तरहसे हो सकता है

१ उभय विरोधी पक्षोंको स्वीकार करनेवाला (उभय)।

२ उभय पक्षका निषेध करनेवाला (अनुभय)।

३ अवक्तव्य।

इनमेंसे तीसरा प्रकार, जैसा कि पहले बताया गया, दूसरेका विकसित
रूप ही है। अतएव अनुभय और अवक्तव्यको एक ही भग समझना चाहिए।
अनुभयका तात्पर्य यह है कि वस्तु उभय रूपसे वाच्य नहीं अर्थात् वह सत्-

रूपमे व्याकरणीय नहीं और असद्रूपसे भी व्याकरणीय नहीं। अतएव अनु-
भयका दूसरा पर्याय अवक्तव्य हो जाता है।

इस अवक्तव्यमे और वस्तुकी सर्वथा अवक्तव्यताके पक्षको व्यक्त करनेवाले अवक्तव्यमे जो सूक्ष्म भेद है उसे व्यानमे रखना आवश्यक है। प्रथमको यदि सापेक्षअवक्तव्य कहा जाय, तो दूसरेको निरपेक्ष अवक्तव्य कहा जा सकता है। जब हम किसी वस्तुके दो या अधिक धर्मोंको मनमे रखकर तदर्थ शब्दकी खोज करते हैं, तब प्रत्येक धर्मके वाचक भिन्न-भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं, किन्तु उन शब्दोंके क्रमिक प्रयोगसे विवक्षित सभी धर्मोंका बोध युगपत् नहीं हो पाता। अतएव वस्तुको हम अवक्तव्य कह देते हैं। यह हुई सापेक्ष अवक्तव्यता। दूसरे निरपेक्ष अवक्तव्यसे यह प्रतिपादित किया जाता है कि वस्तुका पारमार्थिक रूप ही ऐसा है जो शब्दका गोचर नहीं, अतएव उसका वर्णन शब्दसे हो ही नहीं सकता।

स्याद्वादके भगोमे जो अवक्तव्य भग है, वह सापेक्ष अवक्तव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वक्तव्यत्व-अवक्तव्यत्व दो विरोधी धर्मोंको लेकर जैनाचार्योंने स्वतंत्र सप्तभगीकी जो योजना की है, वह निरपेक्ष अवक्तव्यको लक्षित करके की गयी है। अतएव अवक्तव्य शब्दका प्रयोग सकुचित और विस्तृत ऐसे दो अर्थमे होता है, ऐसा मानना चाहिए। जब विवि और निषेव उभयरूपसे वस्तुकी अवाच्यता अभिप्रेत हो तब अवक्तव्य सकुचित या सापेक्ष अवक्तव्य है और जब सभी प्रकारोंका निषेव करना हो तब विस्तृत और निरपेक्ष अवक्तव्य अभिप्रेत है।

दार्शनिक इतिहासमे उक्त सापेक्ष अवक्तव्यत्व नया नहीं है। ऋग्वेदके ऋषिने जगत्के आदिकारणको सद्रूप और असद्रूपसे अवाच्य माना है, क्योंकि उनके सामने दो ही पक्ष थे, जब कि माण्डूक्यने चतुर्युपाद आत्माको अन्त-प्रज्ञ (विवि), वहिष्प्रज्ञ (निषेव) और उभयप्रज्ञ (उभय) तीनों रूपसे अवाच्य माना, क्योंकि उनके सामने आत्माके उक्त तीनों प्रकार थे। किन्तु माव्यमिक दर्शनके दूत नागार्जुनने वस्तुको चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहकर अवाच्य माना, क्योंकि उनके सामने विधि, निषेव, उभय और अनुभय ऐसे चार पक्ष थे। इस प्रकार सापेक्ष वक्तव्यता दार्शनिक इतिहासमे प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार निरपेक्ष अवक्तव्यता भी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है। जब हम 'यतो वाचो निर्वर्तते' जैसे वाक्य सुनते हैं तथा जैन आगममे जब 'सर्वे सरा नियदृन्ति' जैसे वाक्य सुनते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ निरपेक्ष अवक्तव्यताका ही प्रतिपादन हुआ है।

इतनी चर्चा यह स्पष्ट है कि अनुभव और सापेक्ष अवक्तव्यताका तात्पर्यार्थ एक माननेपर यही मानना पड़ता है कि जब विधि और निषेध दो विरोधी पक्षोंकी उपस्थिति होती है, तब उसके उत्तरमें तीसरा पक्ष या तो उभय होगा या अवक्तव्य होगा। अतएव ऐसा मानना उचित है कि उपनिषदोंके समयतक ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे

१ सत् (विधि)

२ असत् (निषेध)

३ सदसत् (उभय)

४ अवक्तव्य (अनुभव)

इन्ही चार पक्षोंकी परम्परा बौद्ध त्रिपिटकसे भी सिद्ध होती है। भगवान् बुद्धने जिन प्रश्नोंके विषयमें व्याकरण करना अनुचित समझा है, उन प्रश्नोंको अव्याकृत कहा जाता है। वे अव्याकृत प्रश्न भी यही सिद्ध करते हैं कि भगवान् बुद्धके समयपर्यन्त दार्शनिकोंमें एक ही विषयमें चार विरोधी पक्ष उपस्थित करनेकी शैली प्रचलित थी। इतना ही नहीं, बल्कि उन चारों पक्षोंका रूप भी ठीक वैसा ही है, जैसा कि उपनिषदोंमें पाया जाता है। इससे यह सहज सिद्ध है कि उक्त चारों पक्षोंका रूप तबतक वैसा ही स्थिर हो चुका था, जो कि निम्नलिखित अव्याकृत प्रश्नोंको देखनेसे स्पष्ट होता है

१. होति तथागतो परमरणाति ?

२. न होति तथागतो परमरणाति ?

३. होति च न होति च तथागतो परमरणाति ?

४. नेव होति न नहोति तथागतो परमरणाति ?

इन अव्याकृत प्रश्नोंके अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटकमें ऐसे हैं, जो उक्त चार पक्षोंको ही सिद्ध करते हैं—

१. सयकत दुक्खति ?

२. परकत दुक्खति ?

३. सयकत परकत च दुक्खति ?

४. अमयकार अपरकार दुक्खति ? समुत्तनि० १२ १७

त्रिपिटकगत सजयवेल्लिङ्गुत्तके मतवर्णनको देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि नवमं वे ही चार पक्ष स्थिर थे। मज्ज विक्षेपवादी था। वह निम्नलिखित किन्हीं विषयमें अपना निश्चित मत प्रकट करता न था।^१

१. समुत्तनिकाय XI IV.

२. दीघनिकाय : सोमञ्जफलमुत्त ।

- (१) १ परलोक है ?
 २. परलोक नहीं है ?
 ३ परलोक है और नहीं है ?
 ४ परलोक है ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं ?

- (२) १ औपपातिक है ?
 २ औपपातिक नहीं है ?
 ३ औपपातिक है और नहीं है ?
 ४. औपपातिक न है, न नहीं है ?

- (३) १ मुक्त दुष्कृत कर्मका फल है ?
 २ मुक्त दुष्कृत कर्मका फल नहीं है ?
 ३ मुक्त दुष्कृत कर्मका फल है और नहीं है ?
 ४ मुक्त दुष्कृत कर्मका फल न है, न नहीं है ?

- (४) १ मरणान्तर तथागत है ?
 २ मरणान्तर तथागत नहीं है ?
 ३ मरणान्तर तथागत है और नहीं है ?
 ४ मरणान्तर तथागत न है और न नहीं है ?

जैन आगमोमे भी ऐसे कई पदार्थोंका वर्णन मिलता है, जिनमे विधि-निषेध-उभय और अनुभयके आधारपर चार विकल्प किये गये है। यथा—

- (१) १ आत्मारम्भ
 २ परारम्भ
 ३ तद्रुमयोरम्भ
 ४ अनारम्भ

—भगवती १११७

- (२) १. गुरु
 २ लघु
 ३ गुरु-लघु
 ४ अगुरुलघु

—भगवती १९७४

- (३) १. सत्य
 २ मृपा
 ३ सत्य-मृषा
 ४. असत्यमृपा

स्वायी है अर्थात्
 ही विपक्षको कोई
 १ व'होकर एक ही मत
 - भगवतसे यानपर रहकर वस्तु-

संजयके मतमें और स्याद्वादमें भेद यह है कि स्याद्वादी प्रत्येक भंगका स्पष्ट रूपसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करता है, जब कि संजय मात्र भगजालकी रचना करके उन भगोके विषयमें अपना अज्ञान ही प्रकट करता है। संजयको कोई निश्चय ही नहीं। वह भगजालकी रचना करके अज्ञानवादमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझता है, तब स्याद्वादी भ० महावीर प्रत्येक भगके स्वीकारकी आवश्यकता बताकर विरोधी भगोके स्वीकारके लिए नयवाद अपेक्षावादका समर्थन करते हैं। यह तो सम्भव है कि स्याद्वादके भगोकी योजनामें संजयके भगवादसे भ० महावीरने लाभ उठाया हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि उसमें उन्होंने अपना स्वातन्त्र्य भी बताया है, अर्थात् दोनोंका दर्शन दो विरोधी दिशामें प्रवाहित हुआ है।

ऋग्वेदसे भ० बुद्धपर्यन्त जो विचारवारा प्रवाहित हुई है उसका विश्लेषण किया जाय, तो प्रतीत होता है कि प्रथम एक पक्ष उपस्थित हुआ, जैसे सत् या असत्का। उसके विरोधमें विपक्ष उत्पन्न हुआ असत् या सत्का। तब किसीने इन दो विरोधी भावनाओंको समन्वित करनेकी दृष्टिसे कह दिया कि तत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत्, वह तो अवक्तव्य है। और किसी दूसरेने दो विरोधी पक्षोंको मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। वस्तुतः विचारधाराके उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय ये तीन क्रमिक सोपान हैं। किन्तु समन्वयपर्यन्त आ जानेके बाद फिरसे समन्वयको ही एक पक्ष बनाकर विचारवारा आगे चलती है, जिससे समन्वयका भी एक विपक्ष उपस्थित होता है। और फिर नये पक्ष और विपक्षके समन्वयकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जब वस्तुकी अवक्तव्यतामें सत् और असत्का समन्वय हुआ, तब वह भी एक एकान्त पक्ष बन गया। सत्की गतिविधि ही कुछ ऐसी है, मनुष्यका मन ही कुछ ऐसा है कि उसे एकान्त सह्य नहीं। अतएव वस्तुकी ऐकान्तिक अवक्तव्यताके विरुद्ध भी एक विपक्ष उपस्थित हुआ कि वस्तु ऐकान्तिक अवक्तव्य नहीं, उसका वर्णन भी शक्य है। इसी प्रकार समन्वयवादीने जब वस्तुको सदसत् कहा, तब उसका वह समन्वय भी एक पक्ष बन गया और स्वभावतः उसके विरुद्ध भी विपक्षका उत्पन्न हुआ। अतएव किसीने कहा कि एक ही वस्तु सदसत् है कि तबतक तो है, उसमें विरोध है। जहाँ विरोध होता है, वहाँ संशय लिखित किनी वि है। जिस विषयमें संशय हो, वहाँ उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान १. संयुक्तनिकाय अतएव यह मानना चाहिए कि वस्तुका सम्यग्ज्ञान ही कह सकते, वैसे भी नहीं कह सकते। इस संशय

या अज्ञानवादका तात्पर्य वस्तुकी अज्ञेयता, अनिर्णयता, अवाच्यतामें जान पड़ता है। यदि विरोधी मतोंका समन्वय एकान्तदृष्टिसे किया जाय, तब तो फिर पक्ष-विपक्ष-समन्वयका चक्र अनिवार्य है। इसी चक्रको भेदनेका मार्ग भगवान् महावीरने बताया है। उनके सामने पक्ष-विपक्ष-समन्वय और समन्वयका भी विपक्ष उपस्थित था। यदि वे ऐसा समन्वय करते, जो फिर एक पक्षका रूप ले ले, तब तो पक्ष-विपक्ष-समन्वयके चक्रकी गति नहीं रुकती। इसीसे उन्होंने समन्वयका एक नया मार्ग लिया, जिससे यह समन्वय स्वयं आगे जाकर एक नये पक्षको अवकाश दे न सके।

उनके समन्वयकी विशेषता यह है कि वह समन्वय स्वतंत्र पक्ष न होकर सभी विरोधी पक्षोंका यथायोग्य सम्मेलन है। उन्होंने प्रत्येक पक्षके ब्रालवली की ओर दृष्टि दी है। यदि वे केवल दौर्बल्यकी ओर ध्यान दे करके समन्वय करते, तब सभी पक्षोंका सुमेल होकर एकत्र सम्मेलन न होता, किन्तु ऐसा समन्वय उपस्थित हो जाता, जो किसी एक विपक्षके उत्थानको अवकाश देता। भ० महावीर ऐसे विपक्षका उत्थान नहीं चाहते थे। अतएव उन्होंने प्रत्येक पक्षकी सचाईपर भी ध्यान दिया और सभी पक्षोंको वस्तुके दर्शनमें यथायोग्य स्थान दिया। जितने भी अवाधित विरोधी पक्ष थे, उन सभीको सच बताया; अर्थात् सम्पूर्ण सत्यका दर्शन तो उन सभी विरोधोंके मिलनेसे ही हो सकता है, पारस्परिक निरासके द्वारा नहीं, इस बातकी प्रतीति नयवादके द्वारा करायी। सभी पक्ष, सभी मत पूर्ण सत्यको जाननेके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। किसी एक प्रकारका इतना प्राधान्य नहीं है कि वही सच हो और दूसरा नहीं। सभी पक्ष अपनी-अपनी दृष्टिसे सत्य हैं और इन्हीं सब दृष्टियोंके यथायोग्य सगमसे वस्तुके स्वरूपका भास होता है। यह नयवाद इतना व्यापक है कि इसमें एक ही वस्तुको जाननेके सभी सम्भवित मार्ग पृथक्-पृथक् नयरूपसे स्थान प्राप्त कर लेते हैं। वे तब नय कहलाते हैं, जब कि अपनी-अपनी मर्यादामें रहे, अपने पक्षका स्पष्टीकरण करे और दूसरे पक्षका मार्ग अवरुद्ध न करे। परन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते, तो नय न कहे जाकर दुर्नय बन जाते। इस अवस्थामें विपक्षोंका उत्थान साहजिक है। सारांश यह है कि भगवान् महावीरका समन्वय सर्वव्यापी है अर्थात् सभी पक्षोंका सुमेल करनेवाला है, अतएव उसके विरुद्ध विपक्षको कोई स्थान नहीं रह जाता। इस समन्वयमें पूर्वपक्षोंका लोप होकर एक ही मत नहीं रह जाता, किन्तु पूर्वके सभी मत अपने-अपने स्थानपर रहकर वस्तु-

दर्शनमें धड़ीके भिन्न-भिन्न पुर्जोंकी तरह सहायक होते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त पक्ष-विपक्ष-समन्वयके चक्रमें जो दोष था, उसे दूर करके भगवान् ने समन्वयका यह नया मार्ग लिया, जिससे फल यह हुआ कि उनका समन्वय अन्तिम ही रहा।

इसपरसे हम देख सकते हैं कि उनका स्याद्वाद न तो अज्ञानवाद है और न सशयवाद। अज्ञानवाद तब होता, जब वे सजयकी तरह ऐसा कहते कि वस्तुको मैं न सत् जानता हूँ तो सत् कैसे कहूँ, और न असत् जानता हूँ तो असत् कैसे कहूँ, इत्यादि। भ० महावीर तो स्पष्ट रूपसे यही कहते हैं कि वस्तु सत् है, ऐसा मेरा निर्णय है, वह असत् है, ऐसा भी मेरा निर्णय है। वस्तुको हम उसके द्रव्य-क्षेत्रादिकी दृष्टिसे सत् समझते हैं और पर-द्रव्यादिकी अपेक्षासे उसे हम असत् समझते हैं। इसमें न तो सशयको स्थान है और न अज्ञानको। नयभेदसे जब दोनो विरोधी धर्मोंका स्वीकार है, तब विरोध भी नहीं।

अतएव शंकराचार्य प्रभृति वेदान्तके आचार्य और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य और उनके प्राचीन और आधुनिक व्याख्याकार स्याद्वादमें विरोध, सशय और अज्ञान आदि जिन दोषोंका उद्भावन करते हैं, वे स्याद्वादको लागू नहीं हो सकते, किन्तु सजयके सशयवाद या अज्ञानवादको ही लागू होते हैं। अन्य दार्शनिक स्याद्वादके बारेमें सहानुभूतिपूर्वक सोचते, तो स्याद्वाद और मशयवादको वे एक न समझते और सशयवादके दोषोंको स्याद्वादके मर्त्ये न मढ़ते।

जैनाचार्योंने तो बार-बार इस बातकी धोषणा की है कि स्याद्वाद मशयवाद नहीं और ऐसा कोई दर्शन ही नहीं, जो किसी-न-किसी रूपमें स्याद्वादका स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनोंने स्याद्वादको अपने-अपने ढंगमें स्वीकार तो किया है, किन्तु उसका नाम लेनेपर दोष बताने लग जाते हैं।

प्रतीवना की शब्दसूची

अग ग्रन्थ, जैन ८४	अनेकान्त पत्र ११४
अगवर आचार्य ५८	अन्यद्रव्यकारण ५० पा. टि.
अकलक ४ पा टि, ४२, ५८, ६०,	अन्ययोगव्यवच्छेद १०२
८५, १२४	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका
अकलकग्रन्थत्रय ४७	(वत्तीसी) ६२, १०६
अगत्स्यसिंह ११९	अपरवैराग्य ११०
अणुभाष्य ८८	अपरोक्ष १३
अद्वयवादी १०३ पा टि	अपीरुषेयवाद ४६, ९०
अद्वैत ८५	अपीरुषेयत्व वेदका १०७
अद्वैत-द्वैतवाद ९३	अभयदेव १६ पा टि, २८, ३७, ४३,
अद्वैत मत ४६	४९, ५५, ५६, ६७, ६९-७२, ७५,
अद्वैत—वेदान्तसम्मत ४६	८१, ८५, ।वागीवृत्तिकार ९२
अध्यर्धशतक १०१ पा टि	अभावकारणवाद ९३
अथर्ववेद ८२	अभिधानराजेन्द्र ६९ पा टि
अनक्षरश्रुत १२३	अभिसमयालकार ६४ पा टि
अनशन २४	अभेद गुणगुणीका ४२, —वाद ५४—
अनित्यवर्णवाचकत्व ९१	५६, ९२
अनुमान की अभ्रान्तता १३, १५, ६७	अभ्रान्त १२, १३
पा टि	अभ्रान्तता अनुमानमे ६७ पा टि,
अनुयोगद्वार ११९	प्रत्यक्षमे १४, ६७ पा टि
अनुयोगधर ३०	अमरकोश ३३ पा टि, १०३ पा टि.
अनेकान्त ४१, ८१, ८४, ८५, ९१,	अमरसिंह ७ पा टि
—दृष्टि ४१, ४३, ७३, ७४, ८४	अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका (वत्तीसी)
८६, ८७, ८८, ९१, ९३, ९४,	६२, १०६
१२०; वाद ८१, ८५, ८७ ९३,	अरिहन्त १०६
११२, वाद मे दृष्टान्त का	अर्चद ६८ पा टि.
साद्गुण्य ४५	अर्यपययि ८९
अनेकान्तजयपताका ८ पा टि, ४९, ५७	अर्यविग्रह १२३

अवधि-मन पर्याय १२३

अवन्ती ३२, ३३

अवन्तीमुकुमाल ३१ पा. टि, ३२

अव्यभिचारी १३

अश्वधोष ६५, ६६, १०१ पा. टि,
१०४, १०५

अष्टसहस्री ९ पा. टि, ९५, -टीका
४९, -विवरण ९ पा. टि

असग १४, ६३, ६४, ६८

असत्कार्य ९१

असद्वाद ५१

असर्वज्ञवाद १०७

अस्तित्व-नास्तित्ववाद ९३

अहेतुवाद ९४

आकस्मिकत्ववाद ९३

आगम ५४, ७४; परम्परा ९२,
—वाद ४५, श्वेताम्बर ९८,

११८, सर्वज्ञपुरुषप्रणीत ९०

आचाराग टीका २८, ३१ पा. टि,
३८, ६१

आजीवक ४७

आत्मव्यापनतावाद ९०

आत्मस्वरूपवाद ९३

आत्मा ४१; देहपरिमाण ९०

आत्मानन्दप्रकाश ११५ पा. टि

आनन्दशक्तिरवौ ध्रुव, प्रो ६६ पा. टि,
६७ पा. टि

आप्त ४६, १०६

आप्तिपरीक्षा १०२, १०६, १०७

आप्तिमीमांसा ४२-४७, ०३, १०६

आप्तिनाम ११०

आप्तिरूप १११

आवश्यकचूर्णि ३१

आशातना, गुस्की ३ पा. टि

आश्रमव्यवस्था १०४

आसेवनपरिहार ११२

इण्डियन लॉजिक एण्ड एटोमिज्म १४
पा. टि

इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली ६४
ईत्सिंग ९ पा. टि

इन्द्र १०३

इस्लाम ८६

ईश्वर ४६, -कर्तृत्ववाद ९०;

-कारणवाद ९३, -प्रणीतत्व ४६

ईश्वरकृष्ण ८०, १०९; -कारिका

११० पा. टि

ईसाईधर्म ८६

उज्जयिनी ५, ६, १७, १९, २३, २७,
२८, ३१ पा. टि, ३३

उत्तमार्थ (अनशन) ४

उत्तरमीमांसा ८६

उत्तराध्ययन ७०

उत्पाद ११२

उत्पाद-भग-स्थितिवाद ८७, ८८

उदयसागरसूरि १०० पा. टि.

उपनिषद् ७४, ८२, ८७, ९८, १००,
१०३, १०८, १०९

उपयोग १२३, -काण्ड ८२, -क्रम
१२१, -द्वय १२१, -द्वय योगपद्य

१२१, -अभेद १२१; -अभेदवाद
३, १२, ११७, १२०

उमान्वाति ३९, ४०, ४२, ७९, ८०,
८४, ११७

ऊर्गवेद ४१, १०९

ऋजुसूत्र (नय) ५३, ८५, ८८
 ऋषभदेव २६, २८
 एकगुणकालक ११८
 एकत्व-पृथक्त्ववाद ९३
 एकान्त अक्षणिकत्ववाद ९४
 एकान्त क्षणिकत्ववाद ९४
 एकोपयोगवाद ११
 एवभूत (नय) ८५, ८९
 ॐकारनगर २६
 कडिका ८२
 कयारिकाकुडङ्ग ३२
 कणाद ५१, १०९, ११२, -दर्शन ५१
 कथावली १६, २५, ३३ पा टि, ४८
 कनिष्क १०१
 कपिल १०३, १०६
 कमलशील ६७
 कर्मराज ७२
 कर्मर-गाँव १९, ३१, नगर २७
 कल्पनापोढ १३
 कल्पसूत्र २९ पा टि, -स्थविरावली
 २९
 कल्याणमन्दिर २३, ३४-३८, १०३-
 १०५
 कल्याणविजयजी ६, ३० पा टि,
 १२०, १२३
 कसायपाहुड ५८
 काण्ड ८१, ८२
 कापिलदर्शन ४६, -द्रव्यास्तिकनया-
 वलम्बी ५१
 कामरु देश १९
 कारणता-स्वरूपयोग १२२, -सामग्री-
 पयप्तिफलोपधायक १२२

कारणसमवायवाद ९४
 कारणैकान्तवाद ४५
 कार्यकारण ४१, ४५, -का भेदाभेद-
 वाद ९३
 काल आदि पाँच कारणवाद ९३
 कालतत्र कवि ६ पा टि, ७ पा टि
 कालिदास ७, ३२, ३३, ६५, ६६, १
 १०४, १०५, १०७, १०८ पा टि
 काव्यप्रकाश ७१
 काव्यालकार ६८
 काशीतीर्थ ३३
 कीय १४ पा टि
 कुडग्राम ३१ पा टि
 कुडम्बेश्वर महादेव ३१ पा टि
 कुडगेश्वर २२, २५, २८, ३१, ३२
 पा टि
 कुन्दकुन्द ३९-४२, ५७, १०२, ११९,
 १२०
 कुमारसंभव ६५, १०४ पा टि, १०५
 कुमारिल ११५, ११६
 कुमुदचन्द्र १८, २८, ३४, ३६, ३८, ३९
 केवलज्ञान ९२
 केवलदर्शन ९२
 केवलद्वैत ८६
 केवलिकवलहार ९३
 केवलोपयोग ५३
 क्रमवाद ५४, ५५, ५७, ९२, १२०
 क्रमोपयोगवाद ११
 क्राउजो, शार्लोट, डॉ ६ पा टि, ७
 पा टि, ३१ पा टि
 क्रिया १२२
 क्लट ७

चित्रकूट १९, २७, ३१-
चूर्णि (टीका) २१, ११५
चेतन ८७
जबूकवि १००
जबूविजयजी ९-पा-दि, ४९, १-१५
जयधवल ५६, ५९-पा-दि,
ज रो ए सो १३ पा दि, १४ पा दि,
६४ पा दि, ६७ पा दि, १०९
पा दि.
जल्प १०८, -कथा १०७
जाकुटि श्रावक २५
जातिवाद ९४
जिन ४६, -श्रुतक १००
जिनमल्ल-स्वविरकल्प १२३
जिनदास (गणी) २, ३ पा दि, ४,
५, ५३, ७५ पा दि, ११३
जिनभद्र (गणी क्षमाश्रमुण्ण) ४५-५,
११, १२, ४८, ४९, ५२, ५३, ५५,
७५ पा दि, ८७, ८९, ९२
जिनविजयजी ४५-पा-दि, ११
पा दि
ज्ञानेश्वर ७२
जिनोपदेश ११०
जीतकल्प ४८ पा दि,
जीव ११२, -तत्त्व ८७
जीवकड्य ८२
जुगलकिशोरजी (मुख्तार) १३, १५,
३७, ४८, ११४, ११६, ११८, १२०-
१२४
जेकोवी, प्रो १२, १५, ३६ पा दि,
१०८ पा दि
जेलमेर ११ पा दि

जैन आगम २, ७३, ८२, ८४, ८७,

तद्व्यवहार १६ पां. टि.

तर्क आगमवाद ९४

तर्कवाद ९३

तालरासक २४, २७, २८,

तीर्थंकर ४७, १००, १०३,

त्यागाश्रम १०४

त्रिपदी ४५

त्रिभुवनगिरि ७२

त्रिशिका ६४, ६५, ८७

दर्शन ४१, ९१, १२२, -ज्ञानमीमांसा

८४, -ज्ञानसहवाद ९२

दर्शन अने चिन्तन १०१ पां. टि.

दर्शन और चिन्तन ४७ पां. टि., ५३

पां. टि.

दर्शनप्रभावकशास्त्र ४

दलसुखभाई मालवणिया १४ पां. टि.

४०, ४७, ११६, ११६, ११७

दशगुणकालक ११८

दशवैकालिकसूत्र ११९, -चूर्णि ११९

दशचूर्णि ११९, ११९, ११९

दिगोर्ध्वर ५७, -परम्परा १६, ४३,

५३, ५८-६०, ६९, ७७, ९३

रामप्रदाय १

दिडनाग ७९-१०१ पां. टि., ११९

६६-६८, १०८ पां. टि., ११९

११९, ११९, ११९

दीधनिकाय टीके ११९

दुर्वेकमिश्र द्देट पां. टि., ११९

दृष्टान्त ११२

दृष्टिप्रबोध ११०

दृष्टिवाद ८२

देवनेन्दी, पूज्यपाद १०, ११

११, -द्वान ४१-४३, ७३-७५,

८८-९१, ९९, १००, ११२, -

पुष्परा ८७, ९२

जैन ग्रन्थावली १

जैन धर्म प्रसारक समा ९६ पां. टि.

जैन साहित्य और इतिहास ११ पां. टि.

जैन साहित्य और महाकाल मन्दिर ३१

पां. टि.

जैन साहित्य संशोधक १, २ पां. टि.,

८ पां. टि.

जैनेन्द्रव्याकरण १६

जैमिनीय-मत ४६, -दर्शन ९६ पां. टि.

ज्ञान ४१, ९१, १२२, -मीमांसा

८२, ११२

ज्ञानकाण्ड ८२

ज्ञानविन्दु ५७ पां. टि., ७५ पां. टि.

ज्ञेयमीमांसा ८२

ज्योतिर्विदेभरण ९६ पां. टि.

दूची, प्रो १३, १६, १६, १६ पां. टि.

तत्त्वज्ञान ११५, ११९, ११९

तत्त्वबोधविधायिनी टीका ७७, ११२,

११६ पां. टि., ११६ पां. टि.

तत्त्वसमग्र ११५ पां. टि., ११६, ११६,

९५; -पजिकी ११६, ११६

तत्त्वाद्वैत ९१

तत्त्वार्थ (सूत्र) ११०, ११८ पां. टि., ४७

४२, ८४, ११७ पां. टि., ११२,

-टीका १३ पां. टि.; -भाष्य ११८-

४०, -भाष्यवृत्ति ३५, ३८, ५७,

५८ पां. टि., -श्लोककार्तिक ८९

पां. टि., ९४

देवपाल १९, २६, २७, ३१
 देवपुरुषार्थवाद ९३
 देवर्षि १८
 देवश्री १८
 दैव ४५
 द्रव्य ११२, -पर्याय ११२, -गुणवा
 भेदाभेदवाद ९३, गीमासा ११२
 द्रव्याद्वैत ८५, ९१
 द्रव्यानुयोग ६१ पा टि
 द्रव्यास्तिक ४४, ४६, ५२, ५३, ९०,
 -दृष्टि ८८, -वाद ८९
 द्रव्यार्थिक दृष्टि ९१
 द्वादशारनयचक्र १२, ४८, ११६
 द्वैत ८६
 द्वैताद्वैत ८६
 धर्मजय २४
 धनजयनाममाला ७६
 धनेश्वर ७२
 धरणेन्द्र देव २३
 धर्मकीर्ति १३, १५, ४७, ४९, ६७-
 ६९, १०८ पा टि, ११४-११६,
 १२४
 धर्मस्थान ११०
 धर्मसंग्रहणी ५३ पा टि, ५७
 धर्मोत्तर ४९
 धर्मोत्तरप्रदीप १४ पा टि, ४९
 पा टि, ११५ पा टि, ११६
 धवला ५८, ५९ पा टि, ११८
 ध्रौव्य ११२
 नन्दीनूत २, ९२, -स्वविराजली २९,
 ३०
 नदीचूणि ५ पा टि, ५३ पा टि

नय ४०, ५२, ५८, गीमासा ८२,
 -वाद ५१, ८५, ८६, ८९, ११२,
 -सामान्यविशेषमातृक ४४
 नयकाण्ड (नयकड) ८१, ८९, ११७
 नयचक्र ९, ४९, ६०, ११५ पा टि,
 ११६, -वृत्ति ११४
 नयावतार ५७, ११६
 नवरत्न ६, ७
 नागरीप्रचारिणीपत्रिका ६, ३० पा टि
 नागार्जुन ६३, ६४, ८०, १०९
 पा टि, ११०
 नाथूरामजी प्रेमी ११
 नारसिंहपुराण ३३
 निक्षेप ५२, ५८
 निग्रहस्थान ९५
 नित्यत्व-अनित्यत्ववाद ९३
 नित्यवर्णवाचकत्ववाद ९१
 निम्बार्क ८६, ८७
 नियति -दर्शन १००, -वाद ११०
 निर्वाणकलिका २९ पा टि
 निर्युक्ति ५२, ८४, ११८-१२०;
 -सूत्रस्थानिक ११९
 निशीथसूत्र २; -चूणि २ पा टि,
 ३ पा टि, ५, -भाव्य ४
 निश्चयद्वान्निशिका ११०
 नेमिनाथ २५
 नैगम (नय) ५२, ६०, ८९
 नैयायिक १०६
 न्यायकृमुदचन्द्र ४७, ८०, ९५
 न्यायदर्शन १४, ९४, १००, १०९
 न्यायप्रवेण १४, ६६-६८
 न्यायवत्तीमी १०९

न्यायविन्दु १२ पा टि, ४९, ६८, ६९,

११६

न्यायमजरी ८३

न्यायमुख १४, ६६-६८

न्याय-वैशेषिक ९०

न्यायसूत्र १३, ७४, ९३

न्यायागमानुसारिणी टीका ९, ११४

न्यायावतार १३ पा टि, १४, १५, २३,

३४-३७ पा टि, ४१, ४३, ४४,

४८, ५७, ५८, ६१, ६७, ६८, ९५,

१००, ११५, ११६, ११७ पा टि,

१२३

न्यायावतारवाति ४७, -वृत्ति ४०,

-वृत्तिटिप्पण १४ पा टि

पञ्चवस्तु १, ३७ पा टि, ३८

पञ्चास्तिकाय ४०-४२

पक्ष ११२

पट्टावली ७, २८, -तपागच्छकी १२३

पञ्चवणा ११७, १२०

परदर्शन ४२

परवैराग्य ११०

परसमय ४२, ५१

परार्थ अनुमान ६८, -की चर्चा ९७

परिणामवाद ८७, ८८

परिशिष्टपर्व ३२ पा टि

परीक्षामुख ८९ पा टि

परोक्ष ४१

पर्याय ११२

पर्यायार्थिक -दृष्टि ९१, -नय ९४

पर्यायास्तिक ४४, ५२, ५३, ८८,

-नय ९०

पाइयटीका ६१, ७०

पाणिनीय व्याकरण ८३

पादलिप्त (सूरि) १७, २५, २७, २९,

३०, -कुल ७

पारसी ८६

पाराचिक प्रायश्चित्त २१, २५

पार्श्वनाथ २३, २५, २६, ३२ पा टि,

३३

पार्श्वनाथचरित ८ पा टि, ७१

पिटक ७४, ८३, १०१ पा टि

पिशाचमुक्तेस्वर ३२

पुण्यविजयजी ११८, ११९

पुद्गल ११२

पुरुषतत्त्व १००

पुरुषोत्तम १०३

पुष्पदन्त ५८

पृथग्जन १११

पूज्यपाद (देवनन्दी) ३९, ४२, ४७, ८५

पूर्वधर आचार्य ५८

पूर्वमीमासा ८६, ८७, ११५, -दर्शन

८७

पेठन २४, २७

पैशाची प्राकृत ७८

पीद्गलिक पर्याय ४२

पौष ४५

पौषेयत्ववाद ४६

प्रकरणार्थवाचा १३, १०९ पा टि

प्रकृति-पुरुषवाद ९०

प्रज्ञापना ११७ पा टि

प्रतिष्ठानपुर २४, २८

प्रतीत्यवचन ४५

प्रत्यक्ष १५, -अभ्रान्त १४, में

अभ्रान्तता ६७ पा टि, -प्रमाण

- १३, -के स्वार्थ-परार्थ भेद १४, १५,
६७ पां टि
- प्रद्युम्नसूरि २५, ७०, ७२
- प्रधानाद्वैत ९१
- प्रबन्धचिन्तामणि १७, २६, २८, ३०,
३४
- प्रभाचन्द्र (सूरि) ७-९, २५, ७१,
८५; की प्रशस्ति ७३
- प्रभावकचरित्र ४ पां टि., ७, ९, १०,
२६, २८, २९, ३१, ३४, ३८, ४८,
७१
- प्रमाण ४०, ५८, -चर्चा ९७
- प्रमाणसमुच्चय १२
- प्रमेय ८८
- प्रमेयकमलमार्तण्ड ८०, ९४, ९५
- प्रवचनसार ४०-४२, ५३ पां टि,
४८१, १०२
- प्रवचनसारोद्धार ७०
- प्रार्थीरिचतविधायकशास्त्र २०
- प्रायोपवेशन २४
- वगीय विश्वकोश ३३ पां टि
- वत्तीसी १०, २३, २५, ३३-३७,
४४, ४८, ५६-५८, ६१ पां टि,
६३-६६, ९५-११४, १२०, १२१,
-वाद विषयक ९१, -स्तुत्यात्मक
१००
- वलमित्र ६, २४
- वहिर्यपरीक्षा ८ पां टि
- वाण १००
- वुदोन ४८
- बुद्ध ४६, ८७, १०१, १०३ पां टि,
१०४, १२४
- बुद्धचरित ६५, १०४ पां टि.
- बुद्धिप्रकाश ९ पां टि.
- बृहज्जातक ७ पां टि
- बृहद्विष्णुनिका ८ पां टि
- बौद्ध ९१, -दर्शन ८५, ८७, ९०, ९४,
१००, १०९, ११०, -न्याय १३,
-परम्परा ६८, ८७, ११४;
-मत ११२
- ब्रह्मजालसुप्त ८३
- ब्रह्मपरिषद् १०८
- ब्रह्मा १०३
- ब्रह्माद्वैत ८५, ९१, -वाद ९०
- ब्राह्मणत्वजाति ९४
- भक्तामर १०३-१०५
- भक्तिशतक १००
- भगवती आराधना ११९
- भगवती (सूत्र) ११७, ११८, १२०,
१२१
- भगवद्गीता ८७ पां टि
- भडोच २४, २७, २८
- भद्रबाहु ४८, ११८-१२०
- भद्रेश्वर १६
- भट्टहरि ९-१० पां टि., ११
- भामह ६७, ६८
- भारतीय विद्या ४७ पां टि, १०१
पां टि, १०९ पां टि.; -चिन्तन
- सग्रह ५ पां टि, ११ पां टि; -भक्त
- १०९ पां टि
- भास्वीभो ३८ पां टि
- भूतबलि ५८
- भ्रान्त १२
- भजिभनिकाय १०१ पां टि.

राजगीच्छ ७१
 राजवार्तिक ५८, ६०
 राजस्थान ७२
 रामचन्द्र भारती १००

रामानुज ८६, ८७

रेवताचल २५

रौद्रव्यान ११०

लघीयस्त्रयी ५८

वज्र २९

वज्रसेन २८

वज्रस्वामी २८

वट्टकेर ४८, ११९

वररुचि ७ पा टि

वराहमिहिर ७ पा टि

वर्धमान ११२

वलमी ११

वल्लभ ८६, ८७

वसुवन् ९ पा टि, १५, ६३-६५, ८०

वसुरीत ९ पा टि

वाक्यपदीय ९ पा टि

वाचस्पति मिश्र ७९

वाच्यवाचकसम्बन्ध ९१

वात्स्यायनभाष्य १३

वाद १०८; —गोष्ठी १८, ९९,

—शास्त्र ९७

वादमहार्णव ७२, ७८

वादविधि ६४

वादिदेव (सूरि) ६१, ८५

वादिराजसूरि ८ पा टि

वादामणिपद् १०८

विजिता ६४, ६५, ८०

द्विलादेय ११०

विक्रम (विक्रमादित्य) ५, ६, ७
 पा टि, १८, १९, २६, २८, ३२
 पा टि, —उपाधि २७, —वलमित्र
 ६

विक्रम वॉल्यूम ६ पा टि.

विक्रमस्मृतिग्रन्थ ३१ पा टि.

विक्रमार्कप्रबन्ध २६, ३० पा टि.

विग्रहव्यावर्तनी ६३, १०९ पा टि

विजयराजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ १२
 पा टि

विजयवर्मा १९, २७, ३१

विजयसूरिप्रबन्ध ९

विज्ञान १४ पा टि, —वाद १४ पा टि,
 ३९, ६४, ६५, ६८

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ९०

वितण्डा १०८

विद्याधर २८

विद्यावरणच्छ २८, २९

विद्याश्रमगोपाल २९

विद्याधर आम्नाय ७, १७, २७-३०

विद्यावरवग २५

विद्याधर (विद्याधरी) शाखा २८-३०

विद्यातन्दी ९ पा टि, ५८, ६०, ८५,
 ८९, ९४, ९५, १०२, १०६

विवुखेर भट्टाचार्य ६६, ६७ पा टि

विनायक १०३ पा टि

विमलनाथ ४३

विशाला (उज्जयिनी) १७, २३, २४

विशिष्टाद्वैत ८६

विशेषग्राही ८८

विशेषणवती ११, ४९, ५३-५५

विशेष बोध ९१

विशेषावश्यकभाष्य ५ पा. टि, ११,	शब्दाद्वैत ८५, ८६, ९१
४९-५३, ५५, ५६, ८०	शाकरमत ८६
वीतरागदेव ४०	शाकटायन ४८
वीर निर्वाणसवत् और जैन काल- गणना ६ पा टि	शान्तरक्षित ८ पा टि, ९०
वीरसेन ५८	शान्तिसूरि, वादिवेताल ६१, ७०, ७१
वीरस्तुति २३, २४	शासनदेवी १९, २०
वृद्धवादी ४ पा टि, ७, १७, १९, २५- ३०, ३४	शास्त्र, प्रायश्चित्तविधायक २०
वृद्धाचार्य ५६	शास्त्रवात्सिमुन्यय ५० पा टि., ५७
वेद ७४	शिव १०३, -लिग २३, ३३
वेद वत्तीसी (वेदवादद्वात्रिशिका)	शिवस्वामी ४ पा टि
१००, १०९	शिवाय ११९
वैदिकदर्शन ९७, ९८	शीलाक ६१
वैद्य पी एल, प्रो १२, १३ पा टि	शुक्लध्यान ११०
वैभाषिक ९१	शब्दाद्वैत ८६
वैशेषिक ४२, ९१, -दर्शन १४, ३९, ९४, १००, १०९, -नैयायिक ४६	शून्यतावादी ९ पा टि, ६३, ६४
वैशेषिक वत्तीसी १०९	शून्यत्वमावना ६३, ६४
वैशेषिकसूत्र ७४	शून्यवाद ३९, ६४, ९०, १०९
व्यजनपर्याय ८९, ९१, ११२	शौरसेनी प्राकृत ७८
व्यजनावग्रह १२३	श्रद्धा और ज्ञान का ऐक्य ४१
व्यय ११२	श्रद्धावाद ९४
व्यवहारनय ८८, ८९	श्रमणधर्म १०४
व्याकरण महामाष्य ८३	श्रमण भगवान् महावीर १२०, १२३
शकरस्वामी १५, ६६, ६७	श्रवणबेलगोला ८ पा टि
शकराचार्य ७९	श्रीभाष्य ८८
शकु ७ पा टि	श्रुतकेवली १
शतपथब्राह्मण ८२	श्रुतज्ञान ४
शब्द-अर्थ सम्बन्ध ९०	श्रुतसेन ७ पा टि
शब्दनित्यत्ववाद ९०	श्रुति ४६, ९८
शब्दब्रह्मवाद ९१	श्लोकवार्तिक ६०
	द्वेताम्बर परम्परा (सम्प्रदाय) १, १०, ३७, ४३, ६९, ७७, ९३, ११७, १२०

सिंहगणी (क्षमाश्चमः) १, ५७, ८५,	सूत्रकृतागटीका ६१
११४-११६, ता २८ =	सूयगङ्गासुत ८२
सिंहनाद १०१ पा टि	सूर्य १०३
सिंहनादसुत ८३, १०१ पा टि	सूर्यशतक १००
सिंहसूर ३८	सौफिस्ट १०८
सिद्धिषि १०० पा टि	सोमनाथ ३३
सिद्धश्री २४	सौगतदर्शन ५१
सिद्धसेन (दिवावर) १-८, १०-१९,	सौत्रान्तिक १४, १५, ६८, ९१
२१-३२, ३४-४३, ४७, ५२, ५३,	सौन्दरनन्द ६५
५५-५८, ६०-६८, ७२, ७५, ७९,	सौराष्ट्र ११
८०, ८५, ८८, ८९, ९१-९६, ९८,	स्कन्द १०८ पा टि
१०१-१०८, १११, ११४, ११७,	स्कन्दपुराण ३३
११८, १२०, १२४	स्कन्दिल (स्कन्दिलाचार्य) ७, १७,
सिद्धसेनगणी ३८	२६-३०
सिद्धसेनाक ४८	स्त्रीमुक्ति ९५
सिद्धसेनीय प्रशस्ति ७३	स्थानाग-समवायाग १२०
सिद्धहेमव्याकरण ४९	स्थानागसूत्र ११७
सिद्धिविनिश्चय ४, ९५	स्फोटवाद ९१
सित्वां लेवी ६४ पा टि	स्याद्वादपरीक्षा ८ पा टि
सुकरात १०८	स्याद्वादमजरी १६ पा टि, ६२
सुखामाववाद मुक्तावस्था मे ९०	पा टि, ७८
सुगत १०३, १०६	स्याद्वादरत्नाकर ६१
सुत ८२, ८३	स्वत प्रामाण्यवाद ९०
सुतनिपात ८३	स्वदर्शन ४२
सुतपिटक ८३	स्वयम्भू ४०, ४४, १०१-१०३;
सुधर्मास्वामी २१	-स्तोत्र ४३-४५, ६२, १००, १०१
सुमति ७५ पा टि, -दिगम्बराचार्य	स्वरूपयोग्यकारणता १०२
८ पा टि	स्वसमय ५१
सुवर्णसिद्धयोग १९	स्वामी समन्तभद्र १२ पा टि, ३७
सुहृत्ती २६, २७, २९, ३०	स्वार्थ-परार्थभेद-प्रत्यक्ष के ६७ पा टि
सूक्त ८३	हरिभद्र (याकिनीसूनु) १, ८, ३७, ३८,
सूत्र ८३, -स्पर्शिक निर्युक्ति ११९	४९, ५३, ५७, ७५ पा टि, ८५, ९२

हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक ६	हेत्वाभास ९४, ११२
पा टि, १२ पा टि, ६६ पा टि,	हेमचन्द्र ३२, ३७ पा टि, ४८, ४९,
हीरालालजी, डॉ० १५	६१, ६२ पा टि, ६५, ८२, ८५,
हेतु ११२	१०२, १०६
हेतुविन्दु ६८	हेमचन्द्र मलवारी ५६
हेतुवाद ४५, ९४	ह्युएनसंग ३३

संगतिप्रकरण की शब्दसूची

अवयवगुण्याय १०२	अपरसामान्य ५८
अकर्तृत्ववाद ९६	अपरिणामी १२
अकेवलपर्याय ५६, ५७	अपरिवर्तनशील १३
अकेवली ५६	अपर्यवसित ५३, ५४
अक्षय ४२	अपर्याय ७३
अचक्षुर्दर्शन ४६-४८	अपेक्षाविशेष २२
अजीव ३, -तत्त्व ८९	अपोह ६२ पा टि
अणु ८३	अप्रमाण ८९
अदृष्टवादी ९५	अप्राप्यकारी ४७
अद्वैतवाद १५	अभयदेवसूरि २४ पा टि, ४९
अनन्त ४२	अभव्य ८६, ८८
अनभिलाष्य २३ पा टि., -भेद १७	अभोवात्मक ७७
अनभिसन्धिज वीर्य ८०	अभिनिबोधज्ञान ५१
अनात्मवाद ९६	अभिलाष्य २३ पा टि; -पर्याय १८
अनावरण ४२	अभिसन्धिज वीर्य ८०
अनित्य ९१	अभेद ३, ५, १७, ५९, ६८, ६९;
अनित्यत्ववादी ९१	-अपारमार्थिक ५९, -केवलज्ञान-
अनिर्वाणवाद ९६	केवलदर्शनका ४२, -गामी
अनपायवाद ९६	दृष्टि २, -गुण-गुणीका ७३, -गुण-
अनुमान ४८, ५६, ८७, ८८, ९७,	पर्यायिका ६३, ६४, -ज्ञान-दर्शनका
-ज्ञान ४७	४५, -तीन निक्षेपोमे ५, -वाद
अनुसन्धान १३	७३, -वादी साख्य ९२, -सामान्य-
अनेकान्त १०, ७३, ७४, ९४, -की	विशेषका ५८, ६८, १५शी दृष्टि
व्यापकता ७३, -ज्ञ १६, -तत्त्व	३, -स्पर्शी देशना २५
५२, -दृष्टि ३२, ७३-७७, ८७,	अभोक्तृत्ववाद ९६
९२, ९४, ९६-१००, १०२,	अमृतचन्द्र ८२ पा टि
-वाद २, -वादी ६८-६९,	अनृतसार १०३
-शास्त्र २१	अमूर्त ७२

अरिहन्त १, ६४

अर्थ ६५, -नियत १७, -पर्याय १७,
१८, २०, २३, २४, २५, २६, २७, २८,
६२ पा टि, -भ्रान्ति ५ पा टि,
-विभाग, शब्द के ५ पा टि, -
सामान्य ५

अलकारशास्त्र ५ पा टि

अवक्तव्य २१-२४

अवग्रह ४५, ४६, ४९

अवधि ४२, -केवली ४३, -ज्ञान
५०; -दर्शन ५०

अवयव १५, ८४, ८५

अवयवी ७८, -कार्यबोध १५, -द्रव्य
८४, -रूप कार्य १५

अवस्तु ८

अविभाज्य विशेष ६

असत्वाद ९२, ९३, ९७

असत्त्व ४३

अस्तित्व २३

अहिंसा ७५

अहेतुवाद ८६, ८७

अहोश ८०

आकुर्वन्काल ८०

आगम १, ३८, ६५, ८६, ८७, -की

भक्ति ९९, -जैन २३ पा टि, ६९,

-वादी ८८, ८९; -विरोध ४३,

-श्रद्धा और बुद्धिप्रधान ८६

आगमिक क्रमवादी ३५

आत्मप्रदेश ८६

आत्मशुद्धि १०१

आत्मा १३, ३०, ४९, ५४, ६६, ८०,

८६, ९१, ९५, ९६, १०२, -

अनित्य, पर्यायार्थिक दृष्टि से २१;

-अवक्तव्य २१, -एक २९, -एक-

-अनेक ७५, -की शाश्वतता २२,

-के बारेमें छ पक्ष ९५, -नित्य,

द्रव्यार्थिक दृष्टि से २१, -विशेष

रूप ३३, -विशेषात्मक ३४,

रासारी ६२, -ससारी और मुक्त

७९, -सर्जक अवस्थारूप ६२,

राज्यमान अवस्थारूप ६२,

सामान्यरूप ३३

आध्यात्मिक विकास ९६

आप्तवचन ५९

आरम्भवाद ८४

आरम्भवादी १५

आवरणक्षय ३७, ५३

आशातना, तीर्थकरकी ३१, ३५

इन्द्रिय ४६, ५०, ६३, ७०

ईश्वर ७८, ९५, -का कर्तृत्व ८०,

-कारणवादी ८०, -वादी दर्शन ७८

ईश्वरप्राग्भारयुक्त्वो ३६

ईहा ४५

उच्छेदवाद १२

उत्पाद १०, ५१, ५४, ७८, ७९, ८१,

८२, ८४, ८५, -ऐकत्विक ७९, -

और विनाश सामुदायिक ७८, -पर्याय

९, -प्रयत्नजन्य ७७, -विनाश ८०,

-विनाश पर्यायोका ७९, -वैयक्तिक

७७, ७८, -व्यय-धौव्य २७,

सामुदायिक ७८; -स्थिति-भग ९

पा टि, -स्वाभाविक ७८

उदाहरण -हेतुका साध्यके साथ सबध

दरसना ५५

उपनिषद् २३ पा टि-

उपयोग ३९, ४१, ४९, -निरावरण
३५; -भेद ३९, ४०, -व्यापार
४५, सावरण ३५

उपयोगाभेद ४३

उभयनयावलम्बी ६

उभयनयसाधारण ७

उभयवाद ११, १२

उभास्वाति ७२

उलूकदर्शन ८९

उर्ध्वतासामान्य ६०

एकाकारबुद्धि २०

एकान्त १५, -अभेद, द्रव्य और गुणका
६७, -अभेदवादी ७०; -दृष्टि २१,
९२, ९७, ९८; -नित्य १३, -वाद
१, ७३, ९७, ९८

एकोपयोग ४१, -वाद ४०, ५०,
-वादी ३८

एवम्भूत नय ४

ऐकत्विक ७८, ७९

औपशमिक ५५, -भाव ३३, ३४

औलूक्य ९२

कणाद ४३; -दर्शन ८९

कथा ५९-६१, ७९

कर्म ३०, ८८, ९५, -उदय ८६,
-का बन्ध १२, १३, -पुद्गल २८,
८६, -पूर्वसचित ९५, -प्रकृति
५२; -बन्ध ८६

कषाय १२; -विकार १३

कापिलदर्शन ८९

कारण १५, ८४, ९२, ९३, -वाद
९४

कार्य १५, ९२, ९३, -असत् १५;
-कथञ्चित् सत् या असत् १६,
-कारण १५, -कारणका भेदाभेद
९२, -कारणभाव १५, ६२, -या
कारण की कल्पना १६, -द्रव्य ८४,
८५, -सत् १५

काल ९८, -भेद, उत्पाद आदि का
८०, -वादी ९४

किञ्चिज्ज्ञत्व ४१

किञ्चिद्दृशित्व ४१

कुण्डल ५९-६२, ७९

कूटस्थता १३

केवल ५४, -क्षायिक आदि भाववाला
५५, -पर्याय ५६, ५७, रादि-
अनन्त ३७, ५५, -दशा ३९,
-बोध ५४, -भाव ५३, -लब्धि
४५

केवलज्ञान ३४, ३७, ३८, ४०, ४२-
४५, ५२, ५६, -के प्रकार ५७,
-पर्याय ५४, -सादि-अनन्त ५५

केवलज्ञानावरण ३७, ३८

केवलदर्शन ३७, ४०-४२, ४४, ४५,
५२, ५४

केवली ३८, ३९, ४३, ४५, ५०, ५१,
५४, ५५, ५७, -अदृष्ट एव अज्ञात-
भाषी ४०

केवलोपयोग ३४, ४२, ४४, ४५, ५०
केवल्य अवस्था ३५

क्रमवाद ३५, ३८, ३७-४१, -वादी
३५, ३८, ४१

क्रिया एक २९

क्लेशशान्ति १०३

क्षणनष्ट १२
 क्षणभगुर १३
 क्षणिकात्मवाद ९६
 क्षयोपशम ४२
 क्षयिक भाव ३४
 क्षीण-आवरण ३७, ३९
 क्षेत्र ९८
 खड ६
 गणितशास्त्र ६५
 गन्धगुण ६५, ६६
 गुण १७, ६३-६८, ७१, ८३,
 -आधारशून्य ७२, -का अर्थ ६४,
 -जाति ६७, -निर्गुण-निष्क्रिय ६३,
 -पर्याय ८२ पा टि, ८३, -मूर्त
 या अमूर्त ७२
 गुणास्तिक ६४, ६५
 गुरु १०१
 गौतम ६४, ६५
 घट ५८
 घ्राणदर्शन ४६
 घ्राणविज्ञान ४६
 चक्षुरिन्द्रिय ४६
 चक्षुर्दर्शन ४६, ४७
 चतुर्गानी ४१
 चिन्तनात्मक बोध ४७
 चेतन १७, ७४, ८०
 चेतना ३३, -निरावरण ३७,
 -व्यापार ३४
 चैतन्य ३४, ७५, ७९
 छद्मन्य ४१, ४९
 छद्मस्थिक ३५, -उपयोग ३५
 छ निकाय ७४

जगत् -भेदाभेद उभयरूप १७; -
 सामान्य-विशेषरूप ५०
 जड ७४
 जिन १, -वचन १०२, -उपदेश ७३
 जीव ३, १८, २८, २९, ५४, ५५, ७६,
 ८०, ८२ पा टि, ८८, -अनादि-
 निधन ५५, -एव पुद्गलका भेदाभेद
 २७, -और पुद्गलकी ओतप्रोतता
 २९, -का स्वरूप २६, -केवलरूप
 ५५; -घात ७५, -तत्त्व २७,
 ७५, -देवदेहधारी ५६; -देवायुष्क
 ५५, -द्रव्यरूप ५५, -द्रव्य ससारी
 ८६, -पर्याय ५७, -पारिणामिक
 भाववाला ५५, -पुरुषदेहधारी ५६,
 -पुरुषायुष्क ५५, -भव्य ५६,
 रासारी २८, ८५
 जैनदर्शन ५९, ७८, ८४, ९१, ९२, १०२
 जैन प्रवचन ८९
 जैन सिद्धान्त १०१
 जैनाचार्य ६३ पा टि
 जैनेतरदर्शन ९१
 ज्ञान १०, ३३-३७, ४१, ४३-४८,
 ५०, ५१, ५५, ५८, १०२, -काल
 ३४; -दर्शनका अभेद ४५, -दर्शन-
 पर्याय ५४, -विशेषग्रहण ३३, ३५,
 -साकार ३९, -साकारग्राही ४१
 ज्ञानावरण ३८
 तत्त्व २३ पा टि, -आन्तरिक ३०,
 -चिन्तन १०१, -प्ररूपणा ९८;
 -बाह्य ३०
 तत्त्वार्थमाप्यवृत्ति ७९ पा टि, ८०
 पा टि

तत्त्वार्थसूत्र ९ पा टि, ३४ पा टि, ७२
तिर्यक्सामान्य ६०

तीर्थकार २, ३१, ३५

त्रिपदी ९ पा टि

त्र्यणुक ८३

दण्ड-एक २९

दर्शन ३३-३७, ४१, ४३-५२,

-अनाकार ३९, -अनाकारग्राही

४१, -अनेकान्तर्धि ५२, -और

ज्ञान का समयभेद ३४, -काल ३४,

-के चार भेद ४४, -निरावरण

उपयोग ५२, -श्रद्धा ५१, ५२,

सामान्यग्रहण ३३, ३५

दर्शनान्तर ५१

दर्शनावरण ३८

दर्शनोपयोग ४७

दलमुखभाई मालवणिया २३ पा टि

दुख १३

दुर्नय ११

दृष्टान्त १४, १५, -की सार्थकता

१४, -पुरुषका २७, -हेतुकी

साध्य के साथ व्याप्ति ५६

देश ९८

देशना-अभेदस्पर्शी २५, -भेदस्पर्शी
२५

देह ५४, -धर्म, बाल्य यौवन आदि २८

द्रव्य ५, ९, १५, १७, १८, ५५-५९,

६३-६५, ६७-७१, ७३, ७५-७७,

८०-८५, ९८, -अस्ति-अवक्तव्य-

रूप २१, -अस्तित्वास्तिरूप २१,

-कथंचित् अद्वैत या द्वैत १६, -गत

उत्पादनाश ७७, -गुणाश्रय और

क्रियाश्रय ६३; -जाति ६७; -जीव

५ पा टि, -पर्याय ८२, ८३; -

पर्यायका अभेद ५६, -राजा ५,

-वाद ३२

द्रव्यगुणपर्यायिनो रास २४

द्रव्याद्वैतवाद ६९

द्रव्यार्थिक (नय) २, ३, १०, २४,

२५, -दृष्टि २२

द्रव्यास्तिक (नय) २, ३, ५-९, १२,

१३, १७, ३०, ३१, ३३, ६४, ६५,

९१, ९७, -अशुद्ध परिमित ३;

-दृष्टि ३३, -शुद्ध अपरिमित ३;

-सर्वथा भेदरहित १६

द्रव्योत्पाद ८३, सायोगजन्य ८५

द्रव्योपयोग ७

द्वादशांग १

द्वचणुक ८३, ८४

द्वेष ५७

धर्म-धर्मी अभिन्न ७२

धर्मास्तिकाय ८९

ध्रुव ५१, ५४, -अश ९, -तत्त्व २५

नय २, ४, ६-८, १०, ११, १३, १४,

१६, २५, ३०, ५९, ६४, -उभय-

ग्राही ११, -का दुर्नयत्व ११, -का

भेद ८, -का विभाग ५, -का

विषय-विवेक ८, -की विषयमर्यादा

१६, -ज्ञान १०, -परस्पर सापेक्ष

१०, १२, १३, -मिव्या १६, -

मिथ्यादृष्टि ९, १०, १२, गौ

यथार्थता १०, -योजना, वचन-

प्रकारोमे ६, -विरोधी ११, -सत्य

१६, सापेक्ष ११

नयवाद् १४, १५, २३ पा टि, ५१,
८९, ९०, १००, -अपरिशुद्ध ९०,
-का सम्यग्दृष्टिपता १४, -परिशुद्ध
८९, ९०

नागार्जुन ९ पा टि

नाम ५, -राजा ५

नाश ८५, -पर्याय ९; -वादी १२

नास्तित्व २३

निक्षेप ४-६

नित्यवाद १२

नियतिवादी ९४

निराकार ग्रहण ४०

निरावरण ३५, -चेतना ३५

निर्युक्ति ५ पा टि

निर्वाण ९५

निर्विकल्प २०, २४, ४५, -बुद्धि १९

निर्विकल्पक वचनमार्ग २३

निश्चयदृष्टि १०१

नैगम ३

नैगोदिक जीव ८८

नोइन्द्रिय ४८

न्यायदर्शने ७३, ७८

न्यायसूत्र १४ पा टि

न्यायावतारवार्तिकवृत्ति २३ पा टि

पचज्ञानी ४१

पचास्तिकाय ९ पा टि

पक्ष १५

पटि-वसमुप्याद् ५९ पा टि

पङ्कचवयण ५९ पा टि

पदार्थ ९, अनेकवर्मात्मक ९०,

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ५३

परमाणु १८, ४७, ५०, ६६, ७१, ७२,

८०, ८२ पा टि, ८३, ८४, ८६, ९१;

-पुद्गल ३६

परपर्याय २१, ६०, ६१

परसिद्धान्त १०१

परिणामवाद १५, ८४

परिमितता ६

परीक्षक १४

परोक्ष ५१

पर्याय ५, ६, २३, २४, ५५-५७,

५९-६१, ६४-६८, ७१, ७९, ८१,

९८; -का अर्थ ६४, -चेतनाश्रित

८५, -जीव के २८, -द्रव्य के ५८;

१४, ६५, -पुद्गलाश्रित ८५,

-पूर्ववर्ती ८५, -बुद्धि ७, -वाद

३२, -वैभाविक ५७, राजातीय

६६; -सजातीय विजातीय ८३,

राहभावी ८५

पर्यायार्थिक १०, -दृष्टि २२, १४ २,

२४, २५

पर्यायास्तिक २, ४, ८, ९, १२, १३, १७,

३०, ३३, ६४, ६५, ९१, ९७;

-नय ५-७; १४, क्षणिकवादी

३०, -विभाग या भेदका प्रारम्भ

१६

पुद्गल ३०, ४२, ७७-७९, ८२ पा

टि, ८६, -द्रव्य २९

पुरुष ६९, में भेदाभेद २६; -

वादी ९५

पृथ्वी ५८, -काय ७५

प्रज्ञापना (सूत्र) ३६, ३८

प्रतीत्यवचन ५९, ६०

प्रत्यक्ष ५०, ८७

प्रमाण १०, ४३, ६३, ९०, -पद्धति ७४	मति ४२, -उपयोग ४५, -ज्ञान
प्रमेय ७४, ७५, ८३	३७, ३८, ४५, ४७, ४९
प्ररूपणा -अनेकान्तदृष्टिप्रधान ९८	मध्यमकारिका ९ पा टि
प्रवचनसार ८२ पा. टि	मध्यस्थभाव १०३
प्रवृत्ति १२	मनोद्रव्य ४८
प्रसरणकाल ८०	मनोवर्गणा ४४, ४९, ८६
प्रायोगिक ७९, ८०	मनपर्याय ३४, ४१, ४९, -उपयोग
बन्ध १२	४४, -का विषय ४८, -केवली
बहुश्रुत १०१	४३, -ज्ञान ३५, ४३, ४८, -दर्शन
बुद्धि ८७, ८८	४९ पा टि
बौद्ध ८४, ९२, ९३, -अनित्यत्ववादी	महासामान्य ६
९१, -ग्रन्थ ५ पा टि, ९ पा टि;	मिथ्या ११, -ज्ञान ५१, ९५;
-दर्शन ५९, -परम्परा ५९ पा टि	-दर्शन १०२; -दृष्टि १३
भग, तीन मुख्य २२, -का स्वरूप २१	मिथ्यात्व ९४
भगवतीसूत्र ३६	मुमुक्षु १०३
भयप्राचुर्य १२	मूर्त ७१
भव १, -पर्याय ५४	मूलनय ११
भवस्य केवली ५२	मोक्ष १२, १३, ९५, -की इच्छा
भव्य ८६, ८८, -जीव ५६	१३, सुखकी अमिलाषा १२
भाव ५, ९८, -निर्क्षेप ५, ६;	मोह ५७
-राजा ५	यथार्थ ज्ञान ९५
भावात्मकता ७७	यशोविजयजी २४ पा टि, ४५ पा टि,
भेद ३, ५, १७, १८, २३, ५९, ९८;	४९ पा टि
-कालकृत ४; -गुण-गुणीका ७३;	युक्तिवाद ८८
-गामी दृष्टि २; -दृष्टि ७२, -द्रव्य	योग रपन्दमान आत्मवीर्य २९
और गुणका ६३, ६४, ६८, -वाद	रत्नप्रभापृथ्वी ३६
७३, -वादी ७१, ७२; -व्यक्त एव	रत्नावली १३-१५
अव्यक्तका ३९, रपशी देशना २५	रसगुण ६६
भेदक अक्ष १८	राग ५७, -द्वेष १
भेदाभेद -कार्यकारणका ९२, -जीव	लक्षण ९, -की अपूर्णता ७२, -द्रव्य-
एव पुद्गल में २७, -द्रव्यगुणका	गुणका ७१
७३; -पुरुषमें २६	लब्धि ४२

लोकव्यवहार ३	व्यंजननियत १७
लीकिक १४	व्यंजनपर्याय १७-२०, २३, २४, ६०-६२, -भिन्न-अभिन्न २१; - मे
वक्तव्य २४	एकान्त अभिन्नता १९
वचनवर्गणा ८६	व्यय १०
वचनव्यवहार ७	व्यवहार ३, ५८, ५९, -नय ४
वनस्पति साधारण ८८	व्यवहारज्ञ १४
वर्णगुण ६५	व्याप्तिज्ञान १५
वर्णपर्याय ६५	शब्द २३ पा टि, १५४, -निरपेक्ष
वस्तुस्वरूप सामान्य-विशेष उभ- यात्मक ११	१७, -प्रतिपाद्यपर्याय १८, सापेक्ष
वादगोष्ठी ९८	१७
विकल्पज्ञान ७	शाक्य ९२
विनाश ५१, ७८, ७९, ८१, ८२; -ऐकत्विक ७९	शाश्वतवादी १२
विभाग ६	शास्त्र २, -चिन्तन १०१; -ज्ञ १४, -प्ररूपणाका अधिकारी ९९
विशुद्धजातीय नय ७, ८	श्रद्धा ५१, ८७-८९
विशेष ६, ८, १०, २३, ५८-६०, ७०, ९७, -अन्तिम ७, -अविभाज्य	श्रुतकेवली ४३
६, -उपान्त्य ७, -की व्यजकता	श्रुतज्ञान ३८, ४२, ४९, ५०
७१, -ग्रहण ३५, -ग्राहिता ५७, -पर्याय २७, ५३; -प्रस्तार २, ६; -वचनराशि २; -सज्ञा १४	श्रुतधर १
विशेषावश्यकमाष्य ३ पा टि, १३ पा टि, १६ पा टि, २१ पा टि	श्रुतप्रमाण ८९, ९०
वैडूर्य १३	श्रोत्रदर्शन ४६
वैदिक ग्रन्थ ५ पा टि	श्रोत्रविज्ञान ४६
वैधर्म्य ९७	श्वेताश्वतर उपनिषद् ९४
वैभाविक पर्याय ५७	सग्रह २, ३, ११, -अपरिमित ३, - दृष्टि ५९, १५३, ४, -प्रस्तार २, ६
वैशेषिक १५, ६३, ८०, ८३, ८४, ९१-९३, -दर्शन ७३	सयोग ९८
वैत्रसिक ७७-८०	सविग्नसुखाधिगम्य १०२
व्रत-नियम १०१	ससार १२, १३
	सस्कृतपरीक्षा ९ पा टि
	सहनन ५२, ५४
	सत् १०, १७, ५३, ५८, ८२, -का
	लक्षण ९, ७२, ८१, -उत्पत्ति से

पहले कारणमें विद्यमान कार्य ९३,	मात्स्य १५, ८४, ९०, ९३; -अनेद-
-उत्पाद-व्यय-घ्नौव्ययुक्त ७२; -	वादी ९२, -दर्शन ७३, ९१;
सामान्य-विशेष उभयात्मक १०	-निन्यत्ववादी ९१
सत्कार्यवाद ९३	नाकार उपयोग ४५, ५२
सत्ता ३, सर्वव्यापक ७, -सामान्य ६	साकार ग्रहण ४०
सदृशपरिणामप्रवाह १७	सात मग २२, २३
सदृशपर्यायप्रवाह २४, -पुरुषरूप १८	मादि-अपर्यवसित ५२, ५३
सद्ग्राहीनय ११	साधर्म्य ९७
सद्भावपर्याय २१	साध्य १५, ६८, ९७
सद्वाद ९२, ९३	सापेक्ष प्रतिपादन १६
सन्मति-टीका ९४, मटीक २१	सामान्य २, ६, ८, १०, ५८, ५९,
पा टि	६२ पा टि, ७०, ९७, -उपयोग
सपर्यवमित ५४	७, -ग्रहण ३५; -ग्राहिता ५०;
सप्तमगी २१, २३ पा टि	-तत्त्व ४, ५९, -बुद्धि ७, -योग
समभित्कनय ४	७, -मर्यासि ६, -महाव्यापक ६,
समुदायवाद ७७	-न्य विधेय ६, -यचन-नाशि २,
समूहवाद ८४	-विशेष ११, ९२, -विशेष उभयमप
सम्बन्धविशेष ६८	४१, -विशेष उभयात्मक ३३;
सम्बन्धसामान्य ६८	-विशेष-हित ५८; -व्यपार ५९
सम्बन्धचारित्र्य ८६	सामान्यारम्भक ७०
सम्यग्ज्ञान ५१, ५२, ८६	नानुशङ्कित विनाश ७९

स्तुतिमंगल १

स्थापना ५, -राजा ५

स्थिति १०, १२, ८१, ८२, ८५

स्याद्वाद २३ पा. टि.

स्वपर्याय २१, ६१

स्वभाववादी ९४

स्वलक्षण ६२ पा. टि.

स्वसमय २४

स्वसिद्धान्त ५१, १०१

हार ६०

हिता ७५

हेतु ४८, ९७, ९८; -वाद ८६, ८७

